SOCIO - ECONOMIC DATA AS DEPICTED IN THE PRABANDHACHINTAMANI
(IN HINDI)
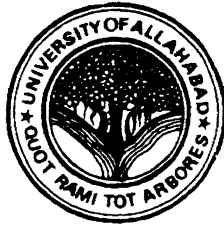
A THESIS
SUBMITTED FOR THE DEGREE OF
DOCTOR OF PHILOSOPHY
OF THE
UNIVERSITY OF ALLAHABAD

BY
Smt. Renu Srivastava

Under the supervision of
Sri O.P. Srivastava

DEPARTMENT OF ANCIENT
HISTORY, CULTURE AND ARCHAEOLOGY,
UNIVERSITY OF ALLAHABAD
ALLAHABAD
1998

विषय-अनुक्रमणिका

प्रस्तावना

सोशियो-इकोनोमिक डाटा ऐज डिपिक्टेड इन प्रबन्धचिन्तामणि नामक शीर्षक विभाग द्वारा शोध हेतु निर्धारित किया गया। इस शोध कार्य के दौरान हम इस नतीजे पर पहुचे कि उक्त ग्रन्थ मे एक सम्यक शोध-लखन हेतु पर्याप्त शोध सामग्री उपलब्ध नही होती । अत अपने शोध निर्देशक श्री ओ० पी० श्रीवास्तव जी के परामर्श अनुसार इस शोध-आघृत ग्रन्थ को प्रमुख आधार बनाते हुए समकालिक अन्य प्रबन्ध साहित्य यथा **प्रबन्धकोश, पुरातन प्रबन्ध-सग्रह, विविधतीर्थकल्प** इत्यादि मे उपलब्ध सामग्री के आधार पर उक्त **शोध-कार्य** को सवर्द्धित एव परिवर्धित करने का प्रयास किया गया है। आचार्य हेमचन्द्र कृत **द्वयाश्रयकाव्य**, जिनमण्डन कृत **कुमारपाल चरित** तथा जिनविजयमुनि द्वारा रचित सुकृतकीर्तिकल्लोलिनी इत्यादि ग्रन्थो का भी सम्यक अनुशीलन किया है।

प्रबन्धसाहित्य के अन्तर्गत ही **'प्रबन्धचिन्तामणि"** की रचना की गयी है। चरित और कथा साहित्य से सम्बद्ध गुजरात और मालवा के क्षेत्र मे जैन प्रतिभा ने एक विशिष्ट प्रकार के साहित्य का निर्माण किया जो 'प्रबन्ध साहित्य कहलाया। यह प्रबन्ध काव्यो से भिन्न है। प्रबन्ध एक प्रकार का ऐतिहासिक या अर्ध-ऐतिहासिक कथानक है जो सरल सस्कृत गद्य और कभी-कभी पद्य मे भी लिखा गया है। इन प्रबन्धो मे ऐतिहासिक महत्व के राजा महाराजा, सेठ और जैन मुनियो के सम्बन्ध मे प्रचलित कथा-कहानियो का सग्रह मिलता है।

प्रबन्ध साहित्य के अन्तर्गत जिन ग्रन्थो की रचना हुई उनमे प्रबन्धावलि, **प्रभावक चरित, प्रबन्धचिन्तामणि, विविधतीर्थकल्प, प्रबन्धकोश, पुरातन-प्रबन्ध-सग्रह** आदि है। **प्रबन्धचिन्तामणि** प्रबन्ध साहित्य का तीसरा ग्रन्थ है। सम्पूर्ण ग्रन्थ प्रकाशो मे विभाजित है। सभी प्रकाशो मे कुल मिलाकर 11 प्रबन्ध हैं, जिनमे छ तो प्रथम प्रकाश मे और दो चतुर्थ प्रकाश मे तथा शेष मे एक-एक प्रबन्ध है। ये प्रबन्ध भी सामान्यता. लघु प्रबन्धो के सग्रह रुप मे है। प्रथम प्रकाश के प्रथम तीन प्रबन्धो मे विक्रमादित्य सातवाहन और भूयराज (प्रतीहार भोज) की प्रसग कथाए दी है। चतुर्थ प्रबन्ध वनराजदि प्रबन्ध कहलाता है। जिसमे चापोत्कट (चावड) वश का सक्षिप्त इतिहास प्रस्तुत किया गया है। मूलराजादि प्रबन्ध नामक पांचवे प्रबन्ध से चौलुक्यो का इतिहास प्रारभ होता है। और दुर्लभराज के राज्य तक जाता है। यथार्थत इसमे मूलराज के तत्काल तीन उत्तराधिकारियो के नाम और तिथियो के अतिरिक्त उनके विषय मे अल्प ही कहा गया है। छठे मुञ्जराज प्रबन्ध मे परमनृप वाक्पति मुञ्ज विषयक प्रसग कथाए दी गयी है।

द्वितीय प्रकाश भोज भीम प्रबन्ध कहलाता है। जिसमे भीम और (परमार) भोज वश के आपसी सम्बन्ध

विवृत है जिसमे सेनाअध्यक्ष कुलचन्द्र दिगम्बर, माघ पण्डित धनपाल, शीतापण्डित, मयूर-बाण मानतुङ्ग प्रबन्ध तथा अन्य प्रबन्ध भी है। तीसरा प्रकाश सिद्धराज आदि प्रबन्ध कहलाता है। इसमे चौलुक्य भीम के अतिम दिनो तथा -कर्ण के शासन सम्बन्धी इतिहास कुछ पृष्ठो मे वर्णन कर अधिकाश मे सिद्धराज के राज्य की घटनाओं का वर्णन है। इसमे सम्मिलित कुछ लघु प्रबन्धो के नाम इस प्रकार है—लीला वैद्य, सान्तूमन्त्री, मयणल्लदेवी, मालवविजय सिद्धहेम, रुद्रमाल, सहस्रलिगताल, नवघणयुद्ध, रैवतकोद्धार शत्रुञ्जय यात्रा, देवसूरि, तथा पापघाट आदि। चतुर्थ विकास मे दो विशाल प्रबन्ध है। पहले मे कुमारपाल के राज्य का वर्णन है। इसमे उसके जन्म माता-पिता, पूर्व जन्म, राज्य प्राप्ति और जैन धर्म स्वीकारण आदि का विस्तार से वर्णन है। इसी मे आचार्य हेमचन्द्र और कुमारपाल सम्बन्धी कई कथाऐं भी है। अन्त मे अजयदेव (अजयपाल) के कुकृत्यो का तथा मूलराज द्वितीय एव भीम द्वितीय के राज्यो का वर्णन तथा वीरधवल की राज्य पदप्राप्ति भी वर्णित है। इसी प्रकाश के दूसरे प्रबन्ध वस्तुपाल-तेज पाल प्रबन्ध मे दोनो भ्राताओं के कार्य कलापो का वर्णन है। पञ्चम प्रकाश प्रकीर्णक प्रबन्ध कहलाता है जिसमे ऐतिहासिक राजाओं से सम्बन्धित घटनाओं के साथ-साथ कतिपय नगरो एव नगरजीवन से प्रसगित कथाए मिलती है।

इस ग्रन्थ मे अधिकाश रोचक कथाए है। इन कथाओ का मूल सदिग्ध है और अनेक तो काल्पनिक है। इस ग्रन्थ मे कुछ बडे महत्व के ऐतिहासिक उपाख्यान भी है जिन्हे हम वि० सं० 940-1250 तक का गुजरात का सामान्य इतिहास मान सकते है। कर्नल ए० के० फोर्ब्स ने अपने **'रासमाला'** नामक गुजरात के इतिहास के प्रथम बडे भाग का मुख्य आधार इसी ग्रन्थ को बनाया था। बाम्बे गजेटियर के प्रथम भाग मे जो अणहिलपुर का इतिहास दिया गया है उसका मुख्य आधार **प्रबन्धचिन्तामणि** ही है। गुजरात के इतिहास के लिए प्रबन्धचिन्तामणि जिस सामग्री की पूर्ति करता है वैसी सामग्री दूसरे ग्रन्थ मे नही मिलती । अणहिलपुर के सम्बन्ध मे जो बाते इसमे दी गयी है, प्राय. वे सभी विश्वसनीय है। इसमें अणहिलपुर के राजाओं का जो राज्यकाल बताया गया है वह अन्य ऐतिहासिक एव पुरातत्वीय सामग्री से समर्थित प्रतीत होता है। लगभग पाँच दशकों से सामाजिक एव सास्कृतिक क्षेत्र मे बहुत से विद्वानो यथा आर एस० शर्मा, डी०सी० सरकार, ए० एन० बोस इत्यादि विद्वानो की बहुश कृतियाँ प्रकाश मे आयी हैं परन्तु सामाजार्थिक स्थिति पर प्रकाश डालने वाले ग्रन्थ उपलब्ध होना कठिन प्रतीत होता है, अत इसी दृष्टिकोण को ध्यान मे रखकर प्रस्तुत शोध-ग्रन्थ लिखने का प्रयास किया गया है।

प्रस्तुत अध्ययन आठ अध्यायो में विभक्त है- प्रथम अध्याय के अन्तर्गत **प्रबन्धचिन्तामणि** की विषय वस्तु, इस क्षेत्र मे किए गए अन्य शोध-कार्यों इत्यादि का सक्षिप्त परिचय है। तत्कालीन राजनीतिक स्थिति तथा प्रस्तुत

शोध आधार ग्रथ की ऐतिहासिकता पर भी प्रकाश डाला गया है। इसम आए विभिन्न कथानको की पुष्टि हेतु समसामयिक मूलग्रन्थो एव सहायक-ग्रन्थो के साथ ही विदेशी यात्रियो के विवरणो एव अभिलेखो को भी देखा गया तथा उनका यथास्थान समुचित प्रयोग किया गया है।

द्वितीय अध्याय के अन्तर्गत वर्ण, जाति, परिवार एव विवाह, स्त्रियो की सामाजिक स्थिति, दासो की स्थिति इत्यादि तथ्यो पर भी प्रकाश डाला गया है। जिससे तत्कालीन सामाजिक स्थिति का सज्ञान होता है।

तृतीय अध्याय मे वेश-भूषा उसके प्रकार एव उनको धारण करने की प्रथा, आभूषणो के अनेक प्रकार एव उनको पहनने का विवरण तथा इसी प्रकार सौदर्य एव प्रसाधन हेतु प्रयोग की जाने वाली विभिन्न वस्तुओ का उल्लेख प्राप्त होता है। उस काल मे जन सामान्य एव राजघरानो मे प्रयुक्त खान-पान की विभिन्न व्यवस्थाओं का भी उल्लेख प्राप्त होता है।

चतुर्थ अध्याय मे कृषि एव कृषि प्रक्रिया पर प्रकाश डाला गया है, जिसके अन्तर्गत भूमि के स्वमित्व, भूमि के प्रकार भूमि की माप विभिन्न फसले, सिचाई के साधनो कृषि-उपकरणो, खाद, अकाल, कृषि कर्मकर, बगार इत्यादि तथ्यो पर प्रकाश डाला गया है।

पचम अध्याय व्यापार एव वणिज्य का है। इस काल मे व्यापार उन्नत अवस्था मे था, जिसकी पुष्टि विभिन्न साक्ष्यो से होती है। व्यापार के अतर्गत आन्तरिक व्यापार एव विदेशी व्यापार, बाजार, यातायात के साधन सडके, समुद्री यात्रा, पत्तन (कैम्बे, भडौच इत्यादि) तथा इन स्थानो से आयात एव निर्यात की जाने वाली विभिन्न सामग्रियो की चर्चा हुई है। षष्ठ अध्याय मे उसकाल मे गुजरात काठियावाड क्षेत्र मे प्रचलित अनेक उद्योग एव शिल्प तथा शिल्पकारो का वर्णन प्राप्त होता है। जिसमे वस्त्र उद्योग इसके अन्तर्गत वेशकार, सूचिक, तुन्नवाय इत्यादि, धातु उद्योग मे कुम्भकार, लौहकार, इत्यादि सुगधित पदार्थों का उद्योग, पाषाण एव काष्ठ उद्योग मे कार्य करने वाले शिल्पियो मे मूर्तिकार, मिस्त्री, वर्धकी, शिलाकूट इत्यादि की चर्चा हुई है।

सप्तम अध्याय मे कराधान का विवरण है। जिसमे अन्तर्गत भूमि राजस्व-भाग, भोग, हिरण्य, कर इत्यादि कृषि कर, व्यापार वाणिज्य पर लगने वाले कर शुल्क, मडपिकाए वेलाकुलकरण इत्यादि आते है।

अष्टम अध्याय धर्म एव स्थापत्य का है। जिसमे जैन धर्म एव स्थापत्य, ब्राह्मण धर्म एव स्थापत्य तीर्थो का सामाजार्थिक महत्व एव व्रतो का वर्णन हुआ है। उपसहार मे सक्षिप्त विवरण प्राप्त होता है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध परम श्रद्धेय गुरुवर श्री ओम प्रकाश श्रीवास्तव, रीडर, प्राचीन इतिहास, सस्कृति एव

पुरातत्व विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद के अत्यन्त कुशल एव विद्वत्तापूर्ण निर्देशन मे लिखा गया है। इस विषय के प्रति आकर्षण पैदा करने से लेकर शोध-कार्य को परिणति देने तक उन्होने जितनी अधिक [illegible] सहायता की है और जितनी अधिक प्रेरणा दी है, उसे शब्दो मे व्यक्त करना मेरी सामर्थ्य के बाहर है। उनका स्नेह और विश्वास मेरे जीवन की अमूल्य निधि है। उनके प्रति किसी भी तरह की कृतज्ञता व्यक्त कर उऋण होने की मेरी इच्छा नही है। बस इतना ही कहूँगी कि यदि अपने जीवन मे कभी कुछ सार्थक कर पायी तो वह उन्ही का आशीर्वाद होगा।

आदरणीय गुरुवर प्रोफेसर डॉ० वी० डी० मिश्र, विभागाध्यक्ष, प्राचीन इतिहास, सस्कृति एव पुरातत्व विभाग इलाहाबाद विश्ववद्यालय, इलाहाबाद, मेरे लिए प्रेरणा के स्रोत रहे है। उनकी शिष्या होने का गौरव मेरे जीवन की एक बहुत बडी उपलब्धि है। उनकी सदाशयता और अतीव कृपा हम पर हमेशा से बनी रही । मेरी कठिनाइयो को दूर करने मे उन्होने जो सहायता प्रदान की उसके लिए मै उनकी अत्यन्त आभारी हूँ। मै उनके प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धा व्यक्त करती है।

गुरुणाँगुरु परम आदरणीय प्रोफेसर बी० एन० एस० यादव जी के विद्वतापूर्ण आशीर्वाद एव सुझावो के अभाव मे सामाजार्थिक इतिहास से सम्बन्धि बिषय मे कोई गति सभव नही है अपनी विषयगत कठिनाइयो को दूर करने के लिए उनसे अक्सर सहायता प्राप्त करती थी, इसके लिए मै उनकी अत्यन्त ऋणी हूँ।

प्रोफेसर डॉ० एस० सी० भट्टाचार्य, भूतपूर्व विभागाध्यक्ष, इलाहाबाद विश्वविद्यालय , के अनुग्रह एव आशीर्वाद के लिए उनके प्रति मै अपन हार्दिक श्रद्धा ज्ञपित करती हूँ।

आदरणीय गुरुवर प्रोफेसर ओम प्रकाश की मै विशेष रुप से कृतज्ञ हूँ, जिनकी सहायता एव स्नेह के अभाव मे इस शोध कार्य मे बहुत असुविधा होती। उनके प्रति मैं अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ।

प्राचीन इतिहास, सस्कृति एव पुरातत्व विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय के गुरुजनवृन्द डॉ० श्री आर० के० द्विवेदी, डॉ० गीता सिंह, डॉ० श्री आर० पी० त्रिपाठी, डॉ० जे० एन० पाण्डेय, डॉ० जे० एन० पाल, डॉ० एच० एन० दुबे, डॉ० श्रीमती रजना बाजपेयी डॉ० उमेश चन्द्र चट्टोपाध्याय, डॉ० (श्रीमती) वनमाला मधोलकर जी की सहायता मुझे समय-समय पर मिलती रही अत उन सभी को धन्यवाद देना मेरा पावन कर्त्तव्य है। इसके अतिरिक्त विभाग के अन्य शिक्षकों सर्वश्री डॉ० ए० पी० ओझा, डॉ० पुष्पा तिवारी, डॉ० अनामिका राय डॉ० हर्ष कुमार, इत्यादि की मैं अत्यन्त आभारी हूँ जिन्होने सदैव मेरा उत्साहवर्धन किया।

उन सभी विद्वानो एव इतिहासकारो के प्रति भी अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करना मेरा पवित्र धर्म है जिनकी कृतियो एव शोध ग्रथो से किसी न किसी तरह शोध कार्य म हमे सहायता मिली है। इनके साथ ही मै प्राचीन विभाग के पुस्तकालय अध्यक्ष श्री सतीश राय जी क प्रति भी आभारी हूँ जिन्होने आवश्यकतानुसार मुझे सभी पुस्तके उपलब्ध कराने का कष्ट किया ।

प्राचीन इतिहास विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, गगानाथ झा केन्द्रीय सस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद सग्रहालय इत्यादि के पुस्तकालयो के अध्यक्षो ने लेखन कार्य मे पुस्तकीय सहायता प्रदान किया । अत उन सभी के प्रति मै अपना आभार प्रकट करती हूँ। मै आई० सी० एच० आर० का भी आभार व्यक्त करती हूँ जिससे मुझ शोध कार्य हेतु आर्थिक सहायता प्राप्त हुई ।

मेरे पति श्री सजीव कुमार श्रीवास्तव के सहयोग एव प्रेरणा की मै कृतज्ञ हूँ। मेरे पूज्य पितरौ श्री बलवन्त सिह एव माता श्रीमती प्रेमवती तथा श्वासुर्यौ पूज्य श्री ए० एन० सिन्हा एव श्रीमती सत्यवती सिन्हा की मै विशेष रूप से ऋृणी हूँ जिन्होने गृह के दायित्वो को कम करके हर कदम पर मेरी सहायता की है। मैं आदरणीय गुरु पत्नी के आशीष एव उनके पुत्र पुत्रियो जिनके भ्रातृ-वत एव भगिनीवत् सम्मान एव सहयोग से यह कार्य सम्पन्न हो सका। मै उनके प्रति अपना आभार व्यक्त करती हू।

मै अपने ज्येष्ठ जेठानी, देवर-ननद, भाई भावजो एव बहन-बहनोईयो के प्रति विशेष कृतज्ञता ज्ञापित करती हू जिन्होने वक्त-बेवक्त कष्ट उठाकर मेरे शोध कार्य एव लेखन-कार्य मे सहायता पहुचायी ।

नवम्बर, 1998 **(रेनू श्रीवास्तव)**

संकेत-सूची

अभिधानचि०	अभिधानचिन्तामणि
आर० एल० ए० आर० बी० पी०	रिवाइज्ड लिस्ट ऑफ एन्टीक्वेरियन रिमेन्स आफ द बाम्बे प्रेसीडंसी
इलि० डॉ०	इलियट एण्ड डाउसन
इडि० एन्टी०	इण्डियन एन्टीक्यूरी
इ० ला० ना० ई०	इकोनोमिक लाईफ ऑफ नार्दर्न इण्डिया
ए० एस० डब्ल्यू० आई०	आर्केलाजिकल सर्वे ऑफ वेस्टर्न इण्डिया
एपि० इडि०	एपिग्रैफिया इण्डिका
एच० डी०	हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र
कथासरित०	कथासरित्सागर
चौ० गु०	चौलुक्य ऑफ गुजरात
जे० बी० बी० आर० ए० एस०	जर्नल बाम्बे ब्रान्च ऑफ रॉयल एसियाटिक सोसाइटी
जे० एन० एस० आई०	जर्नल न्यूमिस्मेटिक सोसाइटी ऑफ इडिया
जे० ग० जे०	जर्नल ऑफ गङ्गानाथ झा
डॉ० हि० ना० इं०	डाइनेस्टिक हिस्ट्री आफ नार्दन इण्डिया
तिलक	तिलक मञ्जरी
त्रि० श० पु० च०	त्रिषाष्ठिशलाका पुरुष चरित
देशीनाम०	देशीनाममाला
द्वयाश्रय०	द्वयाश्रयकाव्य
ध० इ०	धर्म शास्त्र का इतिहास
नारद०	नारद स्मृति
निशीथ०	निशीथचूर्णि
पद्म पु०	पद्म पुराण

प्रो० इ० हि० का०	प्रोसीडिंग्स ऑफ इण्डियन हिस्ट्री काग्रेस
पा० टि०	पाद टिप्पणी
पी० आर० ए० एस० डब्ल्यू० सी०	प्रोग्रेस रिपोर्ट ऑफ द आर्केलाजिकल सर्वे ऑफ वेस्टर्न सर्किल
पु० प्र० स०	पुरातन प्रबन्ध सग्रहं
प्रबन्धचि०	प्रबन्धचिन्तामणि
वृहस्पति०	वृहस्पति स्मृति
मनु०	मनु० स्मृति
महा०	महा पुराण
एम० ए० एस० आई०	मेम्बायर्स ऑव आर्केलाजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया
मुक्ति०	मुक्ति कल्पतरु
याज्ञ० स्मृ०	याज्ञवल्क्य स्मृति
राजत०	राजतरगिणी
ले० प०	लेखपद्धति
वस्तुपाल०	वस्तुपाल चरित
विष्णु०	विष्णु स्मृति
वृ० पु०	वृहन्नारदीय पुराण
समरागण०	समरांगणसूत्रधार
सो० क० ना० इ०	सोसाइटी एण्ड कल्चर इन नार्दन इंडिया
सुकृत०	सुकृतकीर्ति कल्लोलिनी
स्मृति०	स्मृति चन्द्रिका
समरिच्च०	समरिच्चकहा
सी० पी० एस० आई०	कलेक्शन ऑफ प्राकृत एण्ड संस्कृत इंसक्रिप्शनस
सी० आई० आई०	कार्पस इंसक्रिप्शस इण्डिकेरम
हलायुध०	हलायुधकोष
हर्ष च०	हर्ष चरित

प्रथम अध्याय

इतिहास-लेखन, स्त्रोत एवं शोध-पद्धति

इतिहास-लेखन, स्रोत एवं शोध-पद्धति

'प्रबन्धचिन्तामणि' प्रबन्ध काव्यो मे से एक है । इन प्रबन्धो मे ऐतिहासिक महत्व के राजा, महाराजा, सत और जैन मुनियो के सम्बन्ध मे प्रचलित कथा-कहानियो का सग्रह मिलता है। प्रबन्ध साहित्य के अन्तर्गत भिन्न अन्य प्रबन्धो की रचना हुई वे **प्रबन्धकोश, पुरातन-प्रबन्ध-सग्रह, विविधतीर्थकल्प** इत्यादि है।

अधीतकालीन जैन साहित्य पर बहुत से शोध ग्रन्थो की रचना हो चुकी है इनमे कतिपय उल्लेखनीय कृतियॉ इस प्रकार है—नाथूराम प्रेमी कृत **जैनसाहित्य और इतिहास**, (1957), एम- डी० देसाई कृत **जैनसाहित्यनो सक्षिप्त इतिहास**-1933, एच० एल० जैन एव पण्डित विर्जयमूर्ती कृत **जैनशिलालेख संग्रह** 1928, पी० बी० देसाई कृत **जैनिस्म इन साउथ इण्डिया एण्ड समजैन एपीग्राफ्स** 1957, मुनि श्री नागराजी कृत **जैन फिलासफी एण्ड मार्डन साइंस** 1959, जे० जी० जैन कृत **लाईफ इन एंशयेट इण्डिया** 1974, एम० एल० मेहता कृत **आउट लाइन्स ऑफ फिलासफी** 1954, जे० जी० जैन कृत **लाईफ इन एंशयंट इण्डिया ऐज डिपिकटेड इन जैन कैनन्स 1947 तथा प्राकृतसाहित्य का इतिहास** 1961 तथा **प्राकृत जैन तथा साहित्य** 1970 पुस्तके है। इनके अतिरिक्त एच-एल० जैन कृत **प्राचीन भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान** 1963 ज्योतिप्रसाद जैन कृत **द जैन सोर्सेज आफ दि हिस्ट्री ऑफ ऐश्येण्ट इण्डिया** 1964, के० सी० जैन कृत **जैनिस्म इन राजस्थान** 1963 इत्यादि पुस्तको मे आलोच्यकालीन पश्चिमी भारत के सामाजिक आर्थिक इतिहास पर भी प्रकाश पडता है। इसी प्रकार एकल ग्रन्थ आधृत बहुश शोध ग्रन्थ की रचना हुई है। के० आर० चन्द्र द्वारा **पउमचरिउ एक सांस्कृतिक अध्ययन** (1970) पी० एस० जैन **कृत कुवलयमाला कहा एक सांस्कृतिक अध्ययन** 1974, श्री० चन्द्र जैन कृत जैन **कथाओं का सांस्कृतिक अध्ययन** 1971, जे० यादव कृत **समराइच्चकहा एक सांस्कृतिक अध्ययन** 1977 मे प्रकाशित ग्रन्थ है। इनके अतिरिक्त इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास विभाग मे जैन साहित्य पर बनमाला, भवोलकर कृत **सोशियों इकोनोमिक स्टडी ऑफ दि अर्ली जैन कथा लिट्रेचर** (1984ई०) तथा देवी प्रसाद मिश्र द्वारा रचित **जैन पुराणों का संस्कृतिक अध्ययन** सन् (1988 ई०) कृतियाँ है। जैन साहित्य पर लिखे गये महत्वपूर्ण ग्रन्थो के होने के बावजूद प्रबन्ध साहित्य से तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक इतिहास बोध कराने वाले ग्रन्थो के अभाव मे **प्रबन्धचिन्तामणि** मे वर्णित सामाजिक, आर्थिक स्थिति को शोध का विषय बनाया है।

ईस्वी सन् की पाँचवी शताब्दी तक जैन आगम साहित्य का सकलन और संशोधन होता रहा, तत्पश्चात इन ग्रन्थो की अन्य विधाए अग, उपाग, प्रकीर्ण, छेद, सूत्र, निर्युक्ति, भाष्य चूर्णी तथा टीकाएँ लिखकर इसे समृद्ध बनाया गया ।[1] कथा और चरित साहित्य से सम्बद्ध गुजरात और मालवा के क्षेत्रो मे जैन प्रतिभाओं, दिगम्बर तथा

---

1 जगदीश चन्द्र जैन, प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ०2

श्वेताम्बर एव महापुरुषो की प्रशसा विवृत है। इन्ही को लेकर बारहवी तेरहवी शताब्दी मे एक विशिष्ट प्रकार के साहित्य की सर्जना हुई जो "प्रबन्ध" साहित्य के नाम से ख्यात हुआ।[1]

"प्रबन्ध" एक प्रकार का अर्ध-ऐतिहासिक ग्रन्थ है जो सरल चम्पू शैली (गद्य-पद्य मिश्रित) मे प्रणीत है। इनमे जिनभद्र द्वारा रचित **प्रबन्धावली** (तिथि अनिश्चित)

प्रभाचन्द्रसूरि द्वारा रचित **'प्रभावकचरित'** (1277) ईस्वी)

जिन प्रभु सूरि द्वारा रचित विविधतीर्थकल्प (1333 ईस्वी०

राजशेखर सूरि द्वारा रचित प्रबन्धकोश (1349 ईस्वी)

तथा जिनविजय मुनि कृत **पुरातन प्रबन्ध सग्रह** (तेरहवी से पन्द्रहवी ई०) इत्यादि उल्लेखनीय है।[2] मेरुतुङ्ग आचार्य की प्रबन्धचिन्तामणि, इन्ही मे से एक है। इन **प्रबन्ध-ग्रन्थो** के अनुकरण मे प्राकृत मे भी ऐतिहासिक प्रबन्धो की रचना हुई । इनमे बप्पभट्टि प्रबन्ध, मल्लवादि प्रबन्ध, सिद्धसेन प्रबन्ध आदि मुख्य ग्रन्थ है।[3]

प्रबन्धकोश के रचयिता राजशेखर सूरि ने चरित और प्रबन्ध का अन्तर बताते हुए लिखा है—

"श्री ऋषभवर्धमान पर्यन्तजिनाना चक्रयादीना राज्ञा ऋषीणामाचार्य रक्षितान्ताना वृत्तानि चरितानि उच्यन्ते। तत्पश्चात्कलभाविना तु नराणा वृतानि प्रबधाइति।"

अर्थात ऋषभदेव से लेकर वर्धमान महावीर काल तक के जिनो तथा चक्रवर्ती राजाओं, ऋषियों तथा आचार्यो के वृत्तो के वर्णन को 'चरित' कहा जाता है तथा वर्धमान महाबीर के उत्तरवर्ती महापुरुषों के वृत्त को 'प्रबन्ध' माना है।[4] लेकिन उनका यह कथन नितान्त वैयक्तिक प्रतीत होता है जो सत्य नही है। क्योकि उनके इस वर्गीकरण को एतत्कालीन साहित्य मे नही अपनाया गया है। उदाहरणार्थ कुमारपाल वस्तुपाल जगदुचरित आदि को चरित और प्रबन्ध दोनो कहा गया है। जर्मन विद्वान जॉर्ज ब्यूहलर के शब्दो मे 'प्रबन्ध' लिखे जाने का उद्देश्य धर्म-श्रवण के लिए एकत्र हुए समाज को धर्मोपदेश देना और जैन धर्म के सामर्थ्य और महत्व को प्रकट करने के लिए साधुओं द्वारा दृष्टान्त रुप चरित सामग्री प्रस्तुत करना और लौकिक विषय को लेकर श्रोताओं का चिर चित्तविनोद करना था।[5]

---

1 जगदीश चन्द्र जैन, प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ०2
2 गुलाब चन्द्र चौधरी, जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, पृ० 418
3 जगदीश चन्द्र जैन, वही पृ० 255
4 गुलाब चन्द्र चौधरी, जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, पृ० 418
5 वही, पृ० 418

प्रबन्धचिन्तामणि के प्रेणेता जैन आचार्य मेरुतुङ्ग ने इस ग्रन्थ का लेखन विक्रम सवत् 1361 (1304 ईस्वी) मे वर्धमानपुर मे वैशाख के शुक्लपक्ष अष्टमी को समाप्त किया इसका प्रथम प्रकाशन 1884 ई० मे रामचन्द्र दीनानाथ शास्त्री द्वारा किया गया तथा अग्रेजी अनुवाद सी० एच० टॉनी ने 1901 ई० मे किया।[1]

मेरुतुङ्ग की एक अन्य कृति थेरवली (तेरहवी चौदहवी श०) है। इसमे पट्टधर आचार्यो की परम्परा के साथ कुछ प्राचीन नरेशो की परम्परागत तिथियो सहित सूची दी गयी है जो इतिहास लेखन की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। इसमे आचार्य कालक, जिनभद्र एव हरिभद्र का भी वर्णन किया गया है। इसमे गुजरात के अनेक राजाओ के राज्यकाल की सूचना भी मिलती है।[2]

प्रबन्धचिन्तामणि के अन्तर्गत जो चरित्र आए है, उन पर अलग से अनेक ग्रन्थो की सर्जना हुई है। जैसे **कुमारपाल चरित, वस्तुपालचरित, कुमारपालप्रतिबोध** इत्यादि शोध आधार ग्रन्थ मे गुजरात के चौलुक्य (सोलकी) शासको का कृतित्व विवृत है। अन्य प्रबन्ध ग्रन्थो यथा **प्रबन्धकोश** तथा **पुरातन प्रबन्ध संग्रह** के द्वारा भी तत्कालीन सामाजिक आर्थिक स्थिति पर प्रकाश पडता है। चौलुक्य नरेशो के अभिलेख भी प्राप्त होते है जो तत्कालीन इतिहास का स्वरुप निरुपित करने मे सहायक है।

शोध आधार- **ग्रन्थ प्रबन्धचिन्तामणि** का इतिहास लेखन मे उपादेयता एव उपयोगिता हेतु यह भी विचारणीय तथ्य है कि यह बारहवी-तेरहवी शताब्दी का काल हिन्दू राजपूतो के पतन का एव मुस्लिम सल्तनत के उदय का काल था। इस समय तुर्कों के आक्रमण हो रहे थे और मुस्लिम परम्पराओं के प्रभाव की अभिवृद्धि हो रही थी। हिन्दू समाज एव सस्कृति पर मुस्लिम प्रभाव बढ़ने लगे थे। प्रस्तुत ग्रन्थ में भी सुल्तान महमूद, कुतुबुउदीन तथा अलाउद्दीन से सम्बन्धित सक्षिप्त विवरण प्राप्त होते है। यह तथ्य इस बात का द्योतक है कि वृद्धिगत मुस्लिम राजनीतिक प्रभाव से तत्कालिक गुजरात एव राजस्थान का सामाजिक आर्थिक ढाचा भी अछूता नही रह गया था।

राजनीतिक स्थिति—प्रस्तुत शोध से सबन्धित साक्ष्यो का अनुशीलन करने से पूर्व यह आवश्यक हो जाता है कि तत्कालीन उत्तर भारत, विशेषत: पश्चिमी भारत, की राजनीतिक स्थिति से भली भाति अवगत हो। प्रस्तुत ग्रन्थ के रचनाकाल मे उत्तर-भारत मे राजनीतिक सघर्ष चल रहा था। गुजरात मे भी विभिन्न राजपूत राजवशो के राज्य होने के उदाहरण प्राप्त होते हैं। उस समय गुजरात मे (अणहिल पाटन में) बघेल और चौलुक्य, राजस्थान

1 प्रबन्धचिन्तामणि, मेरु० पृ० 7
2 गुलाबचन्द्र चौधरी, वही०, पृ० 45

मे चाहमान (आठवी से बारहवी श० ई०) परमार वश की शाखाए और गुहिलौत तथा मालवा एव पडोस मे क्रमश परमार मालवा के परमार वश० (दसवी मे बारहवी श० ई०) चन्देल, (नवी से बरहवी श० ई०) और कल्चुरि चेदि के (नवी से बारहवी श० ई०) राजा राज्य करते थे।[1] चौलुक्य राजाओ द्वारा आसपास के राज्यो के सार्थ, पारस्परिक सम्बन्धो की जानकारी अन्य समकालीन साहित्यिक तथा अभिलेखिक स्रोतो से होती है।

चौलुक्य नरेश मूलराज (वि० स० 990-1066) (961-996ई.) ने परमार वश के सिधुराज को पराभूत किया था।[2] उसने चाहमान वश के बारप्पा को भी पराजित करके मार डाला। इसके अतिरिक्त कच्छ के राजा लक्षराज को भी उसने पराजित किया।

भीमदेव प्रथम 1922-1064 ई० तक सिहासनारुढ रहा उसने माउट आबू तथा भिनमल, जहॉ परमारो की दो शाखाए थी, विजित किया। 1064 ईस्वी मे उसका पुत्र कर्ण गद्दी पर बैठा। उसका सघर्ष मालवा से हुआ, परन्तु उदयादित्य तथा जगद्देव से पराजित हुआ। उसने दादोली मारवाड पर भी आक्रमण किया परन्तु नडडुल के चाहमानो द्वारा पराजित किया गया।1094 ई० मे कर्ण की मृत्यु के बाद उसका पुत्र जयसिह गद्दी पर बैठा जो चौलुक्य वश के महान नरेशो मे एक था तथा उसने पड़ोसी राज्यो पर विजय भी प्राप्त किया । उसने सौराष्ट्र के प्रमुख अमीर को विजित कर बन्दी बनाया और सौराष्ट्र को अपने राज्य मे सम्मिलित किया। तत्पश्चात् परमार के नरेश को पराजित करके भिनमाल को अपने राज्य मे जोडा। नड्डूल तथा शाकम्भरी के चाहमानो ने उसकी दासता को स्वीकार कर उसके सामन्त रुप मे शासन करना स्वीकार किया। परमार नरेश नरवर्मन तथा यशोवर्मन, के विरुद्ध अभियान कर उनको पराजित किया तथा मालवा को भी अपने राज्य मे मिला लिया। चन्देल नरेश को भी विजित करके वह कालञ्जर तथा महोबा की ओर बढा। चन्देल मदनवर्मन ने भिलसा राज्य जो उसने परमारो से जीता था, उसे (जयसिह) को सौंपकर शान्ति कायम की। चालुक्य राज विक्रमादित्य षष्ट पर भी उसने विजय प्राप्त की। जयसिंह के राज्य समापन से पूर्व ही मालवा के परमारो एव नड्डुल के चाहमानो ने अपना राज्य वापस हस्तगत कर लिया था। जयसिह ने एक बडे साम्राज्य पर शासन किया तथा चौलुक्य राजवश को पूर्व मे अप्राप्य ख्याति की सीमातक पहुँचाया।

जयसिह की मृत्यु के बाद 1143 से 1145 ईस्वी के बीच कुमारपाल सिंहासनासीन हुआ । इससे पूर्व

---

1 मजूमदार, ए०के०, चौलुक्य ऑफ गुजरात पृ० 35

2 वही० पृ० 34.

वाहड के अल्पकालीन राज्य के समय मे शाकम्भरी के चाहमान अर्णोराज तथा मालवा एव माउट आबू के परमारो ने मिलकर चौलुक्यराज्य के उत्तरी तथा पूर्वी भाग पर अधिकार कर लिया था, जिसे कुमारपाल ने अर्णोराज को पुन पराजित करके वापस छीन लिया। अर्णोराज ने अपनी पुत्री का विवाह कुमारपाल से सम्पन्न कर अपनी मैत्री स्थापित किया। कुमारपाल ने माउट आबू के परमार नरेश को हटाकर उसके स्थान पर उसके भ्रातृज को आसीन किया मालवा का नरेश भी युद्ध मे मारा गया और भिलसा तक सम्पूर्ण राज्य चौलुक्य साम्राज्य मे मिला लिया गया। कुमारपाल ने अर्णोराज पर पुन 1150 ई० मे आक्रमण किया और उसको हराने के बाद ही उसे उसका साम्राज्य वापस किया। कुमारपाल ने नड्डुल के चाहमान एव भिनमल के परमारों पर विजय प्राप्त की तथा 1160 और 1162 ईस्वी मे कोकण राज्य को भी अपने आधीन बनाया बाद में जैनाचार्य हेमचन्द्र के प्रभाव से कुमारपाल ने जैन धर्म अपना लिया तथा अहिसा का मार्ग अपनाया 1171-72 ई० मे उत्तराधिकार के झगडे के बीच ही उसकी मृत्यु हुई। उसके भ्रातृज, अजयपाल ने राज्य भार सभाला। वह जैन धर्म का विरोधी था उसने गुहिल सामन्तसिह को विजित किया, जिसने उसके राज्य पर अधिकार कर लिया था। तत्पश्चात उसने शाकभरी के चाहमानो को पराजित किया। 1176 ई० मे एक प्रतीहार के द्वारा वह मारा गया।

अजयपाल का पुत्र मूलराज द्वितीय अवयस्क था। उसकी रानी नाईकीदेवी, परमार्दिनी की पुत्री ने मूलराज की प्रतिनिधि के रुप मे राज्य सभाला 1178 ई० मे मुहम्मद शिहाबुद्दीन गोरी ने गुजरात पर आक्रमण किया, लेकिन बहादुर रानी ने अपने राजपुत्र को गोद मे लेकर सेना का सचालन किया और माउटआबू के निकट मुस्लिम आक्रमणकारी को परास्त किया। यह अत्यन्त सम्मानजनक उपलब्धि प्राप्त करने के बाद मालवा ने स्वत अपनी स्वाधीनता उसे सौप दी।

मूलराज द्वितीय की 1170 ई० मे मृत्यु के बाद उसका छोटा भाई भीम द्वितीय उत्तराधिकारी बना, उसने 60 वर्ष तक राज्य किया।

भीम द्वितीय के राज्यकाल में ही मुस्लिम आक्रमण होने लगे। विभिन्न राज्यों को उन्होंने अपने आधीन बनाया। इस प्रकार मुस्लिम आक्रमण के फलस्वरुप अनेकों राज्यों के राज्यपालों ने तथा छोटे राजाओं ने अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी, बहुत से मंत्रियों ने राज्य में अपने शासन स्थापित किए। इस समय साम्राज्य मे फूट पड़ रही थी, परन्तु बघेल राजा अर्णोराज ने स्थिति को बचाया। उसने चौलुक्य वश को अपनाया,। कुमारपाल द्वारा राज्य प्रदान किए जाने के कारण उसने उसके प्रति अपनी वफादारी का परिचय दिया, उसने चौलुक्य राजधानी से 10 मील दूर व्याघ्रपल्ली नामक राज्य को बघेल राज्य घोषित किया। अर्णोराज नए राजा के साथ

मे विद्रोहियो के दमन हेतु आगे बढा और उसी सघर्ष मे मृत्यु को प्राप्त हुआ परन्तु उसके पुत्र लवणप्रसाद ने अपने पिता के अभियान को जारी रखा । उसने अपने दो भाईयो वस्तुपाल एव तेजपाल की मदद से साम्राज्य के भीतरी असतुलन एव विदेशी आक्रमण को रोकने का प्रयास किया । गुजरात के विपरीत यादवो (ग्यारहवी से तेरहवी श० ई०) के आक्रमणो एव परमारो के विद्रोह को भी लवणप्रसाद ने दबाया। 1192 ईस्वी मे मुसलमानो ने उत्तर भारत मे पृथ्वीराज को परास्त करके अजमेर पर राज्य स्थापित किया। जब मुसलमानो ने (Mhers) म्हेर पर आक्रमण किया तो चौलुक्यो ने अपनी सेना को वहाँ भेजा जिसने मुसलमानो को लगभग अजमेर शहर तक खदेडा इसके फलस्वरुप कुतुबुद्दीन ने गजनी की एक नयी सेना के साथ गुजरात पर आक्रमण किया और उसीक राजधानी को लूटा लेकिन थोडे समय बाद ही वहाँ से वह चला गया।

इस प्रकार की स्थिति मे वहाँ के साम्राज्य मे आन्तरिक सहमति न हो सकी। 1210 ईस्वी मे गुजरात की गद्दी की जयन्तसिह या जयसिंह ने जबरदस्ती छीन लिया और पन्द्रह वर्षों तक वहाँ राज्य किया, जिसे 1223 से 1226 ई० मे लवण प्रसाद तथा उसके पुत्र वीरधवल ने पुन· प्राप्त किया।

यादव सिंह गुजरात के विपरीत संघर्ष हेतु पड़ोसी राज्यो से सामञ्जस्य स्थापित करने मे लगा रहा। जब दिल्ली के सुल्तान इल्तुतमिश (1229 ई० मे) ने उत्तरी गुजरात पर आक्रमण किया तो यादव सिंह ने परमार राजा तथा लाट देश के प्रमुख के साथ मिलकर दक्षिणी भाग पर आक्रमण कर दिया परन्तु वीरधवल तथा वस्तुपाल ने वीरतापूर्वक दोनो शत्रुओं पर काबू पा लिया।

1231 ई० में यादव सिह के साथ सधि करके लवणप्रसाद ने राज्य छोड़ दिया, फिर उसका पुत्र वीरधवल गुजरात का वास्तविक शासक बना। भीम द्वितीय कुछ समय के लिए राजा बना और 1238 ई० में उसकी मृत्यु हो गयी तथा उसके बाद त्रिभुवनपाल राजा हुआ। उसके राज्य मे यादव सिंह ने पुन· परमार तथा गुहिल शासक के साथ मिलकर आक्रमण किया जिसको वीसलदेव ने शत्रुओं को उखाड़ फेका। इसके पश्चात् वीरम, अर्जुन, शारंगदेव, कर्ण इत्यादि ने थोड़े-थोड़े समय के लिए राज्य किया। कर्ण के राज्य के प्रथम वर्ष ही गुजरात पर अलाउद्दीन खिलजी का आक्रमण हुआ और उसने वहाँ पर अपना राज्य स्थापित किया।[1]

ऐतिहासिकता—प्रस्तुत शोधग्रन्थ प्रबन्धचिन्तामणि ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का रचनाकाल लगभग तेरहवी शताब्दी का अंतिम चरण है, किन्तु इसका वर्ण्य-विषय का काल लगभग 950 ई०

---

1 मजूमदार आर० सी०, एंश्येंट इंडिया, पृ० 94-108

से लेकर 1300 ई० तक है। उस समय उत्तर, भारत मे विभिन्न राजपूत वशो का शासन था। चौलुक्य भी उन्ही राजवंशों मे से एक थे। जिनका अधिकार क्षेत्र गुजरात था। इनके अतिरिक्त राजस्थान मे चाहमान, परमार वश की शाखाए और गुहिलौत तथा मालवा एव पडोस मे क्रमश परमार, चन्देल, और कल्चुरि राज्य थे। प्रस्तुत ग्रन्थ के रचनाकाल मे ही मुस्लिम आक्रमण भी प्रारम्भ हो गए थे।

सन् 1178 ई० मे मोहम्मदगोरी का आक्रमण हुआ। उस समय मूलराज द्वितीय अल्पवयस्क था। उसकी माता नाईकी देवी के सरक्षकत्व काल मे चौलुक्य सेना ने गोरी को पराजित किया। कुतुबुद्दीन ने 1178 म ही एक बडी सेना के साथ आक्रमण किया । इन दिनो भीन द्वितीय शासक था। यद्यपि कि वह अल्पवयस्क ही था फिर भी उसकी सेना ने गोरी को करारी मात दिया और वह लगभग 20 वर्षों तक पुन आक्रमण करने की हिम्मत नही जुटा पाया[1] का भी उल्लेख आया है। इन मुस्लिम आक्रमणो की पुष्टि थेरवली से होती है। अलाउद्दीन खिलजी के आक्रमण का भी उल्लेख आया है। इन आक्रमणो तथा युद्धों से तत्कालीन सामाजिकार्थिक, स्थितिया एव जनजीवन अवश्य प्रभवित हुआ होगा इस समय राजनीतिक एव सामाजिक सकट उत्पन्न हो गया था। इससे यह प्रतीत होता है कि इस समय राजपूत शासन का अत और मुस्लिम शासन का प्रादुर्भाव हो रहा था। किसी क्षेत्र विशेष का इतिहास द्योतित करने वाला राजतरगिणी के पश्चात् **प्रन्धचिन्तामणि** दूसरा महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। जिसमे गुजरात-काठियावाड के इतिहास स्वरुप का विवेचन मिलता है। तत्कालीन गुजरात क्षेत्र में जैन धर्म बहुत प्रभावी था। फलस्वरुप तत्कालीन जन-जीवन एव सामाजार्थिक स्थिति भी कुछ हद तक प्रभावित हुई। प्रस्तुत ग्रन्थ में विभिन्न कथाए मिलती हैं जिनमें इस काल के समाज तथा सस्कृति के विषय मे प्रभूत सामग्री प्राप्त होती है। इस प्रकार इसमे ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण तथ्यों के विद्यमान होने से इसे अर्ध-ऐतिहासिक ग्रन्थ मान सकते है, परन्तु, कालक्रम इत्यादि दृष्टिकोण मे अनिश्चितता के कारण इसे पूर्ण ऐतिहासिक नहीं कहा जा सकता है। इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ पूर्वमध्काल एवं मध्यकाल के ऐतिहासिक लेखन के स्रोत के रुप में देहली दीपक न्याय का कार्य करता है।

इस ग्रन्थ के आधार पर तत्कालीन सामाजिक तथा आर्थिक इतिहास के तथ्यों का समुचित एव सम्यक अनुशीलन एव स्वरुपनिरुपण के लिए विभिन्न ऐतिहासिक स्रोतो का भी उपयोग किया गया है।

शोध आधार ग्रन्थ के अतिरिक्त अन्य प्रबन्ध ग्रन्थों का भी अध्ययन किया गया है। ये प्रबन्धग्रथ राजशेखर

---

1 रे एच० सी०, डाइनेस्टिक हिस्ट्री ऑफ नार्दन इंडिया, पृ० 1016-17

का **प्रन्धकोश**, जिनविजयमुनि का पुरातन **प्रबन्धसग्रह**, प्रभाचन्द्र सूरि का **प्रभावकचरित**, जिनप्रभूसूरि का **विविध तीर्थकल्प**, जिनमडन का **कुमारपालप्रबन्ध तथा वस्तुपाल-तेजपाल प्रबन्ध जो प्रबन्धकोश** से उद्‌घृत है। इनके अतिरिक्त हेमचन्द्र आचार्य विरचित **कुमारपाल चरित** तथा हर्षगणि की कृति **वस्तु-पाल चरित** का भी उपयोग प्रस्तुत शोध ग्रन्थ लेखन हेतु किया गया है।

स्मृतियो पर की गयी टीकाओ एव मनुसमृति पर मेधातिथि की टीका (9 वी शताब्दी), कुल्लूक की टीका (1150-1300 ई०) है। याज्ञवल्क्य स्मृति पर विज्ञानेश्वर की टीका (1070-1110 ई०), अपरार्क की टीका (1125 ई०) है। इन टीकाओं मे यद्यपि पुरानी परम्पराओं को ही विवृत्त किया है, परन्तु उस काल मे उसमे सामाजिक आर्थिक स्थिति मे होने वाले परिवर्तनो के साथ परिवर्तित सामाजिक विचारो का भी विवेचन हुआ है। पी० वी० काणे का **धर्मशास्त्र का इतिहास** से विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश पडता है। जिसका अध्ययन किसी भी शोधकार्य के लिए आवश्यक होता है। ग्यारहवी शताब्दी के लक्ष्मीधर जो गहडवाल राज गोविंदचन्द के साधिविग्रहिक थे, उनकी रचना **कृत्यकल्पतरु** जो कि 12 भागो मे प्राप्त होती है, उसमे समाज के हर पहलू पर प्रकाश डाला गया है। हेमचन्द्राचार्य की **लघुअर्हन्नीति** प्रमुख ग्रन्थ है।

इनके अतिरिक्त धार्मिक तथा सामाजिक स्थिति का द्योतन करने वाले जैन एव जैनेत्तर पुराणो का भी अध्ययन आवश्यकतानुसार किया गया है। इनमे महापुराण (नवी शताब्दी), हरिवश पुराण (700-1000 ई०), अग्नि पुराण (600-900 ई०), वायु पुराण (400-600ई०), मत्स्य पुराण (300-600 ई०), इत्यादि प्रमुख है। ग्यारहवी बारहवीं शताब्दी मे गुजरात मे बहुत से महाकाव्यो, जो ऐतिहासिक घटनाओं, पर व्यक्तिगत तथा धार्मिक मान्यताओ पर आधारित थे, की रचना हुई। इनसे प्राचीन परम्पराओं के साथ-साथ तत्कालीन सामाजिक एव आर्थिक जीवन पर भी प्रकाश पड़ता है। आचार्य हेमचन्द्र द्वारा रचित **द्वयाश्रयकाव्य** पर, अभयतिलकमणि की टीका (1225 ई०) मे पालनपुर मे रचा गया है। सोमेश्वरकृत **कीर्ति कौमुदी**, 1232 ई० की रचना तथा अरिसिंह द्वारा (1228-31) ईस्वी में **सुकृतसंकीर्तन** का सृजन हुआ। इत्यादि इस शोध के महत्वपूर्ण स्रोत हैं, तेरहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे बालचन्द्र ने **वसन्तविलास** लिखा। उसमे प्रथम महाकाव्य में सिद्धराज और कुमारपाल का जीवन-चरित विवृत है जबकि बाद के तीन महाकाव्यो मे वणिक मन्त्री वस्तुपाल की उपलब्धियाँ विवृत्त हैं। पौराणिक (Mythological) महाकाव्यो मे हेमचन्द्र कृत **त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित** है, जिसमे जैन इतिहास एव परम्पराओं के तिरसठ महापुरुषो के चरित विवृत हैं।

यशपाल का **मोहराजपराजय** (1174-77 ई०) एक उल्लेखनीय नाटक है, जिसमें तत्कालीन परम्पराओं के

अतिरिक्त कुमारपाल के जैनधर्म मे परिवर्तित होने का भी उल्लेख प्राप्त होता है। इसमे वणिको की धन-सम्पदा का भी वर्णन है। जयसिह सूरि का **हम्मीरमदमर्दन** (1223-30ई०) मे ऐतिहासिक कथानकों के अतिरिक्त गुजरात पर होने वाले मुस्लिम आक्रमण को रोकने हेतु वणिक-मन्त्री वस्तुपाल द्वारा अपनाई जाने वाली रणनीति का भी उल्लेख प्रसगित है।

जैन धर्मकथाओं या लोककथाओं में धार्मिक उल्लेखो के साथ वणिक के जीवन की कथाए भी विवृत्त है। हरिभद्र सूरि की समरिच्चकहा तथा उद्योतन सूरि की **कुवलयमालाकहा** (दोनो आठवी शताब्दी) की मारवाड मे लिखी गयी रचनाओं के अतिरिक्त नवीं शताब्दी की सिद्धर्षि (906 ई०) की **उपमिति भवप्रपञ्चकहा**, धनपाल की **भविष्यतकहा** (दसवीं शता० का दिगम्बर जैन), जिनेश्वर सूरि का कथाकोशप्रकरण (1651 ई०) से भी सामाजिक एव आर्थिक स्थिति पर प्रभूत प्रकाश पडता है।

गुजरात तथा राजस्थान क्षेत्रो मे राजाओं एव मत्रियो के प्रशसात्मक रुप मे उल्लेख करने को प्रशस्ति कहा जाता था। इन प्रशस्तियों मे उस युग के जैन व्यापारिक परिवारों के विषय में बहुतसी सूचनाएँ प्राप्त होती है। जैन आचार्यों की सूची या पट्टावलिया जैसे खरतरगच्छ, तपगच्छ तथा उपकेशगच्छ से भी सामाजिक एव आर्थिक स्थिति पर प्रभूत प्रकाश पडता है।

समकालीन शब्दकोशो मे **देशीनाममाला**, तथा **अभिधानचिन्तामणि** हेमचन्द्र द्वारा विरचित हैं। यादव प्रकाश का **वैजयन्ती कोश** (11हवीं श०), हलायुध का **हलायुधकोश** या **अभिधानरत्नमाला** है। इनका अध्ययन सामाजिक आर्थिक स्थिति को विवृत करने के लिए आवश्यक है।

इस युग के गणितशास्त्रो से तत्कालीन मूल्य, आय, सिक्के, वजन तथा माप प्रणाली विषय मे जानकारी प्राप्त होती है। महावीराचार्य का **गणितसारसंग्रह** (नवीं शता०), बारहवीं शताब्दी का भास्कराचार्य का **लीलावती** जो दक्षिम भारत का था और श्रीधराचार्य की गणितसार पर टीका इत्यादि बहुत उपयोगी है।

जैनेत्तर साहित्य मे धारा के राजा भोज (11 हवीं श०) के **युक्तिकल्पतरु** तथा **समराङ्गणसूत्रधार** ग्रन्थ है। पश्चिमी चौलुक्य राजा सोमेश्वर की कृति **मानसोल्लास** (1131 ई०) है। युक्तिकल्पतरु एक शिल्प ग्रन्थ है फिर भी इसमें औद्योगिक भूगोल, यातायात के साधन विशेषत नौका तथा (जल परिवहन) जलपोतो का वर्णन प्राप्त होता है। इसी प्रकार **मानसोल्लास** में राजा के कर्तव्यों, विभिन्न प्रकार की पण्यो पर लगने वाले करों का उल्लेख तथा राजस्व अधिकारियों यथा शुल्काधिकारिण, तुलाधिकारिण तथा मूल्याधिकारिण, जो कि व्यापारिक मामलो से सम्बद्ध थे, के विवरण प्राप्त होते हैं तथा **समराङ्गणसूत्रधार**, भुवनदेव की **अपराजित पृच्छा** (बारहवीं श०) स्थापत्य

पर आधारित पुस्तके है परन्तु इनमे सामाजिक-आर्थिक स्थिति से सम्बन्धित बातो का भी उल्लेख मिलता है।

गुजरात क्षेत्र मे प्रणीत ग्रन्थो मे **लेखपद्धति** प्रमुख है इसमे तत्कालीन प्रचलित मुद्रा एव अन्य व्यापारिक एव कराधान इत्यादि विषयो की जानकारी प्राप्त होती है। इसमे विक्रम सवत् 802 से लेकर 1553 वि सं (755-1476 ईस्वी) तक के कानूनी दस्तावेजो एव नमूना पत्रो (Model forms) का सग्रह है। इसमे अधिकतर 12वी शताब्दी के दस्तावेजो का उल्लेख है।

भारतीय साक्ष्यो के साथ ही विदेशी यात्रियो के विवरणो से भी शोध विषय पर प्रभूत प्रकाश पडता है। मुस्लिम यात्रियो से भी शोध विषय पर प्रभूत प्रकाश पडता है। मुस्लिम यात्रियो मे सुलेमान, अबू जैद हसन सिराफी अल मसूदी, इब्नहौकल (नवी दसवी शताब्दी), अल बेरुनी (ग्यारहवी श०) अल इदरीसी (बारहवीं शताब्दी), मुहम्मद ऊफी (तेरहवी शताब्दी), इब्न बतूता (चौदहवी शताब्दी) आदि है जिनके विवरणो को इलियट एण्ड डाउसन ने अपने ग्रन्थ के **'हिस्ट्री टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियन्स'** मे सग्रहीत किया है। मुख्यता उन्होंने विदेशी व्यापारियों एव यात्रियो के लिए लिखा। व्यापार के विभिन्न पहलुओं यथा जलमार्ग स्थलमार्ग, का विस्तृत विवरण दिया है। पत्तन, नगर, व्यापारिक पण्य, स्थानीय उपज तथा भारतीय व्यापारिक प्रणाली के विषय मे इन्होने लिखा। वेनिस का यात्री मार्को-पोलो (तेरहवी शताब्दी) के विवरण से गुजरात एवं भारत के अन्य समुद्रतटीय राज्यों के विषय में जानकारी प्राप्त होती है। चीनी स्रोतो मे सबसे अधिक महत्व चाऊ-चू-कुआ के **ग्रथ शू-फान** (तेरहवीं शताब्दी) का है। यह चीनी व्यापारिक सघ का एक उच्च पदस्थ अधिकारी था तथा वहाँ (चीनी-पतन) पर आने जाने वाले विदेशी यात्रियो उनके सामानो इत्यादि के विषय में जानकारी प्राप्त करता रहता था।

भारतीय इतिहास को जानने के लिए आभिलेखिक साक्ष्य महत्वपूर्ण स्रोत होते हैं। चौलुक्य तथा बाघेल राजाओं (941-1297 ईस्वी) के 150 अभिलेख एव इनके अतिरिक्त अन्य पडोसी राजाओं, सामन्तों तथा व्यक्तिगत अभिलेख भी पश्चिमी भारत मे अत्यधिकि सख्या मे प्राप्त होते हैं। इन अभिलेखों का बहुत से पत्रिकाओं में अनुवादतथा प्रकाशन हुआ है। इनके अतिरिक्त विभिन्न पत्रिकाओं पीरियाडिकल्स एवं अन्य शोधपत्र आदि का यथा एपिग्रैफिया-इण्डिका, इंडियन-एटीक्यूरी, जरनल बाम्बे ब्रान्च ऑफ रायल एसियाटिक सोसाइटी, इण्डियन हिस्टारिकल क्वाटरली, आर्केलाजिकल सर्वे ऑफ इडिया इत्यादि का भी अध्ययन किया गया है।

अभिलेख—मूलराज (1) बडौदा ग्राट (974 ई०) (2) कडिग्रांट (987 ई०) (3) बलेरा ग्रांट (995 ई०)।

भीमदेव—(1)रधनपुर ग्राट (1929 ई०) (2) मुण्डक ग्राट (1930 ई०) (3) बाम्बे रॉयल एसियाटिक सोसाइटीज ग्राट (1036 ई०) (4) आबू-शिलालेख (1062 ई०)।

जयसिह—(1) अत्रु स्तम्भ शिलालेख (1127-28 ई०) (2) भिनमल शिलालेख वि० स० 1186) (3) गाला शिलालेख (1136 ई०) (4) भद्रेश्वर शिलालेख (1138 ई०) (5) दोहड स्तभ (1140 ई०) (6) उदयपुर शिलालेख (7) साभर शिलालेख।

कुमारपाल—(1)मगरोल शिलालेख (1145 ई०) (2) दोहड स्तभ लेख (1145-46 ईस्वी) (3) किराडु शिलालेख (वि० स० 1205) (4) चित्तौडगढ शिलालेख (1150 ई०) (5) वाडनगर प्रशस्ति (1151 ई०) (6) किराडु स्तभलेख (1153 ई०) (7) पालि अभिलेख (वि० स० 1209) (8) रतनपुर अभिलेख (9) नाडोल ग्राट (1156 ई०) (10) उदयपुर शिलालेख (1163 ईस्वी) (11) जालोर शिलालेख (वि० स० 1221) (12) उदयपुर स्तमलेख (466 ई०) (13) वेरावल प्रशस्ति (भाव वृहस्पति) (1169 ई०) (14) जूनागढ शिलालेख (1169 ई०) (15) नाडलाई शिलालेख (1171 ईस्वी)

अजयपाल—(1) उदयपुर शिलालेख (1173 ईस्वी) (2) ऊझा अभिलेख (वि० स० 1231 (3) बाम्बे सेक्रेटेरिएट ग्राट।

भीमदेव II—(1) वेरावल शिलालेख (2) किराडु शिलालेख (वि० स० 1235) (3) पत्तन अभिलेख (4) कडि ग्राट (1206 ई०) (5) तिमन शिलालेख (1206 ई०) (6) आबू शिलालेख (1208-9 ई०)

वस्तुपाल तेजपाल—(1) आबू अभिलेख (वि०स० 1287-97) (2) गिरनार अभिलेख।

वीसलदेव—(1) अहमदाबाद सतभलेख (1411-43 ई०) (2) दभोई शिलालेख

अर्जुनदेव—(1) वेरावल ग्राट (1264 ई०) (2) राव शिलालेख (3) गिरनार शिलालेख, इत्यादि से सामाजर्थिक इतिहास की महत्वपूर्ण सूचना मिलती है।

सिक्को के प्रमाण से भी तत्कालीन समाज की समृद्धि का ज्ञान होता है। चौलुक्य नरेश जयसिंह एव कुमारपाल ने स्वर्ण एव रजत सिक्के प्रवर्तित किए थे। कुछ गदहिया या गधइया प्रकार के सिक्के पश्चिमी भारत में विभिन्न स्थानों से प्राप्त होते हैं परन्तु अधिक प्रामाणिक न सिद्ध होने के कारण इस काल की मुद्रा प्रणाली पर अभिलेखो एव साहित्य से अधिक विश्वसनीय जानकारी प्राप्त होती है।

मूल स्रोतों के साथ बहुत से सहायक ग्रन्थों का भी अध्ययन आवश्यक हो गया। इनमें प्रमुख रुप से चौलुक्य वश का इतिहास ए० के मजूमदार की पुस्तक **'चौलुक्य ऑफ गुजरात'** में मिलता है। इनके अतिरिक्त चौलुक्यों के इतिहास का ज्ञान विदेशी लेखक ए० के० फोर्ब्स की **'रासमाला'** से भी होता है। इनके अतिरिक्त गुजरात-राजस्थान के इतिहास के सम्बन्ध मे विभिन्न पुस्तको का भी अध्ययन किया गया।

प्रबन्धचिन्तामणि के आलोक मे व्यवस्थित रुप से प्रस्तुत शोधग्रन्थ के प्रणयन हेतु समकालीन मूलग्रन्थो और सहायक ग्रन्थो की सामग्रियो का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। यही नही तथ्यो का गवेषणात्मक अनुशीलन एव परिशीलन करने का प्रयास है। विवेच्यकाल के अभिलेखो तथा मौद्रिक साक्ष्यो की सम्पुष्टि के पश्चात ही किसी निष्कर्ष पर पहुचने का प्रयास किया गया है। इस प्रकार प्रामाणिक एव पुष्ट साक्ष्यो के आलोक मे आधार-शोध ग्रन्थ के तथ्यो के ऐतिहासिक विवेचन करने का प्रयास प्रस्तुत शोध ग्रन्थ मे किया गया है।

द्वितीय अध्याय

वर्ण एवं जाति-व्यवस्था

वर्ण एवं जाति व्यवस्था

जाति—व्यवस्था के उद्‌भव तथा विकास एव जाति से सम्बन्धित विभिन्न पक्षो पर बहुत कुछ लिखा जा चुका है परन्तु उसमे बहुत विरोधाभास रहा है। हिन्दू समाज का मूल आधार वर्ण और जाति व्यवस्थाएँ रही हैं। आज भी ये प्रभावी रुप से समाज मे विद्यामन है।

पूर्व बैदिक काल मे जो विवरण प्राप्त होते है उनके आधार पर समाज तीन वर्गों में ब्रह्म, क्षत्र और विश में विभक्त था। अधीतकाल तक आते-आते समाज विभिन्न जातियो और उपजातियो मे विभाजित हो गया था। इन जातियो और उपजातियो की उत्पति के अनेक कारण थे। अन्तर्जातीय विवाह, विदेशी आक्रमण, श्रम का विभाजन, विभिन्न व्यवसायो के आधार पर विभिन्न जातिगत श्रेणियों आदि की उत्पत्ति के कारण विभिन्न जातियो तथा उपजातियो की सख्या में वृद्धि हुई थी। व्यवस्थागत जाति भेद के विकास के साथ जातियो मे सामाजिक उच्चता एव निम्नता का भी प्राविधान किया गया।

एक तरफ धर्म सूत्रो मे जाति को चातुर्वणो के अन्तर्गत रखने का प्रयास किया गया है तो दूसरी ओर बौद्धो तथा जैनो ने इसकी कठोरता का विरोध किया है[1]

यद्यपि धर्मशास्त्र ग्रन्थो मे जाति का आधार जन्म को माना गया है, लेकिन जैसे साहित्य मे जाति का आधार जन्म को न मान कर कर्म को माना गया है। कर्म ही जीवन मे सामाजिक स्तरीकरण के निर्धारण का कारक था।[2] व्यक्ति अपने कर्मों द्वारा ही ऊँच या नीच होता है। एक उच्च सामाजिक स्तर का व्यक्ति यदि निम्न कोटि का काम करता था तो वह निम्न स्तर का कहलाता था जबकि एक निम्न वर्ग का व्यक्ति भी कुलीन हो सकता था यदि वह अहिंसा मे आस्था रखता था। जैन धर्मानुयायियो का सघ के साथ भ्रातृत्व जैसा सम्बन्ध होता था फलस्वरुप वह जैन समाज के साथ सहभागिता तथा सह-विवाह का भी अधिकारी समझा जाता था।[3]

ग्यारहवीं शताब्दी मे प्रतिलोभ विवाहो पर उच्च जातियो द्वारा प्रतिबध लगाए जा रहे थे तथा अनुलोम विवाह पर जोर दिया जा रहा था। इस प्रकार चारो वर्ण कई-कई उपजातीय समूह में विभक्त हो गए। इनमें भी ब्राह्मण वर्ग मे सबसे अधिक उपविभाजन हुआ।

---

1 बी० एन० एस० यादव, सोसाइटी एण्ड कल्चर इन नार्दन इडिया पृष्ठ -10

2 जैन एन्टीक्यूरी, भाग-13 न० -1, 1948 पृ० 10

3 जिनेश्वराचार्य, महापुराण अध्याय 39,61-71

मुस्लिम आक्रमण जातीय उपविभाजन का एक प्रमुख कारण था आक्रमण की विभीषिका एव भय के कारण कुछ भारतीयो ने मुसलमानो के तौरतरीको को स्वीकार करना प्रारम्भ कर दिया था, जिसके फलस्वरुप हिन्दू व्यवस्थाकारो ने भी अन्तर्जातीय विवाह तथा सहभोगिता के लिए अपेक्षाकृत कठोर नियमो को बनाया होगा। सिद्धान्तत प्रारम्भ से वर्ण की अवधारणा मूलत सास्कृतिक थी। स्मृतिकारो ने वर्णों के जन्म के आधार पर विशेष अधिकारों की अपेक्षा सामाजिक कर्तव्यो पर अधिक बल दिया है। इसके विपरीत जाति- व्यवस्था मनुष्य के जन्म तथा आनुवशिकता पर बल देती है। इसमे कर्तव्यो के पालन की अपेक्षा विशेषाधिकारो पर बल दिया गया है।[1] धर्मशास्त्र ग्रन्थो के अनुसार वेदाध्ययन, यजन-याजन, दान लेना तथा दान देना, ब्राह्मणों के वर्ण कर्म, युद्ध करना एवं जनरक्षा क्षत्रियो के कर्म तथा कृषि, पशुपालन एव व्यापार वैश्यो के विशेषाधिकार माने गये थे।[2] शूद्रो का कर्तव्य द्विजातियो की सेवा करना ही माना गया।[3]

जैन साहित्य मे जाति सस्था तथा ब्राह्मणो की प्रधानता की बहुत आलोचना की गयी है तथा उन्हे तिरस्कृत भाव के साथ और जैन धर्म विरोधी के रुप मे चित्रित किया गया है। यह वर्ग धिज्ञातियो या धिग्जाति (निन्दायोग्य घृणित जाति) के रुप मे वर्णित किया गया है[4] परन्तु अधीत कालीन साक्ष्यो के अध्ययन से पता चलता है कि यद्यपि समाज मे उनका स्तर प्राचीन काल के जैसा नही था, फिर भी उन्हे समाज मे प्रतिष्ठा प्राप्त थी। इस काल मे समाज मे चार वर्णों का उल्लेख मात्र औपचारिकता जैसी प्रतीत होती है। वस्तुत प्रत्येक वर्ग मे जातियों व उपजातियो के रुप मे अनेक भेदोपभेद उत्पन्न हो गए थे। और समाजिक अनुक्रम मे इन्हें मूल जाति की अपेक्षा निम्न स्तर पर परिभाषित किया जाने लगा।

वर्णाश्रम—व्यवस्था की वैदिक मान्यताओं का प्रभाव सामाजिक जीवन के रग-रग मे इस प्रकार प्रवाहित था कि इस व्यवस्था का घोर विरोध करने वाले जैन धर्म के अनुयायी भी इसके प्रभाव से अछूते न रह सके। जैनाचार्यों ने वैदिक साहित्य तथा सामाजिक वातावरण के प्रभाव के कारण अनेक वैदिक मान्यताओं एव विचारों का जैनीकरण करने का प्रयास किया । मूल मे जैन धर्म वर्ण-व्यवस्था तथा उसके आधार पर आधारित सामाजिक व्यवस्था को स्वीकार नही करता था। सैद्धान्तिक ग्रन्थो मे सामाजिक व्यवस्था सम्बन्धी मन्तव्यो का वर्णन नही है।

---

1 धर्मशास्त्र का इतिहास, पी० वी० काणे I, पृ० 119.

2 गौतम सूत्र-द्विजातीना मध्ययनभिज्या दानम्।। ब्राहमणस्य अधिकार, प्रवचनया जेनप्रतिग्रहा · 12 पूर्वषु नियमस्तु13, 10/1-3,

3 आपस्तम्ब सूत्र-शुश्रूषा शूद्रस्येतरेषां वर्णानाम् 17 पूर्वस्मिन पूर्वस्मिर्वेण निश्रेयणं भूय /8 1/1/7-81

4 जगदीश चन्द्र जैन, लाइफ इन एन्शन्ट इन्डिया ऐज डिपिक्टेड इन जैन कैनन्स पृष्ठ 140 निशीथचूर्णी पीठिका 487 को चूर्णी आवश्यक चूर्णी पृ० 496 मे उल्लेख है- ऐगो धिज्ञाइओ पंडितभाणी सासणं खिंसति।

जैन पुराणो के रचनाकाल से ही विशिष्ट राजनीतिक परिस्थितियो के कारण जो अराजकता उत्पन्न हुई थी और जिसके फलस्वरुप सामाजिक सतुलन आघात-प्रतिघात का विषय बन रहा था[1] उनके कारण जैन अचार्यों को भी ब्राह्मण व्यवस्थापको द्वारा विभिन्न वर्गों के लिए निर्धारित आजिविका मे आबद्ध एव सीमित होने के लिए विवश होना पडा।

जैन पुराणो के अनुशीलन से वर्ण व्यवस्था से सम्बन्धित जो साक्ष्य प्राप्त होते है उनके अनुसार महापुराण (9 वी श०) मे वर्णित है कि आदिकाल मे वर्ण—व्यवस्था नही थी; किन्तु कालान्तर मे चार वर्णों मे विभक्त वर्ण व्यवस्था प्रकाश में आयी।[2] महापुराण कार तथा पद्मपुराणकार ने वर्ण विभाजन में पारम्परिक आधार के औचित्य सापेक्ष को स्वीकार किया है। इनके कथनानुसार व्रतो के सस्कार से ब्राह्मण, शस्त्र धारण करने से क्षत्रिय, न्यायोचित रीति से धनोपार्जन करने से वैश्य और इन से विपरीत वृत्ति का आश्रय लेने से मनुष्य शूद्र कहलाने लगे।[3]

ब्राह्मण

हिन्दू समाज मे चारो वर्णों मे ब्राह्मण को ही सर्वोच्च स्थान निरन्तर प्राप्त रहा है।[4] जैन प्रबन्धों तथा चरित्र ग्रन्थो के अध्ययन से यह पता चलता है कि तत्कालीन समाज मे सामान्यतया ब्राह्मणो को यद्यपि सम्मान प्राप्त था; परन्तु कतिपय ऐसे ब्राह्मण थे जो ब्राह्मणेत्तर व्यवसाय अपनाने लगे थे। फलस्वरुप ब्राहम्णो के सामाजिक स्तर मे एक विचारणीय सीमा तक इस काल में ह्रास हुआ।

प्रबन्धचिन्तामणि मे ब्राह्मणों द्वारा शास्त्रोचित एव ब्राह्मणेतर, दोनों तरह के व्यवसायो को अपनाये जाने के साक्ष्य प्राप्त होते है। यथा-वररुचि नामक ब्राह्मण विक्रमादित्य की पुत्री प्रियगुमञ्जरी को शिक्षा देने का कार्य करताथा[5] अवन्तिनगर में एक ब्राह्मण पाणिनि की व्याकरण पढाने का कार्य करता था।[6] इसी शोध आधार ग्रन्थ में ही एक स्थल पर यह उल्लेख प्राप्त होता है कि सचिव के पद पर वाहड नामक ब्राह्मण व्यक्ति कार्यरत था।[7] इसके अतिरिक्त 970 ई० से लेकर 1300 ईस्वी मे प्राप्त चौलुक्य अभिलेखो मे ब्राह्मण के मन्त्री तथा सचिव के रुप में

---

1 मत्स्य पुराण, पृ० 345, राजतंरगिणी 1/312-317; द्रष्टव्य यादव, सोसाइटी एंड कल्चर पृ० 4-5.

2 महापुराण 38.45

3 ब्राह्मण व्रत संकारत् क्षत्रियाः शास्त्र धारणात्। वणिजोअन्यार्जनान्नायात शूद्रान्यग्वृत्ति सश्रयात।। महापु०-38/46. पद्म पुराण 11/201-202.

4 प्रवरतारो लोके अस्मिन् ब्राह्मणेव सर्ववर्णानाम्। कलाविलास पृ० 79

5 प्रबन्धचिन्तामणि मेरुतुंग पृ० सं० 3

6 वहीं टॉनी पृ० 197.

7 वही, द्विजन्मना वाहड नाम्ना सचिवेन चिन्त्यमानराज्यभार, मेरु पृ० 98, टॉनी पृ० 155.

शासन के कार्यों मे भाग लेने के भी कतिपय सन्दर्भ प्राप्त होते है। इनके अतिरिक्त कुछ ब्राह्मण दूतक, महाक्षपटलिक तथा अन्य पदो पर भी कार्य करते थे। अभिलेखो में ब्राह्मणो को दान देने के उल्लेख भी प्राप्त होते है।

ग्यारहवी शताब्दी मे राजशेखर सूरि कृत **प्रबन्धकोश** मे भी सूत्रकण्ठा ब्राह्मण (अर्थात् आचारनियम कण्ठस्थ ब्राह्मण) को स्वर्णदान देने का उल्लेख मिलता है।[1] **पुरातन प्रबन्ध संग्रह**[2] मे भी ब्राह्मणो को दान देने के उदाहरण प्राप्त होते है। **सुकृतकीर्तिकल्लोलिनी** ग्रन्थ मे भी ब्राह्मणो को दान तथासम्मान देने के उदाहरण प्राप्त होते है।[3] **मानसोल्लास** मे ब्राह्मणो को करमुक्त ग्राम दान देने का उल्लेख प्राप्त होता है।

यद्यपि जैन-व्यवस्था ब्राह्मण-व्यवस्था का कट्टर विरोधी था तथा उसे निन्दनीय जाति (धिङ्जाति) मानता था परन्तु इसके बावजूद भी तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था मे जाति-व्यवस्था इतनी बलवती एव प्रभावी थी कि जैन आचार्यों ने सामाजिक व्यवस्था का वर्णन विधि ग्रन्थो मे विवृत चातुर्वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत ही करने के लिए मजबूर थे। भट्ट लक्ष्मीधर(बारहवी शताब्दी) गहडवाल राजा गौविन्दचन्द्र के साधविग्रहिक थे लेकिन उनके विचारों को भौगोलिक परिधि मे नही बॉधा जा सकता है। उनके ग्रन्थ समस्त उत्तरी भारत की स्थिति पर प्रकाश डालते हैं। **कृत्यकल्पतरु के दानकाण्ड**[4] में वह लिखते है कि वास्तव मे दान प्राप्त करने वाले ब्राह्मण वैदिक शिक्षा मे लगे रहते थे। वे पवित्रता, सत्यता मे आस्था रखते थे। इसके अतिरिक्त पाप से डरना, सन्ध्यापूजन करना, अहिंसा पालन करना, पवित्र अग्नि जलाना, धार्मिक शपथ ग्रहण करना, गायो का पालन करते थे तथा लालच से मुक्त रहते थे। **गृहस्थकाण्ड** मे ब्राह्मणो को वेदाग का ज्ञाता होना, अथवा अग्नि प्रज्ज्वलितकर्ता होना चाहिए, किसी की सेवा न स्वीकार करे तथा द्यूत एव वैश्यावृति से बचे रहे।[5] ब्राह्मणो का समाज मे उच्च स्तर केवल उनकी पारपरिक पवित्रता या सामाजिक स्तर में उच्चतम स्थान रखने के ही कारण नही था बल्कि यह सम्मान उन्हे उनकी दृढता, दया तथा बौद्धिक उपलब्धियों के कारण था।[6] तत्कालीन सामाजिक स्थिति पर विभिन्न विदेशी यात्रियो ने भी अपने विचार प्रस्तुत किये है। दसवीं शताब्दी मे आने वाला अरब यात्री अल मसूदी यह टिप्पणी करता है कि ब्राह्मण भारतीयों में सबसे प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित जाति थी।[7] एक अन्य मुस्लिम यात्री अलबरुनी जो ग्यारहवी सदी मे भारत आया था,

---

1 प्रबन्धकोश, विप्राय सपादलक्ष हेम दानेन, 8800 विप्राणां भोजन दाता पृ० 257.
2 पुरातन प्रबन्ध संग्रह, ब्राह्मणानामष्टादशसह स्रमग्रासने पृ०88
3 सुकृत, पृ० 80, 84.
4 कृत्यकल्पतरु, दानकाण्ड-विद्यायुक्तो धर्मशीलः प्रशान्त ज्ञान्तों दान्त. सत्यवादी कृतज्ञः (जी० ओ० एस०) पृ०26-30 यत्र उद्घृत याज्ञवल्वभ, वशिष्ठ, महाभारत और शतातप
5 सिरपुर पाषाण अभिलेख, एपिग्रैफियाइंडिका, 11 पृ० 192-193
6 बी० एन० एस० यादव-सोसाइटी एण्ड कल्चर पृ० 21
7 इलियट एण्ड डाउसन, 1 पृ० 19, हिस्ट्री टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियन

लिखता है कि ब्राह्मण समस्त मानव जाति मे विशिष्ट थे[1] और अन्य जातियो की भाति वे राजा को भुगतान करने तथा उसकी सेवा के लिए बाध्य नही थे।[2]

यद्यपि अधीतकाल मे भी ब्राह्मणो को अनुष्ठानिक वर्ण धर्मपालन की ही मान्यता थी परन्तु शोध आधार ग्रन्थ **प्रबन्धचिन्तामणि,** मे कुछ ब्राह्मणो द्वारा ब्राह्मणेत्तर व्यवसाय अपनाऍ जाने के भी उल्लेख प्राप्त होते है। विक्रमादित्य का एक सेवक (सेवक सा विद्विजन्मा) ब्राह्मण था।[3] परन्तु इससे स्पष्ट प्रकाश नही पडता है केवल इतना ही कहा जा सकता है कि ब्राह्मणो को भी सेवाकार्य मे प्रवृत्त किया जाता था । एक अन्य सदर्भ मे यह प्रतीत होता है कि कभी-कभी लोभ वश भी स्ववर्णधर्मेतर व्यवसाय भी ब्राह्मण अपना लिया करते थे क्योकि ब्राह्मण वररुचि राजा भोज के एक प्रश्न का उत्तर ढूढते हुए एक चरवाहे से मिला तथा उससे उत्तर प्राप्त करने के लिए वह उसके कुत्ते को अपने कधे पर बैठाता है और वह यही उत्तर भी देता है कि लोभ अकेला नही होता"। ध्यातव्य है कि ऐसा ब्राह्मण जिसे मासाहारी पशुछूने का प्राविधान नही था वह अपने कधे पर कुत्ते को बैठाता है।[4] ब्राह्मण यदा-कदा भार-वाहक का कार्य भी करते थे।[5] एक ब्राह्मण भिक्षार्जन के द्वारा भी जीविकोपार्जन किया करता था।[6] इसी ग्रन्थ मे एक अन्य स्थल पर ब्राह्मण को गोप्पालक भी बताया गया है।[7] इसी प्रकार ब्राह्मणो का स्ववर्णेतर व्यवसायों को अपनाने के उल्लेख **पुरातन प्रबन्ध-संग्रह** मे भी मिलते है। वे भिक्षाटन एव व्यापार भी करते थे।[8] यद्यपि अधीतकाल के विधिग्रन्थो एव अन्य कतिपय साहित्य ग्रन्थो मे भी ब्राह्मणो के लिए अध्ययन अध्यापन, यजनयाजन तथा दान ग्रहण करना दान देना ही बताया है।

उपरोक्त विधान के होने पर भी ब्राह्मणो द्वारा वर्णेतर व्यवसाय अपनाने के लिए तत्कालीन राजनीतिक सामन्तवादी सामाजिक एव आर्थिक घटक विशेषरुप से उत्तरदायी रहे होगे।

ग्याहरवी बारहवी, शताब्दी मे ब्राह्मणो की अनुष्ठानिक सामाजिक स्थिति सामन्तवादी प्रवृत्तियो से प्रभावित हुए बिना न रह सकी। ब्राह्मणो को वर्ण विहित व्यवसाय से जीविका चलाना कठिन हो गया था। जिससे उन्होंने

---

1 साचऊ, अल्बेरुनीज इंडिया, भाग-1 पृ० 101
2 वही भाग-2 पृ० 149
3 प्रबन्ध चिन्तामणि पाद टिप्पणी-17 (सेवा कसा विद्विजन्माना), मेरु पृ० 6
4 वही पृ० 48, टॉनी-पृ० 70.
5 वही पृ० 26, टॉनी, पृ०-37 काष्ठ भारवाहक
6 वही टॉनी पृ० 42.
7 वही टॉनी पृ० 192.
8 पु० प्र० सं० पृ० 88, पृ० 71

विधि- विहितेतर नियमो से भिन्न व्यवसायो को अपनाना प्रारम्भ कर दिया था। ऐसा प्रतीत होता है कि इन्ही कारणो से इस युग मे आपद्धर्म के बजाय सामान्य धर्म के रूप मे क्षत्रिय तथा वैश्य के व्यवसाय द्वारा ब्राह्मणो का जीविकोपार्जन विधिसम्मत माना गया ।

इस काल मे ब्राह्मणो को अपने लिए विहित कार्यों मे पौरोहित्य तथा अध्यापन कार्यों के अतिरिक्त अपने से निम्न वर्णों मे व्यवसाय को अपनाने के भी प्रसग प्राप्त होते है। **प्रबन्धचिन्तामणि** मे ब्राहाणो द्वारा निम्न वर्णों के पेशे अपनाए जाने के विवरणो मे सेवन, भारवहन, भिक्षाटन, गोपालन इत्यादि है। कल्हण ने ऐसे ब्राह्मण सैनिको का उल्लेख किया है जो युद्धभूमि मे भाग लेते थे।[1] सैन्यशास्त्र विशारद ब्राह्मण कल्याणराज युद्ध मे वीरगति को प्राप्त हुआ[2]।

ब्राह्मणो द्वारा सेना मे कार्य करने आदि के उल्लेख तो प्राचीन काल से ही प्राप्त होने लगे थे परन्तु सेवन, भिक्षाटन, पशु-चराना इत्यादि कार्य अधीतकाल मे सामान्य रुप से किये जाने के उल्लेख प्राप्त होते हैं। हेमचन्द्र ने लिखा है कि सपादलक्ष के राजा अर्णोराज की सेना का नेतृत्व एक ब्राह्मण नायक ने किया था[3]।अनेक अभिलेखों से ज्ञात होता है ब्राह्मण सेनानायक और सेनापति के पद को गौरवान्वित करते थे। पूर्वमध्ययुगीन चौलुक्य, कल्चुरि और चन्देल जैसे राजपूत राजवशो की सेनाओं मे ब्राह्मण सेनापतियो के पदो पर नियुक्ति थे।[4]

अधीतकाल मे ब्राह्मण वर्ग अपनी जीविकोपार्जन हेतु वैश्यवृत्ति भी अपना लिया करते थे। **पुरातन प्रबन्ध संग्रह** एक स्थान पर (द्विजोव्यापारी शब्द आया है। जिससे लगता है ब्राह्मण व्यापार भी करते थे। इसके अतिरिक्त अन्य समकालीन ग्रन्थो से ब्राह्मणो द्वारा कृषि कार्य तथा व्यापार आदि करने के उदाहरण प्राप्त होते है। **कथाकोशप्रकरण** (11वी शताब्दी)[5] से यह सूचना मिलती है कि कतिपय ब्राह्मण कृषक थे। चौलुक्य शासककुमारपाल के एक लेख (विसवत् 1202) मे हमे पता चलता है कि राजदेव एव सूरदेव ब्राह्मण भी संभवत कृषक ही थे।[6]

लक्ष्मीधर ने देवल को उद्घृत करते हुए सम्भवत कठिन परिस्थितियो मे ब्राह्मणों को कृषि करने की

---

1 राजतरंगिणी, दौ रम्यावट्टविजयो द्विजौ पौरोगवस्तया। कोष्ठक सज्रकारव्यश्च योधा युद्धे हता बभु.॥7,1481
2 वही, कल्याणराजाख्य समरेअभिमुखो हत ॥ 8.1071
3 द्वयाश्रंय काव्य,16
4 एपि० इंडि० lx. 158, इडि० एंडि० xxx 205, इडि० हिस्टारिकल क्वाटरली 1928 पृ० 35 पंक्ति 44-45 पुष्यमित्र शुंग (ब्राह्मण था) भी सेनापति की उपाधि धारम करता था परन्तु वह शासक था।
5 कथाकोशप्रकरण पृ० 120;
6 एच० एवं आई० जी०, III, 200 हिस्टारिकल इंस. ऑफ गुजरात-जी० वी० आचार्य

अनुमति प्रदान किया होगा कृषि उत्पादन से अगर वह षष्ठाश राज्य को कर देता था, 1/12 भगवान[1] के नाम पर निकला देता था और 1/30 ब्राह्मण को देता था, तो वह कोई पाप नही करता था।[2] लेकिन अल्वेरुनी ने उल्लेख किया है कि ब्राह्मणो का विशेष स्थितियो मे भी खेती करना विधि विहित नही था। वह लगभग चोरी के सामान अपराध समझा जाता था। लगता है ब्राह्मणो के स्वाचरण मे ही विश्वास आपेक्षित था[3] **शुक्रनीतिसार,** जो आठरहवी शताब्दी को कृति है किन्तु इसमे कुछ विवैच्यकालीन तथ्य प्राप्त होते है, मे ब्राह्मणो द्वारा खेती करना प्रसगित है।[4] इस प्रकार ब्राह्मण का अधिकाश भाग (46 66) दे देने पर उसके पास क्या बचेगा जबकि राज्यकर, शिल्पियों का देय इत्यादि बाकी ही है।

चौलुक्य भीम देव द्वितीय के गुहिल वशीय सामन्त अमृतपाल देव के ताम्रपत्र (वि० स० 1242) से ज्ञात होता है कि उसने ब्राह्मण यज्ञकर्ता ठाकुर शोभा के पुत्र मदन की षट्पचाशत मडल के एक ग्राम मे एक रहट दो हल भूमि तथा धान का खेत दान किया था[5] परमार, चाहमान, चौलुक्य शासको व उनके सामन्तो द्वारा ब्राह्मणों को प्राय भूमि, खेत आदि दान देते तथा गोचर भूमि की सुविधा प्रदान करने के प्रसग मिलते है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि बहुत से ब्राह्मण कृषि तथा पशुपालन भी करते रहे होगे।

ब्राह्मणो के कृषि के सम्बन्ध मे मनु आदि प्रारम्भिक स्मृतियो मे यह कहा गया है कि कृषि वृत्ति ब्राह्मण के लिए अपेक्षित नही है क्योकि, कर्षण कार्य से भूमिगत कीटाणुओं की हत्या होती है, किन्तु मनुस्मृतिकार ने यह भी स्पष्ट किया है कि आपातकाल मे ब्राह्मण कृषि कार्य सम्पन्न कर सकता है।[6] पराशर स्मृति (600 से 900 ई० के मध्य) ने कलियुग मे कृषि को ब्राह्मणो का जीविकोपार्जनार्थ सामान्य व्यवसाय सम्मिलित किया है।[7] पराशर स्मृति के टीकाकार माधवाचार्य (13 हवी-14 हवी) ने इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए वर्णन किया है कि कृषि वृत्ति जो कि प्रारम्भ मे ब्राह्मणो के लिए आपातकालीन वृत्ति थी कलियुग मे सामान्य वृत्ति बन गयी ।[8] बी० एन० एस० यादव का कथन है कि ब्राह्मण स्वय कृषि कार्य नही करता था, अपितु कृषि कार्य दूसरो के माध्यम से करवाता

---

1 गृहस्थकाड पृ० 194
2 वही पृ० 195
3 ग्यारहवी सदी का भारत, पृ० 106
4 शुक्र - 4260-261
5 ओझा, निबन्ध संग्रह, 2 पृ० 196
6 उद्धृत-कृत्यकल्परु के गृहस्थकाण्ड, पृ० 191.
7 परशिर स्मृति आचारकाण्ड कलौयुगेत्विमान धर्म्मान् वर्ण्यानाज्ञर्न्म नाषण"2/1 पृ० 578
8 वृहत्पराशर संहिता1/4

था, ऐसी स्थिति मे ब्राह्मण का (कर्षण-कार्य) से सम्बन्ध स्थापित नही हो पाता, अपितु" कृषि-वृत्ति" के साथ सम्बद्ध अवश्य हो जाता है।[1] किन्तु कूर्म- पुराण (जो पूर्वमाध्यकाल की रचना है) से यह स्पष्ट हो जाता है कि विकल्पत ब्राह्मण कर्षण कर सकता है।[2]

ब्राह्मण इस युग मे कृषि के साथ-साथ व्यापार भी करते थे। अल्बेरुनी (11 हवी श०) लिखता है कि यह अनुज्ञा ब्राह्मणो को विकटतम स्थिति मे प्राप्त थी। जब उसके पास आजीविका का और कोई साधन नही बचा रहता था[3] तब उसके अनुसार ब्राह्मण वस्त्र एव सोपाडी के व्यवसाय मे अपना भाग्य आजमा सकते थे। किन्तु उत्तम यह था कि इसके लिए वैश्यो को रखे, क्योकि व्यापार मे झूठ बोलना और धोखा देना पडता है, जो ब्राह्मणों के लिए वर्जित था। गाय, घोडे आदि पशुओं का व्यापार करना भी उनके लिए निषिद्ध था।[4]

व्याज पर ऋण देने का व्यवसाय प्राय ब्राह्मणो के लिए वर्जित था अल्बेरुनी लिखता है कि ब्राह्मणो को ब्याज से लाभ उठाने की अनुज्ञा नही थी[5]/ किन्तु लक्ष्मीधर क अनुसार आपद्वृत्तिकाल मे ब्राह्मण द्रव्य का लेनदेनेकर सकता था[6]। व्यापार के क्षेत्र मे भी स्मृतियो मे ब्राह्मणो के लिए नमक, लाख, मास, दूध, शहद तथा नशीले, पदार्थ शराब इत्यादि बेचना मना था।[7]

प्रबन्धचिन्तामणि मे ब्राह्मणो द्वारा अपनाऍ जाने वाले ब्राह्मणेतर व्यवसायो के उल्लेखो के अतिरिक्त भारत के अन्य भागो से भी इस प्रकार के उदाहरण प्राप्त होते है। क्षेमेन्द्र (11हवी शताब्दी) की **दशावतार चरित में** ब्राह्मणो ने स्तर का ह्रास करने वाले शिल्पियो के व्यवसाय नर्तन, शराब विक्रय, मक्खन, दुग्ध, नमक इत्यादि बेचना प्रारम्भ कर दिया था जो उनकी निम्न स्थिति का द्योतन करते है।

उपरोक्त साक्ष्यो के अनुशीलन से यह स्पष्ट होता है कि ब्राह्मणो को यद्यपि समाज मे सम्मानजनक स्थान अभी भी प्राप्त था, लेकिन अब राजनीतिक, आर्थिक तथा धार्मिक प्रभावो के कारण कतिपय ब्राह्मण पूर्व-निर्धारित षट्कार्यों के करने मात्र से अपनी जीविका चलाने में सक्षम नही थे, इस कारण उन्होने अन्य वर्णों के कार्यों को

---

1 यादव, बी० एन० एस० वही पृ० 10
2 वही, स्वय वा कर्षम कुर्यात्पाणिज्य वा कुसीदकम्। आचारकाण्ड (2/2) पृ० 80, पाद टिप्पणी 10ङ
3 ग्यारहवीं सदी का भारत पृ० 105 (ए आई, भाग-2 पृ० 132
4 उपर्युक्त, पृ० 104.
5 वही पृ० 115
6 गृहस्थकाण्ड, अनावृष्टया .. सा कुसीदे न विषे।214-221
7 अत्रि स्मृ० 21 (55 पृ० 10) वशिष्ट स्मृ० 231 (55 पृ० 190) पराशर स्मृ० 2,27

करना प्रारम्भ कर दिया था, जिससे उनके सामाजिक स्थिति के ह्रास का सकेत मिलता है।

ब्राह्मणों के विशेषाधिकार

पूर्व के युगो मे ब्राह्मणो की स्थिति का अवलोकन करने पर ज्ञात होता है। कि ब्राह्मणो को राज्य एव समाज मे विशेष अधिकार प्राप्त थे। **प्रबन्ध-चिन्तामणि** मे तथा समकालीन अन्य प्रबन्धो एव ग्रन्थो मे और अभिलेखो मे इस प्रकार के उदाहरण प्राप्त होते है।

दान ग्रहण करना ब्राह्मण के अधिकार के अन्तर्गत था। **प्रबन्धचिन्तामणि**[1] मे ब्राह्मणो को वेद का ज्ञान करने के लिए एक लाख सोने के टुकड़े दिए जाने का उल्लेख मिलता है। प्रस्तुत ग्रन्थ मे एक अन्य स्थल पर उल्लिखित है कि राजा भोज ने एक ब्राह्मण को लाख, लाख तथा 10 मदमस्त हाथी उपहार मे दिया[2] जिसकी अनुमानित मूल्य तत्कालीन 3 लाख स्वर्ण मुद्रा लगा सकते है। समकालीन ग्रन्थ **प्रबंधकोश** मे भी ब्राह्मण को धन तथा भूमिदान देने का उल्लेख मिलता है।[3] **पुरातन प्रबन्ध-संग्रह** मे भी ब्राह्मणो को धन-दान करने का उल्लेख प्राप्त होता है।[4] एक अन्य जैन ग्रन्थ **सुकृतकीर्तिकल्लोलिनी** (ग्यारहवी बारहवी शताब्दी) मे भी ब्राह्मणो को प्रभूत कनक दान देने का उल्लेख प्राप्त होता है।[5] इसी प्रकार हेम चन्द्र कृत द्वयाश्रयकाव्य मे भी प्रसगिता है कि ब्राह्मणों को गाय तथा भूमि दान दिया जाता था[6]। इसके अतिरिक्त ब्राह्मणो को भूमिदान दिए जाने के भी बहुत से उदाहरण मिलते है। **प्रबन्धचिन्तामणि**[7] चौलुक्य शासक सिद्धराज द्वारा बालक नगर मे सिंहपुर (अग्रहार) ग्राम जिसमे 106 ग्राम है ब्राह्मणो को दान देना प्रसगित है। ब्राह्मणो के दान-ग्रहीता होने की पुष्टि आभिलेखिक साक्ष्यों से भी होती है। चौलुक्य नरेशो के बहुत से अभिलेखो मे ब्राह्मणो को भूमि दान तथा अन्य वस्तुएँ दान दिए जाने के बहुत से उदाहरण प्राप्त होते है[8]। अन्य समकालीन राजवशो के नरेशो के अभिलेखो मे भी इसी प्रकार के विवरण प्राप्त होते है। बारहवी शताब्दी मे पौराणिक परपरा के प्रभाव के कारण हिन्दू शासक इस प्रकार के उपहार या दान

---

1 प्रबन्धचिन्तामणि मेरु० पृ० 106, टॉनी पृ० 170
2 वही पृ० 27, टॉनी पृ० 38 लक्षं लंक्ष पुनर्लक्षं मत्ताश्च दश दीनतन।
3 प्रबन्दकोश, विप्रैणैकेन हल खेडयता दिव्य ज्योतिष्मद्रत नकं भूमौ पतितं लेगे। पृ०57,58,83.पाइसद्द महाण्णव पृ० 279
4 पु० प्र० सं० पृ० 6
5 सुकृत-पृ०8
6 द्वयाश्रय 23
7 प्रबन्ध०चि० मेरु० पृ० 71 टॉनी पृ० 107 बालक देश दुर्ग भूभौ सिंह पुरमिति ब्राह्मण नामग्रहारा स्थापित।
8 अभिलेख इंडि० एटी० XI इंडि० एंटी०-6 48-55 जे० ए० एस० वी-XXx 1861 पृ० 195-210 एपि इंडि० 33 1959-60 पृ० ११९२-१९८, इडि० इडि एटी० 61 पृ० 201 एपि इंडि-11 पृ० 81, एपि इंडि XXI पृ० 171 आल इंडिया कांग्रेस ओरिएंटिल काग्रेस पृ० 643

देकर अधिक यश प्राप्त करना चाहते थे।[1] सोमदेव कृत **कथासरित्सागर**[2] मे भी एक कहानी है कि राजा ने एक हजार ग्राम तथा राजकीय शक्ति प्रतीक एक हाथी तथा छत्र एक ब्राह्मण को दान मे दिए और बाद मे उसे शाही पुरोहित के रुप मे नियुक्त किया। उसे उपहार मे दिए गए ग्रामो का राजस्व प्राप्त करने का अधिकार था। **कथाकोश**[3] (11 वी-12वी) शताब्दी मे भी यह कथा प्रसगित है कि श्री वर्धन प्रत्येक दिन दिवस आरम्भ होने पर जो पहला ब्राह्मण दिखाई पडता था उसे वह एक माशा सोना दान मे देता था। बारहवी शताब्दी मे लक्ष्मीधर, जो धर्म निबन्धकार थे, उन्होने दान के महत्व को प्रदर्शित करते हुए पृथक रुप से दान काण्ड की रचना की है और इसमे ब्राह्मणो को उपहार के साथ-साथ दान देने को भी महत्व पूर्ण बताया है। विभिन्न उपहारो मे बहुश भूमि दान ही दिया जाता था।[4]

कल्चुरि, गुर्जर और चौलुक्यों सम्बन्धी विवरणो मे यह कहा गया है कि ब्राह्मण को पञ्च-यज्ञ बलि, कर्ण, वैशव-देव, अग्निहोत्र तथा मेहमान- के लिए दान दिया जाता था। दर्श पूर्णमास, राजसूय, बाजपेय और अग्निष्टोम पाच यज्ञ थे जिनके लिए उपहार दिया जाता था।[5]

इस प्रकार दान सम्बन्धी जो विवरण उपलब्ध है, उनसे यह ज्ञात होता है कि श्रोत्रिय ब्राह्मण को दान दिया जाता था। यह परम्परा प्राचीन काल मे प्रचलित थी जो कि इस युग मे भी देखने को मिलती है। ब्राह्मणों को भूमि तथा ग्राम देने के फलस्वरुप सामन्ती प्रथा मे वृद्धि हो रही थी। वे पूर्व मध्यकाल मे ही सामन्तों की श्रेणी मे आने लगे थे। गहडवाल[6] चेदि[7] और चन्देल[8] राजपूतो के लेखो मे कुछ ब्राह्मणो के नाम मे "ठक्कुर" तथा "राउत" की उपाधि जोडने लगे थे जो कि सामान्यतया क्षत्रिय सामन्त धारण किया करते थे।

दान प्राप्त करने के साथ ही सभी प्रकार के करो से मुक्ति भी प्राचीन काल मे ब्राह्मणो का विशेषाधिकार था। **प्रबन्धचिन्तामणि** मे उल्लिखित राजा सिद्धराज द्वारा ब्राह्मणो को दिए गए 106 ग्राम कर से मुक्त थे।[9] इसी प्रकार के ब्राह्मणो के कर मुक्त भूमि दान के उदाहरण **सुकृतकीर्तिकल्लोलिनी** (ग्यारहवी शताब्दी) मे भी प्राप्त होता है।[10] आलोच्यकालीन धर्मशास्त्र ग्रन्थो तथा अन्य साहित्यिक स्रोतो से यह प्रमाण प्राप्त होता है कि ब्राह्मण,

---

1 बी० एन० एस० यादव सोसाइटी, पृ० 27
2 (वही पृ० 27) कथा/टॉनी-11 पृ० 59)
3 वही पृ० 27 कथा, टॉनी-2 पृ० 59) कथाकोश टॉनी पृ० 12
4 सोसाइटी एण्ड कल्चर, यादव बी० एन० एस० पृ० 26
5 आर्केलाजिकल सर्वे ऑफ गुजरात, एच० डी० सका लिया पृ० 209
6 सोसाइटी एण्ड कल्चर पृ० 28 (एपि० इडि० IX 131 पृ० 100, IX पृ० 219, XIX पृ० 294.
7 एपि० इडि० भाग०-XXI पृ० 95, इंडि० एंटी० पृ० 226.
8 एपि० इंडि० पृ० 155
9 प्रबन्ध चि०, मेरु० पृ० 71 टॉनी पृ० 107
10 सुकृत०पृ० 62 श्लोक-41

विशेषत श्रोत्रिय ब्राह्मण, कर मुक्त था तथा उससे किसी प्रकार का कर नही लिया जाता था। चौलुक्य राजाओं के कुछ अभिलेखो से भी ज्ञात होता है कि ब्राह्मण को कर से मुक्त रखा गया है।[1] लेकिन यह अधिकार केवल श्रोत्रिय ब्राह्मणो को ही था। पूर्व मध्यकालीन लेखक भी श्रोत्रिय ब्राह्मणो को कर से अलग ही रखते है। अल्बेरुनी के अनुसार भी श्रोत्रिय ब्राह्मणो को प्रत्येक प्रकार के करो से मुक्त रखा जाता था[2] इस तथ्य की पुष्टि लक्ष्मीधर[3] तथा सोमेश्वर[4] करते है। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि सामान्य ब्राह्मणो से कर लिया जाता था। कुछ बाद के अभिलेखो मे जो कि गुजरात मे 1230 ई० और उडीसा से (1436 ई० और 1470) ई० मे प्राप्त हुए है, ब्राह्मणो को कर मुक्त किये जाने के प्रसग मिलते है।[5] उक्त साक्ष्यो के अल्तेकर[6] तथा घोषाल[7] ठीक ही कहते है कि केवल श्रोत्रिय ब्राह्मण ही कर से मुक्त थे लेकिन अन्य ब्राह्मणो को कर देना पडता है। जो ग्राम ब्राह्मणो को दान मे दिए जाते थे उन्हे ब्रह्मदेय और अग्रहार कहा जाता था।[8] ब्राह्मणो के धार्मिक अधिकार के सम्बन्ध मे लक्ष्मीधर ने लिखा है कि ब्राह्मण पुरोहित के रुप मे समस्त धार्मिक कार्यों को करते थे।[9] पूर्व मध्य कालीन अभिलेखो से ब्राह्मणों के पुरोहित होने के अनेक विवरण मिलते है।

ग्यारहवी-बारहवी शताब्दी मे ब्राह्मणो को कर मुक्त भूमिदान के अतिरिक्त भी कुछ विशेष अधिकार प्राप्त थे। जिनका उल्लेख तत्कालीन साहित्य साक्ष्यो मे मिलता है। इस सम्बन्ध मे यद्यपि **प्रबन्धचिन्तामणि** मे कोई उल्लेख नही प्राप्त होता है तथापि कुछ अन्य ग्रन्थो मे इस प्रकार के उदाहरण प्राप्त होते है। ब्राह्मणो को दण्ड मे छूट की व्यवस्था तो प्राचीन काल से ही थी। मनु के अनुसार ब्राह्मण को किसी भी प्रकार का शारीरिक दण्ड नही दिया जा सकता था[10] तथा केवल देश से निर्वासित कर देना ही ब्राह्मणो के लिए सबसे बडा दण्ड था[11] पूर्व मध्ययुग मे भी ब्राह्मणो को उक्त सुविधाए प्राप्त थी। अल्बेरुनी लिखता है कि यदि हत्यारा ब्राह्मण हो और मृतक किसी दूसरे वर्ण का हो तो ब्राह्मण को दण्ड के रुप मे उपवास, प्रार्थना, अथवा दान के सम्पादन के रुप

1 एपि० इंडि० 19-1927-28 पृ० 69-75
2 साचऊ-द्वितीय पृ०149
3 कृत्यकल्पतरु राजधर्म काण्ड, पृ० 91-92 अकरः श्रोत्रिय
4 मानसोल्लास, 1,166
5 एपि० इंडि० -8, 211 जे० ए० एस० बी० भाग (1893)
6 अल्तेकर, स्टेट एम्ड गवर्नमेट इन एरंयेंट इंडिया, पृ० 195, हिस्ट्री ऑफ द राष्ट्रकूटाज, पृ० 328
7 घोषाल यु० एन० हिन्दू रेवेन्यू सिस्टम, पृ० 138
8 अर्थशास्त्र 21; एपिग्रैफिकल ग्लोसरीज, डी० सी० सरकार-अग्रहार-ब्राह्मणों को करमुक्त भूमिदान दिया जाता था। ब्रह्मदेय-ब्राह्मण ग्राम ब्राह्मणों को करमुक्त भूमि दी जाती थी।
9 राजधर्म.काण्ड, पृ० 176, यशस्तिलक पृ० 361
10 मनु स्मृति ब्राह्मणो न हन्यते यावदन्येष्वप्यपराधेषु 8.380
11 पी० वी० काणे, धर्मशास्त्र्त्र का इतिहास भाग-1 पृ० 141

मे केवल प्रायश्चित का ही विधान था। अगर मरने वाला ब्राह्मण है और मारने वाला भी ब्राह्मण है तो उसे प्रायश्चित का अधिकार नही, क्योकि, प्रायश्चित से अपराध समाप्त हो जता है।[1]

इसके विपरीत तत्कालीन अनेक धर्म ग्रन्थो मे ब्राह्मणो को दण्ड देने के समस्या पर विस्तार से विचार किया गया है और वही कही ब्राहाणो के इस विशेष अधिकार को चुनौती भी दी गयी है तथा उन्हे दण्ड का भागी स्वीकार किया गया है। स्वय ब्राह्मण ग्रन्थ एव धर्मशास्त्र भी ब्राह्मणो के उक्त विशेषाधिकार का विरोध करते है। **कृत्यकल्पतरु**[2] मे ब्राह्मणो के लिए प्राणदण्ड की व्यवस्था निषिद्ध की है किन्तु कुछ धर्मशास्त्रकारो मे प्राचीन विधाओं के विरुद्ध आततायी ब्राह्मण को प्राण्दण्ड देने का विधान किया गया है। सुमन्त को उद्घृत करते हुए विज्ञानेश्वर ने दुराचारी ब्राह्मणो को प्राणदण्ड देने की व्यवस्था की है।[3]स्मृतिचन्द्रिका (13 हवी श०) मे देवण्ण भट्ट ने भी ऐसे अपराधी ब्राह्मण का वध करने का समर्थन किया है।[4]अल्बेरुनी लिखता है कि यदि चोरी की गयी वस्तु बहुत बडी हो तो राजा ब्राह्मण को अधा करके उसका अग कटवा डाले। उसका बॉया हाथ और दाया पैर तथा दाया हाथ और बाया पैर कटवा दे।[5]

इस प्रकार के उल्लेखो से पता चलता है कि अधीत काल मे भी पूर्व निर्धारित विशेषाधिकार कुछ सीमा तक अक्षुण्ण थे, किन्तु आततायी दुराचारी एव अपराधी ब्राह्मण का शारीरिक दण्ड दिये जाने का विधान का अनुमोदन अधिकाश धर्म शास्त्रकार करते है । यह स्थिति ब्राह्मणो की पतनोन्मुख स्थिति का सज्ञान कराती हैं।

ब्राह्मणों का उप-विभाजन

प्राचीन काल से ही ब्राह्मण अपने गोत्र, प्रवर तथा शाखा के आधार पर विभिन्न उप जातियो में बटे थे। चौलुक्य राजाओं[6] के तथा अन्य राजवशो के अभिलेखो मे[7] भी इसी प्रकार का विभाजन प्राप्त होता है। ब्राह्मणो का यह उपविभाजन उनके व्यवसाय, शिक्षा, नैतिक शुद्धता एवं आचारण, धर्म, भौगोलिक क्षेत्र तथा परिवार या निवास के कारण हुआ।

---

1 ग्यारहवी सदी का भारत, पृ० 108 अल्वेरुनीज इंडिया -2 पृ० 162
2 गृहस्थकाण्ड क्षत्रियं चैव सर्प च ब्राह्मणं च वहुश्रुतम्। नावमन्येत वै दृष्ट कृशानपि कदाचन. पृ० 397
3 याज्ञ-स्मृति 2.21 II, 21
4 स्म०-तिचद्रिका प्रथम 30
5 ग्यारहवीं सदी का भारत पृ० 108-109, अल्बेरुनीज-1 पृ० 162
6 (इंडि० एंटी० XI वि० सं० 1256. एपि इंडि XXI पृ० 171, विस० 1120, एपि० इंडि० 1 प० 293 वि० सं० 1208.
7 आर० आर० त्रिपाठी, हिस्ट्री ऑफ कन्नौज पृ० 356

गुजरात मे ब्राह्मणो के विभिन्न वर्ग मोध[1] उदीच्य[2] सिहोर[3] रायकवाल[4] नागर[5] तथा प्राग्वाट प्राप्त होते है। अधीत काल के ग्रन्थ **रासमाला**[6] मे हमे ब्राह्मणो के विभिन्न नाम औदिच्च, सिहोरिया, नागर, श्रीमाली, भोजक, नागर इत्यादि नाम प्राप्त होते हे जिनका उल्लेख चौलुक्यो के विभिन्न अभिलेखो मे हुआ है।

दुर्लभराज के एक अभिलेख से यह पुष्ट होता है कि ब्राह्मण 1075 ई० तक केवल अपने गोत्र तथा शाखा से जाने जाते थे।[7] कालातर मे ये अपने निवास स्थान के नाम से भी जाने गए। स्थान के नाम, गोत्र से अधिक महत्वपूर्ण जाति बोधक हो गए ऐसा उल्लेख कुमारपाल के अभिलेख मिलता है।[8] इस काल मे ब्राह्मणो का उपविभाजन भौगोलिक क्षेत्रीयता के आधार पर ही अधिक हुआ था। गुजरात की ब्राह्मण जाति की अन्य उपशाखाओं के नाम वहाँ के पवित्र एव महत्वपूर्ण स्थानो जैसे मोदेरा, सिद्ध पुर, वाडनगर, गिरनार के नाम पर तथा लाट, भडौच, नादोड, अनावल, श्रीमाल, ओसिया, खेडा, इत्यादि के क्षेत्रीय आधार पर होते थे।[9] गोरखपुर से प्राप्त कतिपय अभिलेखो से सरुवार[10] तथा सरयूपारी शब्द मिलता है। उनको बाद के सरजूपारी ब्राह्मणो के ही उपजाति से जोडा जा सकता है। चौलुक्य शासक मूलराज द्वारा गुजरात मे रहने के लिए इन सरयूपारी ब्राह्मणों को बुलाया गया।[11]

गुजरात के नागर ब्राह्मण किसी सजातीय गोत्र मे विश्वास करते थे। गुजरात प्रदेश मे बाडनगर इनका मूल स्थान था।[12] परमार अभिलेखो मे इन्हे आनन्दपुर का बताया गया है अल्तेकर ने बादनगर तथा आनन्दपुर को एक साथ ही वर्णित किया है।[13] आनन्द पुर प्रशस्ति मे इन्हे द्विज महास्थान विप्रपुर वासी कहा गया है।[14]

---

1 पालनपुर प्लेट, भीम-1 1064 ई०, एपि० इडि० XXI. 173).
2 भीम-11022 ई० एच० आई० जी० 11 140
3 द्रयाश्रय काव्य -69.
4 भीम- द्वतीय 1256.
5 वही, एच० आई० जी० द्वितीय 162
6 रासमाला, ए० के० पोर्व्स पृ० 534-535
7 जे० बी० वी० आर० ए० एस० भाग XXVI.
8 इडि० एंटी XI पृ० 72
9 एम आर० मजूमदार, कल्चरल हिस्ट्री ऑफ गुजरात पृ० 44
10 एपि० इडि० भाग-5 पृ० 114 (गोविन्द चन्द्र की पाली प्लेट)
11 वही -8 पृ० 91
12 रासमाला, पृ० 534
13 एनृशन्ट टाउन्स एण्ड सिटीज इन गुजरात एण्ड काठियावाड, इडि० एटी पृ० 15-17
14 वही, माभूतथ तथापि तीव्र तपसो बाधेति भक्त्या नृप। वप्रं विप्रपुरामिरक्षणकृते निर्मापियामास स.) आनन्द पुर.प्र० एपि० इंडि० I पृ० 300.

उत्तर भारत के कुछ ब्राह्मणो को जो अन्तर्वेदी, श्रीमल और आनन्दनगर या नागर ब्राह्मण थे, सास्कृतिक श्रेष्ठता प्राप्त थी। जैन अनुश्रतियो से मोधेर पुर या मोधबक पतन का पता चलता है, जहाँ के ब्राह्मण को मोध कहा जाता था।[1] वे ब्राह्मण अधिकतर महाक्षपटलिक या प्रशासनिक पद पर कार्य करते थे।[2]

श्रीमाल ब्राह्मण मूलत जालौर मे श्रीमाल (भिनमाल) नगर के प्रबासी थे। महाकवि माघ इसी वश के थे। इन नगर का पतन होने पर वे कच्छ, सौराष्ट्र तथा मारवाड मे बस गए थे, जिनमे से बहुत से ब्राह्मणो ने जैन धर्म अपना लिया था, ऐसे ब्राह्मणो को भोजक कहा गया ।[3]

कुछ आप्रवासी ब्राह्मण अपने नाम के साथ अपने मूल स्थान का नाम भी जोडे रहते थे, जैसे झालोरा, मेवाड़ा, सारस्वत, साचोरा, श्रीमाली, श्री गौड इत्यादि थे।[4] ये उपविभाजन विशेष रुप से गुजरात राजस्थान, तथा उत्तर भारत के अन्य राज्यो मे अधिकतर पाया जाता है।

समकालीन अभिलेखो से हमे राजपूताने मे ब्राह्मणो के दो वर्गों का परिचय मिलता है। नवी शताब्दी ईस्वी के जोधपुर अभिलेख मे मग "और" सकद्वीपीय" ब्राह्मणो का प्रसग मिलता है, जो कि कक्कुक के घटियाल अभिलेख के कर्ता माने जाते है। ब्राह्मणो की एक अन्य उपजाति मोट्ट्क का भी गुजरात मे चौदहवी शताब्दी मे प्रवासी होने का उल्लेख मिलता है लेकिन राष्ट्रकूट लेखो मे इनके गुजरात प्रवास की प्राचीनता नवी शताब्दी ईस्वी से मिलती है।

विवेच्यकाल मे उपविभाजन मेवृद्धि ब्राह्मणो के स्थानान्तरण से भी हुई थी। आप्रवासी ब्राह्मण अपने को प्रवासी ब्राह्मणों से मिलाना नही चाहते थे, क्योंकि वे उनको भोजन और रक्त शुद्धता दोनों दृष्टियों से अशुद्ध मानते थे। मूलराज के आमन्त्रण पर आने वाले ब्राह्मणों को अन्य ब्राह्मणो की अपेक्षा उच्च स्तर प्राप्त था। इसी कारण ये ब्राह्मण औदीच्य कहलाए। अदानग्रहीता ब्राह्मणो को तौलुकीय- औदिच्य कहा जाता था।[5] परमार अभिलेखो में भी ब्राह्मणो के गोत्र की एक लम्बी सूची प्राप्त होती है। जिससे मालवा क्षेत्र मे भी ब्राह्मणो की विभिन्न कारणों से उप-जातियो मे बट जाने का पता चलता है। इस काल मेदीक्षित, शुक्ल, त्रिपाठी अग्निहोत्र, याज्ञिक, अवस्थी पाठक इत्यादि नाम प्राप्त होते है।

आप्रवासी उदीच्य, ब्राह्मणो को मूलराज ने ग्राम-दान भी दिया। जो दानग्रहीता ब्राह्मण सिद्धपुरीया सिहोरिया कहलाए।

---

1 रास माला पृ० 80
2 संकालिया एच० डी०, वही पृ० 208.
3 रासमाला पृ० 535
4 एम० आर० मजूमदार वही पृ० 45
5 रासमाला पृ० 534.

इनके अतिरिक्त गुजरात के आसपास के क्षेत्र अहमदाबाद तथा बडौदा क्षेत्रो मे रायकवाल का प्राधान्य था वे दक्षिणा और कृषि पर ही आश्रित रहते थे, चौलुक्य राजाओं के अभिलेखो मे भी इनका उल्लेख आया है।[1]

इनके विभाजन का एक कारण विदेशी विधर्मियो की भारतीयो तथा भारतीय धर्म एव सस्कृति के प्रति कठोर नीति भी थी। ऐसी परिस्थिति मे ब्राह्मणो ने रक्त शुद्धतापर विशेष बल दिया। परिणाम स्वरुप समाज मे उप जातियो का स्वरुप ठोस हो गया।[2]

क्षत्रिय

सामाजिक स्तरीकरण के अवरोही अनुक्रम मे द्वितीय स्थान क्षत्रियो को प्राप्त था। उनका प्रमुख कर्तव्य प्रशासन एव समाज की सुरक्षा था। **प्रबन्धचिन्ताणि** ग्रन्थ मे आचार्य मेरुतुग ने कुशल शासक विक्रमादित्य तथा चौलुक्य राजा कुमारपाल को क्षत्रिय ही बताया है। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत ग्रन्थ मे आए हुए अन्य नाम "चापोत्कट" तथा "झाला" जाति का उल्लेख भी क्षत्रिय के अन्तर्गत ही किया है।[3] **द्वयाश्रयकाव्य** में हेम चन्द्र ने क्षत्र का उल्लेख क्षत्रिय के सन्दर्भ मे किया है। [4] हेमचन्द्र की ही त्रिषष्टिशला का पुरुष चरित्र[5] मे क्षत्रियो को चार भागों में बाटा था, जो उग्र, भोग, राजन्य और क्षत्र थे।

प्राचीन काल से ही क्षत्रिय युद्ध तथा शासन का कार्य करते रहे है।[6] **अभिधानचिन्तामणि** मे क्षत्रिय के पर्याय क्षत्रम्, क्षत्रिय, राजा, राजन्य बाहुसभव बताए गये हैं।[7] अल्बेरुनी भी क्षत्रियो को समाज में दूसरा स्थान देता है परन्तु वह उन्हे ब्राह्मणो से अधिक नीचे नहीं रखता है।[8]भोजकृत ग्रन्थ **समरागंणसूत्रधार**[9] में भी वर्णों का विभाजन किया गया है तथा क्षत्रियो को दूसरे स्थान पर रखते हुए उन्हे शूर तथा उत्साही बताया है। पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह में भी क्षत्रियो का युद्ध करने तथा वीर होने का उल्लेख है।[10] जैन पुराणो के अनुसार विनाश

प्रतीत

1 संकालिया, एच० डी०/पृ० 207.
2 परमारो के अभिलेख पृ० 35
3 प्रबन्ध चिन्तामणि मेरु० पृ० 12 72, टॉनी पृ० 109
4 द्वयाश्रयाकाव्य-5 116,
5 त्रिश० पु० च० 1.2. 974-979 सभवत उग्र- युद्ध लड़ने वाले, योद्धा, भोग- ग्रामपति, सामत, राजा से भोग के रुप मे प्राप्त भूमि के भोगपति रहे होगे। राजन्य- शासक - राज्य करने वाले राउत, राजक, ठक्कर तथा क्षत्र - सामान्य रान क्षत्रिय इत्यादि रहे होगे।
6 धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-प्रथम पृ० 113
7 अभिधानचिन्तामणि श्लोक 527 पृ० 214
8 साचऊ, पृ० 101
9 समरांगणसूत्रधार, ये तु शूरा महोत्साहा शस्त्रा रक्षणक्षमा. 11 पृ० 26
10 पु० प्र० सं०, धनुर्विभु गृभाति क्षत्रियैस्मिन्नम। पृ० 25

(क्षत्) से रक्षा (त्राण) करने से क्षत्रिय सञ्ज्ञा प्राप्त होती है।

क्षत्रियों का ब्राह्मणो की भाति उनके प्रवास स्थान के नाम पर उपविभाजन तो नही मिलता परन्तु उनका शासक एव शासित के रुप मे वर्गीकरण अवश्य मिलता है। द्वितीय वर्ग से कभी-कभी ग्राम प्रमुख भी होते थे। क्षत्रियो को राजपूत भी कहा जाता था। ये शब्द इस काल के अभिलेखो मे शासन करने वाले क्षत्रियो के लिए प्रयुक्त हुआ है[1] जो क्षत्रियो के 36 जातियो से उत्पन्न होने वाले थे तथा यह (राजपूत) इनकी राउत, राणक ठक्कुर आदि स्थानीय उपाधियो के समानार्थक प्रतीत होता है।

उत्तर भारत के शासक वर्ग मे गुहिल, गुर्जर-प्रतिहार, चाहड, चाहमान, चौलुक्य, राष्ट्रकूट, चन्देल, परमार, कच्छप घाट तथा गहडवाल अपने को राजपूत कहते थे। वे अपने को महात्मा वशिष्ठ द्वारा आबू पर्वत पर प्रज्वलित अग्निकुण्ड से उत्पन्न बताते है। राजतरगिणी [2] की एक सूची मे राजपूतो के 36 नाम प्राप्त होते है।[3] **कथासरित्सागर** मे बहादुर राजपूत रक्षको की कहानियॉं मिलती है।[4] **वर्णरत्नाकर**[5] मे भी 36 नाम बताए गए है। **कुमारपालचरित** मे जो राजपूतो के नामो की सूची प्राप्त होती है वह इस प्रकार है—

इक्ष्वाकु, सोम, यदु, परमार, चौहान, चालुक्य, चण्डक, सिलार (राजतिलक), चापोत्कट, प्रतीहार, सक्रमर्क, चुरपाल, चन्देल, ओहिल, पलक, मौर्य, मखवहन, धनपाल, रजपलक, दह्य, तरदलिका, निकुम्भ, हूण, बल, हरिअल, मोकर और पोकर। विलियम क्रुक द्वारा सम्पादित टॉडकृत एनल्स ऑफ एन्टीक्यूटीज आफ राजस्थान मे मारवाड़ के प्राचीन जैन मदिरो मे विवृत्त साक्ष्य के आधार पर राजपूतो की 36 जाति की तालिका दी गयी है जो इस प्रकार है— इक्ष्वाकु, सूर्य, सोम या चन्द्र, यदु, चाहमान, परमार, चालुक्य या सोलकी, परिहार, चावड, दुदिया, राठौर, गुहिल, दभि, मखवहन, नोर्क अस्वरिअ, सलर या सिलर, सिद, सेपत, हन या हूण, किर्जल, हरकूर, रजपलि, धनपलि, अग्निपलि, बल, झल, भगदोल, मोतदन, गोहोर, कगइर, करजिओ, चदलिअ, पोकर, निकुम्भ तथा सलल।

"राजपूत" का शाब्दिक अर्थ राजा का पुत्र ही होता है। परन्तु पूर्व मध्यकाल मे यह शब्द उन क्षत्रियों के लिए भी प्रयुक्त होने लगा जो कि कुछ ग्रामो के अधिकारी छोटे सरकारी पदो पर नियुक्त थे।[6]

1 एपि० इंडि० 14 पृ० 11591, बल्लालसेन अभि० रे राजपुत्रा त्रिशति
2 राजतरंगिणी- 7-1617
3 राजतरंगिणी, प्रख्यापयन्तः संभूतिः षटत्रिंशति · कुलेषु ये। तेजस्विनो भास्वैतोडपि सहन्ते नोबकैः स्थितिम् 7, 1617-1618
4 कथासरित्सागर, टॉनी, 1 पृ० 72, 140, 151
5 एपि इंडि० 1965 पृ० 35
6 सोसाइटी एण्ड कल्चर पृ० 32.

गुप्तोत्तर काल मे क्षत्रियो का शुद्ध जातिगत स्वरुप नही रह गया था। बहुत सी विदेशी जातियो का रक्त सम्मिश्रण हो गया था विदेशी आक्रमणकारी शक, कुषाण पहलव, हूण इत्यादि जो भारत मे पूर्णतया बस गए थे। वे भारतीय सामाजिक ढाचे मे भी मिल गए थे। इस काल मे मिलने वाली विदेशी जातियो ने क्षत्रियो के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया तथा समय के साथ-साथ उन्होने उनके साथ सामाजिक तथा रक्त सम्बन्ध भी कायम किया।

कतिपय विद्वानो ने इनकी दैवी उत्पत्ति मानी है परन्तु यूरोपीय तथा कुछ विद्वानो ने उनकी उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्तो को स्वीकार नही किया है । उनके अनुसार राजपूत जाति का प्राचीन वैदिक क्षत्रियो से कोई सम्बन्ध नही था । वे उन्हे यूची, शक, हूण, गुर्जर आदि विदेशी जातियो की सन्तान मानते है । टाड, क्रूक, भण्डारकर आदि इसी मत के पोषक है । इनके विपरीत सी०वी०वैद्य राजपूतो को विशुद्ध क्षत्रियो को सन्तान मानते है । जेड जी०एम० डरेट ने राजपूतो को प्राचीन क्षत्रिय जाति से पृथक करने का प्रयत्न किया है ।[1] किन्तु डा० बी० एन० एस यादव इस मत की विश्वसनीयता स्वीकार नही करते है ।[2]अतैव ऐसी स्थिति मे सामान्यतया यही माना जा सकता है कि राजपूत क्षत्रिय वर्ग से पृथक नही थे क्योकि आलोच्यकाल मे राजपूत विभिन्न कुलो मे विभक्त हो गये थे । कुछ ने पुरोहितो के गोत्रो को अपना लिया था । मेवाड के गुहिल वशियों का गौत्र बैजवार्य था ।[3] इसी प्रकार चौलुक्य मानव्य गोत्रीय भी थे ।[4]इस गोत्र-वैभिन्य का कारण यह प्रतीत होता है कि राजपूतो को गोत्र उनके पुरोहितो के गोत्रो के आधार पर माने गये थे । अलग-अलग प्रदेशो मे बसने पर तत्क्षेत्रीय पुरोहितो के गोत्र धारण करना प्रथा बन गयी थी ।

मिताक्षरा के अनुसार जिन क्षत्रियो और वैश्यो के स्वय के गोत्र व प्रवर नहीं होते, उन्हे अपने पुरोहितो के गोत्र व प्रवर अपना लेने चाहिए ।[5] इसमे सदेह नही कि **मिताक्षरा** को इस उक्ति का व्यापक प्रचलन था। राजपूतो के विभिन्न नाम इस तथ्य की पुष्टि करते है ।

प्रबन्धचिन्तामणि मे आने वाले क्षत्रिय नाम चापोत्कट तथा झाला का उल्लेख टाड द्वारा दी गयी राजपूतों की सूची मे भी प्राप्त होता है, जिससे यह अनुमान किया जा सकता है कि इस काल मे राजपूतो ने क्षत्रियों के व्यवसायो को अपना कर समाज मे अपना महत्वपूर्ण स्थान बना लिया था । झाला जाति ने चौलुक्य और बघेलों

---

1 डरेट, जे०इ०एस०एच०ओ०, भाग-7 1964 पृ०74
2 सोसाइटी एण्ड कल्चर, पृ०32
3 गौरीशंकर हीरानन्द ओझा, राजपूताने का इतिहास, प्रथम, पृ०352
4 वही, पृ०1-353पर उद्धघृत
5 याज्ञ-स्मृति, प्रथम 53पर टीका यजसा नस्थार्षेया न्प्रवणोते पौरो हित्यान्राजनर्या वशां प्रवृणीते

के बाद अणहिलवाड पर अपना अधिकार किया था । सर्वप्रथम झाला जाति के अस्तित्व का उल्लेख मकवान जाति के अन्तर्गत केरोकाट क्षेत्र मे हुआ था जो कच्छ मे है । [1]

राजस्थान एव गुजरात जैसे क्षेत्रो मे सामन्तो ने न केवल राजनीतिक दृष्टि से, अपितु सामाजिक दृष्टि से भी अपना गौरव स्थापित किया था ।[2]

क्षत्रिय के कार्य तथा विशेषाधिकार

प्राचीन काल से ही क्षत्रिय का कार्य रक्षा करना तथा शासन करना रहा है । प्रबन्धचिन्तामणि ग्रन्थ के अन्तर्गत शासन करने वाले कुशल शासक विक्रमादित्य, कुमारपाल तथा अन्य राजा क्षत्रिय वर्ग के ही थे । **प्रबन्धकोश**,[3] **पुरातन प्रबन्ध-संग्रह**,[4] **समरांगणसूत्रधार**[5] इत्यादि ग्रन्थो मे क्षत्रिय द्वारा रक्षा का कार्य करने तथा उनके वीर योद्धा होने के उल्लेख प्राप्त होते है । जैन पुराणो मे इनके अन्य कर्तव्यो का उल्लेख किया है । महापुराण मे क्षत्रियो के पाच कृत्य-कुल-पालन, बुद्धि पालन, आत्मरक्षा, प्रजा-रक्षा तथा समञ्जसत्व धर्म (कर्तव्य)वर्णित है ।[6] उक्त पुराण मे ही क्षत्रियो के अन्य कर्तव्यों मे न्यायोचित वृत्ति, धर्मानुसार धनोपार्जन रक्षा करना, वृद्धि को प्राप्त करना तथा योग्य पात्र को दान देने का भी विधान है ।[7]

एक आदर्श क्षत्रिय बहादुर आत्म-नियत्रक प्रजा रक्षक, दुष्ट दमनक होता है। त्याग, करुणा, उपहार लेना और वेद पढना उनका अधिकार था।

कृत्यकल्पतरु तथा गृहस्थरत्नाकर नामक ग्रन्थो से क्षत्रिय के अनुष्ठानिक कर्तव्यो तथा विशेषाधिकार का पता चलता है। अन्य तीन वर्णों की रक्षा करनी ही उनका कर्तव्य था। देवल (600-900ई०) कहते है कि क्षत्रियों को भगवान को पूजा तथा ब्राह्मणो की सेवा करनी चाहिए। इस काल मे क्षत्रिय को ब्राह्मण के लिये विहित दो कार्यों अध्यापन तथा त्याग के अतिरिक्त अन्य कार्य कर सकते थे। उसे वेद पढने का अधिकार था परन्तु पढाने का नही।[8] लक्ष्मीधर ने दैवल को उद्धृत करते हुए क्षत्रिय को उपहार लेने की तथा विजित वस्तुऐं ग्रहण करने

---

1 रासमाला, पृ०229
2 यादव, वही पृ०34
3 प्रबन्धकोश पृ०44
4 पु०प्र०सं०पृ०25
5 समारांगण, पृ०26श्लोक11
6 महा०42/4
7 वही 42/3
8 गृहस्थरत्नाकर, पृ०253

की छूट दी है।[1]

क्षत्रियो को विभिन्न विवाह करने तथा शराब पीने का विशेषाधिकार था। ब्राह्मण के लिए शराब पीना तथा राक्षस और गधर्व प्रकार का विवाह वर्जित था जबकि क्षत्रियो के लिए ऐसी कोई पाबदी नही थी। कभी-कभी क्षत्रियो को भेट स्वीकार करने का विशेषाधिकार भी दिया गया।[2]

अल्बेरुनी लिखता है कि चोरी के अपराध मे क्षत्रिय को बिना अधा किए ही उसका बाया पैर और दायां हाथ या दाहिना पैर और बाया हाथ काटते है। क्षत्रिय से निम्न वर्णों को वे चोरी के अपराध मे प्राणदड देते है।[3]

पूर्व मध्यकालीन विद्वान लक्ष्मीधर ने मनु को उदघृत करते हुए आपत्तिकाल मे क्षत्रियो को कृषि-कर्म करने का विधान किया है।[4] राजा भोज के समकालीन क्षत्रिय-पुत्र मैमाक को कृषि-कर्म मे प्रवृत्त बताया गया है। क्षत्रिय अपने परिवार के पोषण के निमित्त आपदकाल मे कुछ प्रतिबन्धो के साथ व्यापार और वाणिज्य के कार्य भी अपना सकता था।

दसवी शताब्दी तक आते-आते क्षत्रिय दो वर्गों - उच्च वर्गीय क्षत्रिय(सत्क्षत्रिय) तथा निम्न वर्गीय क्षत्रि (असतक्षत्रिय) मे विभक्त हो गये थे। इस प्रकार क्षत्रिय दो अन्य उप जातियो मे बट गये थे। जो सरकारी पदों को प्राप्त करते थे, वे अपने को साधारण क्षत्रियो से बेहतर मानते थे। दसवीं शताब्दी का एक अरब यात्री इब्न खुर्ददबा ने क्षत्रियो की दो श्रेणी बताई है- सब कुप्रिया तथा कटारिया।[5] अल्तेकर के अनुसार इन्हें संस्कृत में सत्क्षत्रिय ओर क्षत्रिय कहा जाता है।[6] इसका तात्पर्य यह हुआ कि जो क्षत्रिय शुद्ध रक्त के होते थे वे सत्क्षत्रिय कहलाते थे तथा उनमे से ही राजाओं की नियुक्ति होती थी। जबकि जो मिश्रित रक्त वाले होते थे वे साधारण क्षत्रिय वर्ग मे आते थे तथा वे अन्य अधिकारी और जागीरदार होते थे।

द्वयाश्रयकाव्य[7] मे भी दो प्रकार के क्षत्रियो का उल्लेख मिलता है। प्रथम शुद्ध क्षरियत तथा द्वितीय 'ब्राह्मणोकार्स

---

1 दानकाण्ड, पृ०37
2 इंडि०ऐटी32पृ०135
3 ग्यारहवीं शदी का भारत पृ०115अल्वेरुनी-11.164
4 दानकाण्ड,पृ०37,गृहस्थकाण्ड पृ०191,मनु-वैश्य वृत्ताअपि जी वस्तु ब्राह्मण क्षत्रियोडपिवा। हिंसाप्रार्या पराधीनां कृषि यत्नेन वर्जयेत।10.83
5 इलियट एण्ड डाउसन1पृ०16
6 अंल्तेकर, राष्ट्रकूटाजं एण्ड देअर टाइम्स- 1318-319
7 द्वयाश्रयकाव्य,21.115

कहलाते थे। **द्वयाश्रय के टीकाकार** अभय तिलक गणि के अनुसार जो क्षत्रिय पिता तथा क्षत्रिय माता से उत्पन्न होते थे बे प्रथम वर्ग के अन्तर्गत आते थे। दूसरे वर्ग मे वे लोग थे जो जन्म से ब्राह्मण होते थे और समाज में उपेक्षित होने के कारण बाद मे अपना जीवन चलाने के लिए युद्ध कार्य अपना लेते थे या वे ब्राह्मण जो युद्ध के माध्यम से अपना जीवन चलाते थे, ब्राह्मण कस(ब्रह्मक्षत्र)कहलाते थे।[1]

घुर्ये का यह मत समोचीन प्रतीत होता है कि 11हवी श०ईस्वी से क्षत्रियो का केवल छायामात्र अस्तित्व ही रह गया था।[2] उन्होने इसके बहुत से कारण भी बताए है। विवेच्यकाल मे क्षत्रिय वर्ग विशुद्ध नहीं रह गया था क्योकि विभिन्न सत्ताधारी वर्ग या जाति के लोग भी क्षत्रियत्व के दावेदार होकर इसी मे समाहित हो गये। दूसरे विदेशियो के साथ अन्तर्जातीय एव देशीय विवाह के फलस्वरुप भी रक्तमिश्रणता मे वृद्धि हुई और इन सभी मिश्रित वर्ग के लोगो को इस काल के साहित्य में क्षत्रिय की अपेक्षा राजपूत की सज्ञा से बहुशः अभिहित किया गया। **प्रबन्धचिन्तामणि** मे वर्णित अणहिलवाड के चौलुक्य भी राजपूतो की श्रेणी मे ही बताए गये है तथा उस समय भारत वर्ष मे उत्तर तथा दक्षिण के विभिन्न राज्यो मे राजपूतो का ही शासन था।

वैश्य

भारतीय सामाजिक स्तरीकरण मे तृतीय स्थान पर वैश्य थे। ये प्रमुख रुप से कृषि तथा व्यापार का कार्य करते थे। **प्रबन्धचिन्तामणि** के अध्ययन से हमे तत्कालीन समाज मे वैश्यो के स्तर के सन्दर्भ मे महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। इस समय गुजरात, राजस्थान के क्षेत्रो मे वैश्यो का सामाजिक स्तर लौकिक दृष्टि से बहुत अच्छा था, जिसकी पुष्टि अन्य समसामयिक ग्रन्थो एव अभिलेखो से भी होती है। अधीतकाल में वैश्यो को प्रशासनिक कार्य, धार्मिक कार्य तथा दान देना इत्यादि अधिकार भी प्राप्त हो गये थे। उनके व्यवसाय के आधार पर तथा निवास क्षेत्रों के आधार पर वैश्यो का भी उपविभाजन हुआ।

प्रबन्धचिन्तामणि मे वैश्यो द्वारा पारम्परिक कार्यों के अतिरिक्त प्रशासनिक एव धार्मिक कार्यों में भी भाग लेने के उल्लेख प्राप्त होते हैं। सर्वप्रथम आठवी शताब्दी मे चावडा वश के सस्थापक वनराज द्वारा व्यापारियों की सेना मे भर्ती का कार्य शुरु किया गया जो तेरहवी सदी तक चलता रहा।[3] वनराज ने ही जम्बा नामक व्यापारी(श्रेष्ठी) की बहादुरी से प्रसन्न होकर उसे महामात्य पद पर नियुक्त किया। यह कथा **पुरातन-प्रबन्ध संग्रह** मे भी प्राप्त होती है। चौलुक्य नरेश जयसिंह सिद्धराज (1093-1143ई०)के काल में मुञ्जल तथा सान्तू नामक वणिक ने

1 वही 18,59
2 घुर्ये जी०एस०, कास्ट एण्ड क्लास इन इडिया, पृ०55
3 वी०के०जैन, ट्रेड एण्ड ट्रेडर्स इन वेस्टर्न इंडिया, पृ०233

मालवा के राजा यशोवर्धन को पराजित करने मे मदद की।[1]

पुरातन प्रबन्ध संग्रह मे भी शान्तू मन्त्री द्वारा जयसिह सिद्धराज को राजकाज के लिए प्रशिक्षित करने का उल्लेख प्राप्त होता है।[2] शोध-आधार ग्रन्थ में एक अन्य स्थल पर सिद्धराज द्वारा सज्जन नामक व्यापारी को सौराष्ट्र का प्रशासन देखने के लिए दण्डनायक बनाया था। इस तथ्य का उल्लेख **पुरातन प्रबन्ध-संग्रह** तथा **विविधतीर्थकल्प** मे भी हुआ है।[3] एक अन्य कथा के अन्तर्गत उदायन नामक कैम्बे के व्यापारी ने कुमारपाल की विपत्ति में धन तथा अन्य प्रकार से मदद की थी, अतः राजा बनने पर उसके पुत्र वाग्भट्ट या बाहड को कुमारपाल ने मन्त्री महामात्य बनाया था।[4] वाग्भट्ट ने वणिक सेनापति के रुप में कुमारपाल की ओर से मल्लिकार्जुन श्री उत्तरी कोंकण के शीलाहार राजा को हराया था।[5] **प्रबन्धचिन्तामणि** मे ही व्यापारी वर्ग के दो भाई वस्तुपाल तथा तेजपाल का विस्तृत उल्लेख प्राप्त होता है जो वाघेल लवण प्रसाद तथा वीरधवल के समय में मन्त्री थे। **पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह** में यह कथा प्राप्त होती है कि वस्तुपाल ने प्रशासन की विशेष मदद की थी तथा सय्यद नामक मुस्लिम व्यापारी पर विजय प्राप्त की थी, जो लाट देश के राजा सख से मदद प्राप्त करता था।[6]जालौर के चाहमान राजा उदयसिंह का एक मत्री यशोवीर भी वणिक था।[7] **पुरातन-प्रबंध-संग्रह** में कुछ अन्य कथायें भी व्यापारियों के प्रशासनिक कार्य करने के सम्बन्ध मे भी प्राप्त होती है। विमल नामक व्यापारी को हाथी तथा छत्र प्रदान कर भीम द्वितीय ने उसे सामन्त की श्रेणी में एक स्थान दिया।[8] सौराष्ट्र के सज्जन नामक व्यापारी के पुत्र आम्बा तथा धवल भी प्रशासनिक कार्य से सम्बद्ध थे।[9] सिद्धराज के समय का उदायन या उदा नामक घृत व्यापारी भी मत्री बना।[10]एक अन्य प्रबन्ध ग्रन्थ राजेशेखर कृत **प्रबन्ध कोश**[11] में वस्तुपाल (राज्यपाल-कैम्बे) द्वारा चोरी का भय मिटाकर व्यापारियों के लिए उचित वातावरण प्रदान करने का उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त एक विवरण में तेजपाल द्वारा वित्तीय व्यवस्था के अतिरिक्त घुग्घुल नामक गोध्र (डाकुओं का एक दल) के प्रमुख पर विजय का उल्लेख है जो

---

1 प्रबन्ध चिन्तामणि, मेरु०56, 75; टानी86
2 पु०प्र०सं०,31,35
3 प्रबन्धचिन्तामणि, मेरु०64-65टानी95-96,पृ०प्र०सं०34-13,विविधतीर्थकल्प-नाहटा, ए०सी०पृ०20
4 प्रबन्धचि मेरु,79,टानी 120,पु०प्र०सं०पृ०32
5 प्रबन्धचि मेरु०पृ०80-81टानी पृ०122-23के०पी०सी०एस०, पृ०133
6 पु०प्र०सं०पृ०56, 73
7 प्रबन्धचिन्तामणि, टानी पृ०107,पु०प्र०सं०पृ०49, 70,कथाकोश पृ०28
8 पु०प्र०सं०पृ०52
9 वही, पृ०34
10 वही, पृ०32,के०पी०सी०एज पृ०45
11 प्रबन्धकोश, पृ०102; कथाकोश 9 13;प्रबन्धकोश, पृ०107 .

गुजरात आने-जाने वाले व्यापारियो तथा तीर्थयात्रियो के काफिलो को लूटा करता था।

प्रशासनिक कार्यों के अतिरिक्त धार्मिक कार्यों मे भी व्यापारी वर्ग अधिकाशत सम्मिलित हो गया था। मेरुतुग, कहते है कि सौराष्ट्र का व्यापारी राज्यपाल (दण्डपति)सज्जन ने तीन वर्ष का कर गिरनार मे नेमिनाथ के एक मन्दिर को लकडी के स्थान पर पत्थर का बनवाने के लिए लगा दिया और राजा द्वारा कर मागने पर स्थानीय व्यापारियो से धन लेकर दे दिया।[1]बाघेलो के मन्त्री वस्तुपाल तथा तेजपाल द्वारा अनेको मदिरो के निर्माण तथा कुए, तालाब, सत्रागार, उपाश्रय इत्यादि का सृजन करवाने के उल्लेख प्राप्त होते हैं।[2] **प्रबन्धचिन्तामणि** में वस्तुपाल तथा तेजपाल के धार्मिक कृत्यो का उल्लेख है।[3] **पुरातन-प्रबध-संग्रह** मे आभडनामक व्यापारी के कुमारपाल के साथ शत्रुजय नामक जैन तीर्थ स्थल की यात्रा का उल्लेख भी है। जगडु नामक एक अन्य व्यापारी ने बाघेल प्रमुख वीसलदेव के समय अकाल पडने पर धान्य आदि देकर मदद की थी।[4]इसके अतिरिक्त जगडु (कच्छ के व्यापारी)ने भद्रेश्वर के मदिर की मरम्मत करवाई तथा मस्जिद का निर्माण करवाया।[5]

अधीतकाल मे वैश्यो का व्यवसायगत उपविभाजन भी प्राप्त होता है। प्रबन्ध साहित्य के अतिरिक्त समकालीन अन्य जैन ग्रन्थो मे भी वैश्यो से सम्बन्धित विवरण प्राप्त होते है। भोज के ग्रन्थ **समरांगणसूत्रधार** मे भी वैश्य के कृषि, वाणिज्य तथा पशुपालन इत्यादि, कर्तव्य बलताए गये हैं।[6]**जैन पुस्तक-प्रशस्ति संग्रह**[7]मे वैश्यो के उपविभाजन का उल्लेख मिलता है। हेम चन्द्र के ग्रन्थ- **द्वयाश्रयकाव्य** मे वैश्यो को आर्य, वणिक या धान्यमाय कहा है क्योकि उनका प्रमुख व्यवसाय अनाज मापना था।[8]इन ग्रन्थो के अतिरिक्त हेमचन्द्र द्वारा बारहवी शताब्दी मे रचे गये शब्दकोश **अभिधानचिन्तामणि** मे वैश्यो के लिए अर्या, भूमि, स्पर्श, वैश्य उख्या, उरुजा, विश पर्याय प्राप्त होते हैं।[9] केवल व्यापार से सबधित वैश्यो के लिए प्रस्तुत ग्रन्थ मे आठ प्रकार बताए गये है- वाणिज्य, वाणिक, क्रय-विक्रय, पण्यजी वी, आपणिक, नैगम, क्रयिक, और क्रयी।[10]

अधीतकाल के स्रोतो मे, व्यापारियो के व्यवसायिक नाम भी प्राप्त होते है जो श्रेष्ठि, साधु तथा सार्थवाह हैं।

---

1 प्रबन्ध चि०,मेरु०पृ०65,टानी पृ०96
2 प्रबन्धकोश, पृ०129-30,विविधतीर्थकल्प पृ०79
3 प्रबन्ध चि०,मेरु०पृ०99टानी 159
4 पु०प्र०सं०42, 43, 47-48, 80जगडुचरित-667-137.
5 ए०के०के०पृ०207
6 समरांगण पृ०26,श्लोक13,14,15
7 जैन पु०सं०पृ०19
8 द्वयाश्रय, 11 15 11 43.
9 अभिधानचि०, 3.864.
10 वही,3.867.

लेखपद्धति[1] मे साहू या साधू, पारि(पारिख) वा (वाणिज्यक या वाणिज्यारक) श्रे (श्रेष्ठि) व्यावहारिक, महाजन इत्यादि नामों का प्रयोग व्यापारियों के लिए हुआ है। इसमे ही 'वहमानविणजारा' तथा 'वछिवितस्तां' शब्द प्राप्त होते हैं, जिसमे पहले वाला नाम उन घूमने वाले व्यापारियो के लिए था जो काफिले मे जाते थे। दूसरा नाम विदेशी व्यापारियो का था।[2]

श्रेष्ठि व्यापारी का सम्बन्ध सामानो का लेनदेन करने वालो से था, तथा ये छोटे व्यापारियो को व्याज पर धन भी देते थे,[3] इनका उल्लेख चौलुक्य अभिलेखो मे हुआ है।[4]

सार्थ के अन्तर्गत वे व्यापारी थे जो एक नेता (सार्थवाह) के नेतृत्व मे नगर भर के व्यापारी दूसरे नगरों में अपना सामान बेचने व खरीदने जाते थे तथा सार्थवाह उन्हे वहॉं से उपयोगी वस्तुए और सभी प्रकार की सुविधाए उपलब्ध कराता था।[5] अधीतकाल में ब्राह्मण व्यवस्था के नियमों के कट्टरता से अनुपालन से उत्पन्न विभिन्न पीडाओं तथा कठिनाइयों से क्षुब्ध होकर वैश्य तथा शूद्र वर्गों के सदस्यो ने पारंपरिक रुप से तो वैश्यों के लिये विहित कृषि-व्यापार पशुपालन इत्यादि व्यवसायों को अपनाया। विवेच्यकाल में पश्चिमी भारत में वैश्यों ने कृषिका परित्याग करना प्रारम्भ किया होगा और वैश्यो के एक बड़े वर्ग ने जैन धर्म अपना लिया था क्योंकि भूमि की खुदाई होने पर मिट्टी मे मौजूद बहुत से कीटाणुओं की हत्या होती है। जैन धर्मानुयायियो को कृषि करने की मनाही थी जैन स्रोतो मे अधिकतर उन वैश्यों का विवरण मिलता है जो व्यापार तथा साहूकारी करते थे।

कृषि का कार्य अधिकतर शूद्रो द्वारा किया जाने लगा था। इस कारण कुछ लोग वैश्य और शूद्र को एक ही स्तर का मानने लगे। ग्यारहवी शताब्दी के अल्बेरुनी ने भी शूद्रो को श्रेणी में वैश्यों को रखा है।[6] कुछ मुस्लिम साहित्य से यह ज्ञात होता है कि धीरे-धीरे व्यापार भी शूद्रों के द्वारा किया जाने लगा और दसवी शताब्दी तक वैश्य और शूद्र का स्तर एक हो गया। अल्बेरुनी के अनुसार वैश्यो और शूद्रो को वेद अध्ययन करने पर समान दण्ड दिया जाता था। बे लोग एक ही गाव या कस्बे मे रहते थे।[7] कभी-कभी वे लोग एक ही मकान में रहते देखे जाते थे[8] गृहस्थकाण्ड[9] तथा मिताक्षरा[10] मे जो देवल को उद्घृत करते हैं वैश्यों तथा शूद्रों को

1 लेख पद्धति,8, 9, 10, 11, 12, 17
2 वही, 53, 55.
3 वी०के०जैन०, वही पृ०219
4 एपि०इंडिका-,8पृ० 220-21.
5 वी०के०जैन वही पृ०220
6 ग्यारहवीं सदी का भारत, पृ०117ए०आई०1पृ०101
7 वही, पृ०117.ए०आई०,1,107

फुट नोट 8, 9, 10 अगले पृष्ठ पर है।

एक सा कार्य करने के लिए बताया हैं तथा वे एक ही सम्प्रदाय के हो गये थे। इस स्थिति के लिए आंशिक रुप से जैन तथा बौद्ध प्रभाव उत्तरदायी रहा होगा।[1]

अल्बेरुनी के अनुसार वैश्य और शूद्र के बीच थोडा सा विभेद था। वैश्य दो धागो का बना यज्ञोपवीत पहनते थे, जबकि शूद्र क्षौम अपनी कमर मे बाँधते थे।[2] लक्ष्मीधर के समय मे शूद्रो को सभी वस्तुएँ बेचने की छूट थी जबकि वैश्यो को कतिपय वस्तुओं को क्रय-विक्रय पर प्रतिबन्ध था जैसे कि नमक, शराब, मास, दही, तलवार, तीर, पानी, मूर्ति, इत्यादि।[3]

विवेच्यकाल मे पश्चिमोत्तर भारत मे वैश्य अधिक सम्पन्न थे। व्यापार-वाणिज्य में तुलनात्मक उन्नति के कारण गुजरात मे वैश्यो की प्रगति के साथ उनमे से कुछ वैश्यो को सामन्तों का पद प्राप्त था। यह स्थिति गुजरात के अतिरिक्त मालवा के परमार वश मे भी प्रचलित थी[4]/इस लिए अल्बेरुनी का यह कथन, कि शूद्र वैश्यो के बराबर हो गए थे सर्वथा इस (गुजरात) क्षेत्र के लिए उचित नही प्रतीत होता।

वैश्यो में स्थान तथा व्यवसाय के आधार पर भी उप-विभाजन देखने को मिलता है। अग्रवाल, माहेश्वरी खण्डेलवाल, ओसवाल, राजस्थान के प्रमुख उपविभाजन थे। इनके अतिरिक्त प्राग्वाट, श्रीमाल, मोध उपकेश, और धर्कट थे। गुजरात के व्यापारी तो स्वय समृद्ध और स्थिर थे ही साथ ही राजस्थान के व्यापारी भी यहाँ आकर बस गए, जिनमे प्राग्वाट तथा श्री मालीय थे, जिन्हे गुजरात के वैश्यो मे महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ। प्राग्वाट तथा मोध वैश्यों की अधिक महत्वपूर्ण उपजातियाँ थी। हेम चन्द्र जैन आचार्य वैश्यों के मोध वंश का था।[5]यह नाम मोधेरा के प्रचीन कस्बे के आधार पर रखा जो अणहिलवाड़ के दक्षिण में था।[6] विमलशाह जो एक प्राग्वाट वैश्य था। [7] उसने चौलुक्य शासक भीम प्रथमके दण्डनायक के रुप में कार्य किया । इसके पूर्वक विमलशाह का एक पूर्वज नीना ने बनराज के राज्यकाल में सम्मान प्राप्त किया तथा जिसके पुत्र लहर को राज्य की सेना का प्रमुख

---

8. साचूऊ1गृ०107
9. गृहस्थकाण्डपृ०255
10. विज्ञानेश्वर, आन याज्ञबलक्य, यदा पुनर्द्विजशुश्रूषाया जीवितुं न शक्नोति तदा वणिम्वृत्तया जीवेत्

1 बी०एन०शर्मा, सोशल लाईफ इन नार्दन इंडिया पृ०50
2 साचऊ, द्वितीय 136
3 ग्रहस्थ ; स्वधर्मयाचरन वैश्यों नैव कर्यात्प्रतिग्रहम् लवण मधु मयं च तिलं दधि घृते पर्या॥ पृ० 258
4 द परमार, पृ० 279
5 ब्यूलर, लाईफ ऑफ हेमचन्द्र, पृ० 6
6 रासमाला, पृ० 80
7 जे० एस० एस० आई० पृ० 212

नियुक्त किया था[1] विमलशाह के पिता वीर मूलराज के मत्री थे[2] वस्तुपाल तथा तेजपाल मत्री भी प्राग्वाट वश के थे।[3] उदयन श्रीमाली था तथा उसको जयसिंह ने मत्री बनाया था।[4] उदयन के पुत्र वाग्भट्ट तथा आभर भट्ट कुमारपाल के राज्य मे मत्री था।[5]सज्जन[6]जयसिंह के शासन काल मे सौराष्ट्र का दडनायक था और जद[7] व्यापारी भद्रेश्वर का राजकुमार एव श्रीमालीय था। ये व्यापारी सम्मानित थे तथा विशुद्ध जैनी थे, इन्होने बहुत से मदिर तथा धार्मिक सस्थाओं का निर्माण एव मरम्मत करवाया था।

शूद्र

भारतीय समाज मे चतुर्थ स्तर पर शूद्रो को रखा गया है। विधि ग्रन्थो के अनुसार तीनो वर्णों की सेवा करना ही उसका कार्य निर्धारित था। प्राचीन आचार्यों के अनुसार शूद्रो का मुख्य कर्तव्य द्विजों की सेवा करना था। जबकि इनके भरण पोषण का उत्तरदायित्व द्विजो पर था।[8] **प्रबन्ध चिन्तामणि** मे विभिन्न प्रकार के शिल्पियों का उल्लेख आया है जो कुम्भकार, मणिकार, मालाकार, तन्तुवाय, तैलिक, स्वर्णकार, तुन्नवाय, कर्मकर इत्यादि थे। इनको अधीतकालीन धर्मशास्त्र ग्रन्थो ने शूद्रो की श्रेणी मे गिनाया है।

प्रबन्धचिन्तामणि मे सदर्भित है कि कुमारपाल ने राजा बनने के पूर्व एक बार अपनी प्राण रक्षा हेतु आलिंग नामक कुम्भकार के गृह मे शरण लिया था[9] एक अन्य स्थल पर यह विवरण प्राप्त होता है कि आभडनामक एक व्यापारी का पुत्र ठठेरी बाजार (कांस्यकारस्थ हट्टे) में घुघरु साफ करके पाँच विशोपक कमाई कर लेता था तथा बाद मे वह हेम सूरि से शिक्षा प्राप्त करके "रत्न-परीक्षक" बन गया था। एक स्थल पर तैलिक द्वारा तेल-विक्रय[10] तथा कुशल "वेशकार" (दर्जी) द्वारा वस्त्र तैयार करने का भी उल्लेख प्राप्त होता है[11] एक बार उदा नामक व्यापारी ने नगर भ्रमण करते समय कतिपय कर्मकरों को काम करते देखा[12] जिससे अनुमान लगाया जा सकता है कि कर्मकरो से खेत मे काम लिया जाता था। **कथाकोशप्रकरण** और **देशीनाममाला** ग्रन्थों मे क्रमशः दस्तकारी

---

1 जयन्त विजय, होली, आबू, भाग-प्रथमद्वारा शाह भावनागर 1954
2 वही, पृ० 24
3 वही, पृ० 85, 86
4 प्रबनध चि० पृ० 68
5 वही, पृ० 105, 106
6 जे० एम० एस० आई० पृ० 224
7 वही पृ० 401
8 आपस्तम्ब 1. 1. 1. 7-8 पूर्व उद्घृत
9 प्रबन्ध इ०, मेरु० पृ० 77.
10 वही, हट्ट शोभां कारयंस्तौलिक सूचिकाभ्यामवज्ञया पृ० 32.
11 वही सिद्धवेशेणा लंकृतः। पृ० 73
12 वही, उदाभिधानों वणिक ब्रजन् कर्मकरैक्कस्माके दारदपरस्मिन् जलैः पूर्यमाणे तान् पृ० 56

अथवा खेती मे लगी हुई कई जातियो की गणना शूद्रो मे की गई है। इनमे कुम्भकार, मालाकार, ताम्बूलिक, तैलिक नापित लौहकार, खाती, स्वर्णकार, ठठेरे, दर्जी, गडरिए आदि प्रमुख है।[1]

त्रिषाष्टिशलाकापुरुष चरित मे भी कुम्भकार, मकान बनाने वाले राज, चित्रकार तन्तुवाय नापित इत्यादि का उल्लेख हुआ है।[2] इस काल के शब्दकोष **अभिधानचिन्तामणि** मे शूद्रो के लिए शूद्र, वृषल, अन्त्य वर्ण, पद्य पज्ञ, जघन्यज पर्याय दिये गये जो शूद्र वर्ण के अन्तर्गत पाये जाने वाले विभिन्न स्तरो का द्योतन करते हैं। आलोचित काल मे वैश्यो ने व्यापार तथा वाणिज्य[3] को अपनी जीविका का प्रधान आधार बना लिया । फलस्वरुप शूद्रो ने खेती पशुपालन और दस्तकारी के पेशे भी अपना लिए। शैव और जैन धर्म सुधारको ने शूद्रो के प्रति हीन भाव नही अपनाया, यह तथ्य शूद्रो की सामाजिक स्थिति मे न्यूनाधिक सुधार का परिचायक है डॉ० दशरथ शर्मा के शब्दो मे 700 ई० से 1200 ई० मे शूद्रो की स्थिति मे अन्य प्रकार के सुधार हुए।"[4]

प्राचीन काल मे समाज मे उनकी स्थिति दयनीय थी, परन्तु नवी शताब्दी के मेधातिथि ने तो यह कहा है कि शूद्र न तो सेवक बनाए जा सकते है और न ब्राह्मणो पर निर्भर हो सकते है[5] वे व्याकरण आदि विषयो के ज्ञाता हो सकते है [6] कभी-कभी सम्पन्न शूद्र लोग मदिर का रख-रखाव करते थे और गाव तथा कस्बो के रक्षक समिति के सदस्य भी होते थे[7] यदा कदा वे सरकारी पदो को भी सुशोभित करते थे। उदाहरणार्थ गुजरात के चौलुक्य राजा कुमारपाल के समय मे सज्जन नामक कुम्हार चित्तौड का राज्यपाल नियुक्त था।[8]

पूर्व मध्यकाल मे शूद्रो का सबसे बडा समुदाय खेती तथा कृषि-दासों का था। कतिपय विधिग्रन्थों तथा पुराणो मे कृषि-कार्य भी शूद्रो के लिए विहित था।[9] दसवीं शताब्दी का अरब यात्री इब्नखुर्ददबा का कथन भी यह है कि शूद्र पेशे से कृषक थे। अल इदरीसी भी यही कहता है कि वे मजदूर तथा कृषि करने वाले थे।[10] जब वे कृषि करके वस्तुओं का उत्पादन करने लगे तो उन्हे वस्तुओं के आदान-प्रदान करने के लिए स्थानीय स्तर पर व्यापार करना प्रारम्भ किया[11] व्यापार के अतिरिक्त वे एक वर्ग कारीगरो तथा शिल्पियो का ही बन गया था।

1 शर्मा जी० एन०, राजस्थान का इतिहास पृ० 116
2 त्रि० श० प० च० पृ० 202 श्लोक
3 अभिधान चि० पृ० 223, 558
4 दशरथ शर्मा, राजस्थान प्रदेश एजेज पृ० 435-36
5 सोसाइटी एण्ड पृ० 43
6 वही, पृ० 44; III, 156-417VII,417
7 अर्ली चौहान डाइनेस्टीज पृ० 247
8 वही पृ० 248
9 (गृहस्थकाण्ड पृ० 273) उदा० नरसिंह पुराण 2.58
10 सोसाइटी कल्चर, पृ० 41.
11 डी के जैन, वही पृ २१५

हेम चन्द्र के **अभिधानचिन्तामणि** एव **देशीनाममाला**-एव यादव प्रकाश के **वैजयन्ती** मे बहुत से शिल्पियो को शूद्रो से सम्बद्ध किया है।[1]

प्राचीन काल मे शूद्रो को वेद, स्मृति तथा पुराण पढने व सुनने का भी अधिकार नही था, लेकिन विवेच्यकाल मे उन्हे ब्राह्मण द्वारा पढे गए पुराण को सुनने का अधिकार दिया गया था।[2] **वृहद्धर्मपुराण**[3] मे भी शूद्रो को व्याकरण तथा अन्य शास्त्र पढाने की आज्ञा दी गई है। अधिकारो के अन्तर्गत शूद्रो को कुछ इतिहासकारो ने बिना मत्रो के पाकयज्ञ पच महायज्ञ, तथा सस्कार करने की अनुमति दी है।[4] विश्वरुप (9 वीं श० ई०) का मत था कि शूद्र के सभी सस्कार बिना वेद मन्त्रो के होने चाहिए।[5] उनके विवाह सस्कार में "गोत्र" या प्रवर बंधन नही होता था[6] एक ब्राह्मण यदि चाण्डाल का स्पर्श किया हुआ भोजन कर लेता था तो उसे "चन्द्रायण-व्रत" करना पढता था जबकि शूद्र को केवल तीन दिन का व्रत करना पडता था।[7] शूद्र को त्याग नही करना पडता[8] लक्ष्मीधर ने शूद्र को उन सभी वस्तुओं को बेचने की अनुमति दी थी जो वैश्य के लिए प्रतिबधित थी यदा नमक, शराब दही, हथियार, जहर इत्यादि।[9] अत वैश्यों को इन निम्न वस्तुओं का व्यापार शूद्रों के लिए छोड देना चाहिए। समकालीन जैन-साहित्य मे भी शिल्पियों को निम्न या अहमा (अधमा) कहा गया है। जिसमे कुछ कारीगरों को तथा बुनकर को अन्त्यज के अन्तर्गत रखा गया है।

यद्यपि पूर्व मध्य काल के प्रमाणो के आधार पर शिल्प व्यवसायो के अपनाने से कुछ शूद्रो की आर्थिक स्थिति मे सुधार हुआ होगा और उन्हे वैश्यो का स्तर प्राप्त हो गया था। परन्तु विवेच्यकाल मे पश्चिमी भारत के गुजरात क्षेत्र मे अभी भी वैश्यो और शूद्र मे स्तर-भेद परिलक्षित होता है। मेघातिथि[10] ने उन्हे मुक्ति का अधिकार नहीं प्रदान किया तथा चतुर्थ आश्रम में प्रवेश उनके लिए वर्जित था। ग्यारहवी शताब्दी के अल्बेरुनी[11] ने भी शूद्रो तथा वैश्यो के लिए यही विधान किया है। जैनियो ने यद्यपि हिन्दुओं के जाति-व्यवास्था पर कुठाराघात किया

~~15 बी० के जैन, वही पृ० 215.~~

1 वही टिप्पणी 43.
2 काणे० पृ० 156.
3 हाजरा आर० बी०, स्टडीज इन द उप पुराण भाग 2 पृ० 446.
4 कुल्लूक आन मनु 10. 126 द्विजशुश्रूष्येवरा पाकयज्ञाधिकारणान् ग्रहस्थ पृ० 273.
5 विश्वरुप टीका पृ० 55.
6 कमल चौहान, कल्चरल हिस्ट्री ऑफ द इंडिया पृ० 10.
7 अपराजित पृच्छा। 20 23-24, अत्रि 176-77
8 मेधातिथि, श्र्वदेचरेद्धा नियतो जटी ब्रह्मणों व्रतम्। वसन्दू स्तरे ग्रामाइवृक्षल निकेतनः॥10, 126-217
9 गृहस्थकाण्ड, पृ० 258.
10 मेधा तिथि नैवं तस्यायमर्थः सर्व आश्रयास्तु न कर्तव्याः शुश्रूषयाउपलोत्पादनेन चसर्वाश्रफलं लभतोः"
11 साचऊ, भाग 1. पृ० 104

है, परन्तु उनमे भी कुछ का विचार था कि शूद्र धार्मिक कार्य नही कर सकते थे। कर्म के अनुसार महापुराण मे शूद्रो के मुख्यत दो भेद विवृत किए है।[1] कारुशूद्र शिल्प व्यापारी जो धोबी, नाई आदि थे। अकारु शूद्र के अन्तर्गत सामान्य शूद्र कारू से भिन्न आचरण करने वाले आते थे। कारु शूद्र के भी स्पृश्य और अस्पृश्य दो उपभेद थे। स्पृश्य कारु वे शूद्र थे जो छूने योग्य थे। उदाहरणार्थ नाई, कुम्हार, आदि। जो छूने योग्य नही होते थे, उन्हे अस्पृश्य कारु शूद्र कहा गया है जैसे चाण्डाल आदि। जैनेतर ग्रन्थो मे तक्षकार, तन्तुवाय, नापित, रजक एव चर्मकार इन पॉच प्रकार के कारु शिल्पियो का उल्लेख मिलता है।[2]

सकटकाल आने पर शूद्र को अन्य कर्म अपनाने के लिए विधिग्रन्थो में निर्देश दिया है। उसके अनुसार वह खानसामा, चित्रकारिता का कार्य कर सकता था।[3] शूद्रो का वर्गीकरण विभिन्न आधारो पर किया गया था उनके व्यवसायों के आधार पर शूद्र तथा असत् शूद्र भोजान्य तथा अभोजन्य, निरवसित अनिरवसित शूद्र, आश्रित और अनाश्रित शूद्र थे। "अभोजन्य" श्रेणी वाले शूद्रो के द्वारा पकाया हुआ भोजन ब्राह्मण ग्रहण नही करते थे। ब्राह्मण इस तरह के शूद्रो के साथ तब तक भोजन नही कर सकते थे जबकि वह उनका मित्र न हो।

आर० एस० शर्मा का यह विचार है कि कालान्तर मे शूद्र कृषि, पशुपालन, शिल्प एव व्यापार द्वारा अपनी स्थिति सुदृढ कर वैश्यो के समीप आने लगे थे। जो खेत ब्राह्मणो को उपलब्ध थे, उन पर वे शूदों द्वारा खेती करवाते थे।[4] जैन एवं बौद्ध धर्मों के आन्दोलनो, के परिणाम स्वरुप शूद्रों को हेय दृष्टि से देखा जाना कम हो गया था। कुछ तान्त्रिक आचार्य स्वय शूद्र थे।[5]

प्रबन्धचिन्तामणि तथा अन्य समसामयिक साक्ष्यो के अध्ययन से हमें यह जानकारी प्राप्त होती है कि इस समय शूद्र वर्ण अन्य वर्णों पर आश्रित नही था और कृषि तथा शिल्प कार्य अपना लिए थे। इससे उनकी आर्थिक स्थिति मे भी सुधार हुआ था।

---

1 महा० 16 185-186
2 याज्ञवल्क्य, 2/249 1/187 मेधातिथि की टीका कारुणां रजकादीनां शिल्पिनां चित्रकारादीनां संबाध मनु 5.12
3 कुल्लूक की मनु पर टीका 10. 99-100
4 आर० एस० शर्मा० शूद्राज इन एंश्येन्ट इंडिया पृ० 282.
5 कैलाश चन्द्र वही पृ० 4. दशरथ शर्मा- वही पृ० 435.

अन्त्यज

अधीतकाल मे व्यवसायो तथा व्यवसायियो की सख्या मे अभिवृद्धि मिलती है। धर्मशास्त्रो मे कतिपय व्यावसायिक जातियो को हीन कर्मस्थ मानते हुए उन्हे चारो वर्णों से पृथक अन्त्यज को कोटि मे रखा गया है। पाणिनि ने इस वर्ग को "अनिर्वसित" कहा है जो कि शूद्रो से भी निम्न स्तर के थे।

प्रबन्धचिन्तामणि ग्रन्थ मे बहुत से इस प्रकार के व्यवसायो को करने वाले का उल्लेख है जिन्हे अन्त्यज की श्रेणी मे रखा जाता था। वे छिम्पिकया (रगरेज), रत्न-परीक्षक, कास्यकार, वैद्य, कुम्भकार, पुरु कुम्भकार, लौहकार वेशकार आदि थे। इनके अतिरिक्त लुब्धक, निषाद, चरवाहा, सूच्यकार, तैलिक, धीवर, तन्तुवाय इत्यादि का भी उल्लेख मिलता है।[1] जैनियो की भी अस्पृश्यता मे आस्था थी। क्योकि जैन आचार्य कुमुदचन्द्र को एक निषाद ने छू लिया आ, जिससे वे दुखी थे[2] एक अनय विवरण मे विद्वानो के निवास निर्माण हेतु तन्तुवाय (बुनकर) तथा धीवर (मल्लाह) इत्यादि के निवास स्थान को उजाडने का विवरण प्राप्त होता है। [3] एक अन्य स्थान पर एक तीर्थयात्री के सोमेश्वर जाते समय लौहकार के घर विश्राम करने का उल्लेख मिलता है।[4] एक व्यापारी का पुत्र आभड कास्यकारो के बाजार मे (घटी,) नूपुर साफ करके पॉच विशोषक कमा करके अपनी दैनिक वृत्ति चलाता था तथा उसने धीरे-धीरे रत्न-परीक्षण की विद्या सीख ली।[5] इसी सदर्भ मे **द्वयाश्रयकाव्य** मे निषाद द्वारा महावत का कार्य करने का उल्लेख आया है।[6] राजशेखर कृत **प्रबन्धकोष** मे चर्मकार शूद्र आया है।[7] हेम चन्द्र के **देशीनाममाला**[8] मे रजक, बुनकर, लौहकार तथा तुन्नवाय, दर्जी के लिए बहुत से शब्द प्रयुक्त हुए हैं। धोबी के लिए धोआ, धोबिन को उप्फुकिआ, हिक्का और फुक्की शब्द आए हैं। दर्जी को आसीवजो, लौहकार को पूअ तथा बुनकर के लिए कोलिओ शब्द प्रयुक्त हुए हैं। इसी ग्रन्थ मे सबसे निम्न वर्ग की जाति चाण्डाल बताई गई है और उसके लिए डुबो (डोम) शब्द आया है[9] इस जाति के लोग अपनी अस्पृश्यता का सकते करने के लिए अपने हाथ में एक बास की छडी लिए रहते थे। इस बासक की छडी के लिए झिज्झरी तथा खिक्खरी शब्द आएं हैं।[10] हेम चन्द्र के ही एक अन्य शब्दकोश **अभिधान-चिन्तामणि** मे मल्लाह के लिए धीवर, दाश तथा कैवर्त

1 प्रबन्ध चि०, मेरु पृ० 56, 53, 77, 22, 123, 32, 73, 29, 6, 7, 56.
2 वही टॉनी पृ० 99, मेरु 67.
3 प्रबन्ध चि०, मेरु पृ० 29, टॉनी 44.
4 वही 123 वही 123, वही 202
5 वही पृ० 69, वही पृ० 104.
6 द्वयाश्रय, 5.50.
7 प्रबन्धकोश, पृ०
8 देशीनाम०, पृ० 5 32 1 114. - 8, 66, 6, 84, 1 169, 6 85-2, 65
9 वही- 354, 2 73
10 वही- 3 54, 2 73

का प्रयोग किया गया है[1] चाण्डाल के लिए इसमे चाण्डाल अन्तावसायी, अन्तेवासी, श्वपच (शवपाक डोम) बुक्कस निषाद प्लव मातङ्ग दिवाकीर्ति जनगम शब्द आए है।[2]

यह सभी व्यावसायिक जातियो निम्न कार्य करने के कारण अन्त्यज के अन्तर्गत परिगणित किए गए। इन्हे समाज मे निम्न दृष्टि से देखा जाता था। अल्बेरुनी[3] ने यह कहा है कि अत्यज विभिन्न प्रकार की सेवा करते थे और उन्हे किसी जाति मे नही गिना जाता था, बल्कि किसी विशेष व्यवसाय या शिल्प सघ का सदस्य माना जाता था। ये श्रेणियॉ निम्नलिखित थी।

(1) रजक

(2) चर्मकार

(3) जादूगर

(4) बुरुड

(5) धीवर

(6) जलोपजीवी

(7) व्याध

(8) तन्तुवाय

इनमे रजक, चर्मकार, तथा तन्तुवाय (बुनकर) को छोड कर बाकी अन्य आपस मे एक दूसरे से विवाह कर सकते थे। लोग चारो वर्गों के ग्रामो के निकट [illegible] रहते थे।

इनके अतिरिक्त हाडी, डोम, चाण्डाल तथा बधतौ वर्ग के लोगो को समाज मे निम्न समझा जाता था। स्मृतियो मे इन लोगो को अन्त्यवसायिक कहा गया है। ये लोग निम्न कर्मा थे जैसे गॉवो की सफाई आदि निम्न स्तर का कार्य करते थे तथा इन्हे किसी जाति या श्रेणी के अन्तर्गत नहीं रखा जाता था और कोई भी जाति के लोग उनके साथ किसी प्रकार का सबध रखना पसद नहीं करते थे।[4]

---

1 अभिधान चि० पृ० 231.
2 वही पृ० 23, हलायुधकोश, पृ० 67.
3 साचऊभाग-1 पृ० 101.
4 मनु० स्मृति 10 39, मिताक्षरा आन याज्ञ स्मृ ग्रामवहिर्निवासिनो।

इस काल के अन्य ग्रन्थो मे भी इसी प्रकार विद्वानो ने इनका स्तरीकरण किया है। जिनेश्वर सूरि ने **कथाकोशप्रकरण** (11 हवी श९ ई०)[1] मे निम्न जाति को दो वर्गों मे उनके व्यवसाय के आधार पर वर्गीकृत किया है। उनके अनुसार पहला वर्ग "अधम" था, जिसमे चटाई बनाने वाले, स्वर्णकार कुम्भकार, लौहकार रजक, अभिनेता तथा अन्य शिल्पी आते थे। जबकि केवल शौकारिक तथा चाण्डाल "अधमाधम" के अन्तर्गत आते थे।

धर्मशास्त्रकारो ने अन्त्यजो के सात ऐसे प्रकार—रजक चर्मकार, नट, बुरुड, कैवर्त, मेंद तथा मितल बताते है। विज्ञानेश्वर इन अन्त्यजो को स्मृतियो मे बाताए अन्त्यवसायिन के अन्तर्गत रखते है।[2]**वृहन्नारदीय पुराण**[3] मे जो जातियो की सूची दी है उसमे इनके स्तर मे कुछ परिवर्तन प्राप्त होता है। इसमे चर्मकार को चाण्डाल से निम्न स्तर का माना है और तन्तुवाय को ऊँचा स्तर दिया गया है, लेकिन अल्बेरुनी ने उसे चर्मकार तथा रजक के साथ ही रखा है।

जिनेश्वर सूरि ने श्रेणीगाथा[4] शब्द अन्त्यजो के लिए प्रयुक्त किया है, जिसका अर्थ है कि वे श्रेणी के सदस्य थे। अल्बेरुनी [5] ने भी अपने विवरण मे इस बात की पुष्टि की है। श्रेणी का सदस्य होने से उनकी आर्थिक स्थिति अपेक्षाकृत समृद्ध थी।

पूर्व मध्यकाल में स्पृश्यता सबधी नियमो को और अधिक व्यवस्थित किया गया । चाण्डाल इस युग में पहले की भाति अस्पृश्य माने गए डोम तथा चर्मकार भी 12 हवी शताब्दी तक अस्पशृय रहे। कोई व्यक्ति किसी शूद्र से तब भोजन ले सकता था, यदि वह उसका दास हो, गोपालक हो, परिवार का मित्र हो और उसके साथ खेती करने वाला हो। इस विचार को व्यवस्थाकारो ने माना है किन्तु कतिपय ने अस्वीकार किया है। **नियतकालकाण्ड**[6]मे लक्ष्मीधर ने इस तथ्य को स्वीकार किया है जिससे यह प्रतीत होता है कि इस सम्बन्ध में उत्तर-भारत मे कोई कट्टरता नही थी।[7]

लेकिन कल्हण ने **राजतंगिणी** मे कहा है कि अस्पृश्यता की भावना उनके युग मे प्रबल थी।[8]कीर्तिकौमुदी

---

1 कथाकोश पृ० 115
2 मिताक्षरा आन याज्ञ, चाण्डालश्वपचयः क्षततासूतो वैदहिवस्तथा। मागध. योग बौचैव सप्तै तेडन्त्या वसायिन.॥3.260
3 बृ० पुराण; 30 2. हजरा, स्टडीज इन द उप पुराण भाग-1, पृ० 324.
4 कथाकोश प्र०, पृ० 115.
5 अल्वेरुनीज इंडिया, पृ०, 101.
6 पृ० 104
7 नियत काल काण्ड, पृ० 104
8 राजतरिंगिणी, अनुवाद, आर० एस० पडित पृ० 29

मे यह विवरण मिलता है कि वस्तुपाल जब कैम्बे का गवर्नर बना तो उसने एक पृथक चबूतरा निर्मित कराया था कि दही विक्रय करने वाले विभिन्न स्पृश्य एव अस्पृश्य जातियो के लोगो को रोक सके। इससे शासक वर्ग द्वारा जाति तथा स्पृश्यता सम्बन्धी नियम को कट्टरता से पालन करने का पता चलता है।[1]

प्रबन्ध चिन्तामणि तथा समकालीन अन्य ग्रन्थो मे प्राप्त उदाहरणो मे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इस समय जाति एव सामाजिक व्यवस्था मे वैयक्तिक गुणो एव शक्ति का महत्व अनुष्ठानिक अनुक्रम का उल्लघन कर सकता था। कुमारपाल द्वारा सज्जन कुम्भकार को प्रान्त पति बनाने के उदाहरण से इस बात की पुष्टि होती है कि व्यक्ति के गुण और स्वभाव को जाति की अपेक्षा अधिक महत्व दिया जाने लगा था। इस परम्परा की सूत्रपात कम से कम गुप्तकाल से मिलने लगता है।[2]

कुछ आधुनिक विद्वानो का अन्त्यजो के विषय मे कहना है कि समाज मे उन्हे सबसे निम्न स्तर प्राप्त था। रोमिला थापर[3] कहती है कि वर्ण-व्यवस्था मे अत्यजो को पाचवा स्थान प्राप्त था, जबकि सुविरा जायसवाल[4] के अनुसार कुछ अन्त्यज शूद्रो मे मिल गए थे। सुविरा जायसवाल का यह मत अपराजितपृच्छा[5] मे दिए गए शूद्रों के दो वर्गों मे प्रशस्त तथा अप्रशस्त मे विभाजन होने के प्रमाण से पुष्ट होता है। अपराजित पृच्छा में अन्त्यजो को प्रकृति कहा गया है। के० सी० जैन[6] का कहना है कि कुछ अन्त्यज बहुत से अन्य शिल्प तथा व्यवसायो को जैसे डलिया बनाना मछली मारना, नाव खेना इत्यादि का व्यवसाय करते थे, हाडी डोम, चाण्डाल इत्यादि इनकी तुलना मे निम्नतर थे।[7]

आदिवासी तथा विदेशी जातियाँ

अन्त्यज के अतिरिक्त कुछ आदिवासी जनजातियाँ तथा विदेशी जातियों भी थी, जो जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत नही आती थी, तथा उन्हे भी अन्त्यज के समान घृणा की दृष्टि से देखा जाता था। इन जातियों को

---

1 स्पृष्टास्पृष्टानिषेधाय (कीर्ति कौमुदी- 4, 17,)

2 देखिये मंदसोरलेख तथा स्कन्द गुप्त का जूनागढ लेख, स्लेक्ट इन्सक्रिप्पन भाग 1, पृष्ठ 299, पृ० 307पर्णदत्त चक्रपालित तथा अन्य की नियुक्ति योग्यताओं कर ध्यान रखा जाता था।

3 रोमिला थापर, एंश्येट इंडियन, सोशल हिस्ट्री, सम इन्टरप्रेटेशन्स नई दिल्ली 1975, पृ० 125

4 सुविरा जाय० सम रिसेट थ्योरीज ऑफ द ओरिजिन ऑफ अनटचै बिल्टी, आई एच० सी० भाग-1, 39 सौवां अधिवेशन हैदराबाद।1978, पृ० 227.

5 अपराजित; 72. 41. सु० जाय० आई० एच० सी० 41 सवा अधिवेशन बम्बई 1980 पृ० 115.

6 के० सी० जैन, मालवा थ्रू द ऐंजेज पृ० 488.

7 वही, पृ० 488.

म्लेच्छ या म्लेच्छ जाति कहा जाता था। **प्रबन्धचिन्तामणि** तथा अन्य सामयिक ग्रन्थो मे इनकी बहुत सी जनजातियाँ प्रसगित है।

प्रबन्धचिन्तामणि [1] मे चापोत्कट वश के वनराज के मामा को जगली जाति का बताया गया है। उसके साथ वह रहता था। एक अन्य स्थल पर यह उल्लेख है कि राजा कर्ण ने आशापल्ली निवासी आशा नामक भिल्ल पर विजय प्राप्त की थी[2] इनके अतिरिक्त प्रबन्धचिन्तामणि मे म्लेच्छ, तुरुष्क तथा मातग जातियो का भी उल्लेख आया है।[3] इसी ग्रन्थ मे एक स्थल पर भील जाति के आशा नामक व्यक्ति का उल्लेख भी मिलता है जो छ लाख का स्वामी था। वह युद्ध मे राजा कर्ण से पराजित हुआ [4] ये जातियाँ युद्ध प्रिय होती थी तथा अपने बाहुबल से विशाल क्षेत्र अपने अधिकार मे रखती थी।

प्रबन्धकोश मे भी भिल्ल तथा म्लेच्छो का उल्लेख आया है।[5]**पुरातन-प्रबन्ध संग्रह** में भी तुरुष्क अन्त्यज तथा भिल्ल कई स्थानो पर प्रसगित है। सुकृतकीर्तिकल्लोलिनी[6]तथा **तिलकमंजरी** सार[7]मे भी तुरुष्क, शबर, भिल्ल जैसी वन्य जातियो का उल्लेख आया है। हेमचन्द्र के ग्रन्थो मे **देशीनाममाला, अभिधानचिन्तामणि, त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित** मे तो इनकी एक लबी सूची प्राप्त होती है। **त्रिषष्टिशालाका पुरुषचरित्**[8] मे यह विवरण है कि शक्, यवन, शबर, बर्बर, काया, मुड, उड्र, गोड्र, पत्कणक, अरपाक, हूण शेमक, पारसी खस खसिक, डौबलिक, लकुस, भिल्ल, अन्ध्र बुक्कस पुलिद कौचक, भ्रमररुत, कुच, चीन, वचुक, मालव, द्रविड, कुलज्ञ, किरात, कैकय हयमुख, गजमुख, तुएमुख अजमुख, हयकर्ण, गजकर्ण, और दूसरे भी अनार्यो के भेद है जो" धर्म अक्षर को नही जानते तथा इसी तरह वे धर्म और अधर्म को अलग नही समझते, वे सभी म्लेच्छ कहलाते है। उपरोक्त गिनाए गए सभी नामो का विभिन्न जातियो से समीकारण करना दुष्कर कार्य है।

तुरुष्को का उल्लेख **द्वयाश्रयकाव्य** तथा **कुमार पालचरित** मे भी मिलता है। **द्वयाश्रयकाव्य के टीकाकार** अभयतिलकगणि के अनुसार भील, तुरुष्क, इत्यादि म्लेच्छ जाति के अन्तर्गत आते थे। म्लेच्छ आर्यो के मित्र नही

---

1 प्रबन्धचिन्तामणि, मेरु० पृ० 12,
2 कुवलयमाला, 112. समराइच्च कहा, 655-679,
3 राजस्थान थ्रू द एजेज पृ० 428
4 प्रबन्धचिन्तामणि, मेरु पृ० 55 टॉनी पृ० 80
5 वही, टॉनी पृ० 109, 174, 175, 185, 186, 189, 190, 191, तुरुष्क 185, 191. मातगी 182
6 सुकृत, पृ० 5,6, 26.
7 तिलक०, पृ० 5,6,26,
8 त्रि०श पु०, च० पृ० 679-638

हो सकते थे क्योकि उनमे बुरी आदते तथा कठोर आचारण वाले थे।[1] **कथासरित्सागर**[2] मिल्ल तथा शबर को डाकू कहा है। **अभिधानचिन्तामणि** मे इन्हे पुलिन्दा, नाहला, निष्टया, शबरा, रुटा, भटा, भाला भिल्ला (भिल्ला) किराता कहा गया है।

म्लेच्छो को दो वर्गो मे बॉटा जा सकता था एक तो विदेशो से आकर बसने वाली जातियॉं थी शक, यवन, रोमक, पारस, मुरुण्ड, बर्बर, सीन, सिहल तथा दूसरी भारतीय आदिम जातियो का था जो शबर भिल्ल, किरात, पुलिन्द आन्ध्र कयस, खास-जाति, भरुम उद्र, गोड, लकुश इत्यादि। ये लोग पारम्परिक चारो वर्णो की सामाजिक सीमा के बाहर थे। वे घने जगलो मे रहते तथा भक्षयाभक्ष्य थे इसलिए इन्हे म्लेच्छ कहा जाता था।[3]

म्लेच्छो के रहने के स्थान को म्लेच्छपल्लि कहा जाता था। वे साधारणतया विन्ध्य पर्वत तथा अरावली की पहाडियो पर रहते थे। वे लोग अपनी देवी दुर्गा या चण्डिका को प्रसन्न करने के लिए मानव बलि भी देते थे।

इन जातियो के कुछ समूह चोरी, हिंसा, डकैती, भी किया करते थे वे प्राय सार्थ को लूटते थे, मनुष्यो तथा गायो को मारते थे तथा राहगीरो को पकड लिया करते थे।

विभिन्न ग्रन्थो मे प्राप्त इनके उल्लेखो से हम यह अनुमान कर सकते है कि ये जातियॉं समस्त पश्चिमी उत्तर भारत के सीमावर्ती, क्षेत्रो मे पायी जाती थी, परन्तु समाज मे इन्हे निम्न स्थान प्राप्त था। इन्हे अशुद्ध माना जाता था इसलिए ये ग्राम, नगर, या बस्तियो से दूर पहाडी या घाटी के क्षेत्रो मे निवास करती थीं।

कायस्थ

अन्त्यज, आदिवासी विदेशी जातियो के अतिरिक्त भी कुछ व्यावसायिक वर्ग थे, जिनको किसी जाति मे शामिल नही किया जा सकता था। कायस्थ उनमे से एक थे, जिनकी जाति, व्यवस्था में स्थिति स्पष्ट नही थी।

प्रबन्धचिन्तामणि मे यह उल्लेख मिलता है कि करण कायस्थ उमापतिधर लक्ष्मणसेन का मुख्य मत्री था क्योकि इस काल के अधिक तम अभिलेख कायस्थो द्वारा ही लिखे गए। सोलकियो परमारो इत्यादि के अभिलेख मे भी कायस्थ का नाम आया है। और गुप्त कालीन अभिलेखो मे कायस्थ लेखको के रुप मे उल्लखित है।[4] कुमारगुप्त के दामोदर पुर ताम्रपत्र लेख मे कायस्थ का उल्लेख हुआ है।

---

1 कुमारपाल चरित-696; द्वयाश्रय, 4 33
2 कथासरित, पृ० 117
3 अभि०चि०· पृ० 232 श्लोक 595-598. हलायुधकोश पृ० 67
4 मिताक्षरा, कायस्था लेखका गणकाश्च तै० पीड्यमाना विशेषतो रक्षेत, 1-33

पूर्वमध्यकालीन साहित्यिक साक्ष्यो एव अभिलेखो से कायस्थो की सामाजिक स्थिति का ज्ञान होता है। विवेच्यकाल मे कायस्थ का सर्वप्रथम उल्लेख कनुसुआ अभिलेख मे हुआ है। इस प्रशस्ति की रचनाणाभिकान्गज नामक कायस्थ ने की थी[1]। गौरीशकर हीरानन्द ओझा के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, इत्यादि जातियो के जो लोग लेखक का कार्य करते थे वे कायस्थ कहलाए। कालान्तर मे उनका विकास एक स्वतन्त्र जाति के रुप मे हुआ[2] कायस्थ जाति की उत्पत्ति के विषय मे बडा विवाद है। कलकत्ता उच्च न्यायालय ने बगाल के कायस्थो को शूद्र माना है।[3]व्यास स्मृति मे कायस्थ नाइयो, कुम्हारो इत्यादि शूद्रो के साथ परिगणित हुए है।[4]इलाहाबाद, तथा पटना उच्च न्यायालयो ने इसको द्विज बताया है।[5] उशना (600-900 ई०) ने कायस्थो की विचित्र उत्पत्ति बताई है। इस मत के अनुसार काक, याम, स्थापित शब्द क्रम से लालच क्रूरता एव लूट के परिचायक है।[6] परन्तु भविष्य पुराण और पद्मपुराण सातवी शता० मे कायस्थो को क्षत्रियो की सतान कहा गया है।[7] सोडढल की उदयसुदरी कथा से ज्ञात होता है।[8] कि बालम कायस्थ क्षत्रिय जाति के थे।

उक्त साक्ष्यो के अनुशीलन से यह प्रकट होता है कि 8 वी शता० तक कायस्थ केवल अधिकारी ही थे, उन्हे किसी जाति के अन्तर्गत नही रखा गया था। लेकिन नवी-दसवी शथाब्दी से वे एक जाति के रुप में जाने गए । पहले जो कायस्थ एक व्यावसायिक वर्ग था, वह जाति बन गयी क्योकि इन लोगो का कार्य वशानुगत था और धीरे-धीरे समय के अन्तराल के साथ-साथ यह कायस्थ वर्ग जाति के रुप मे अस्मीभूत हो गया।

क्षेमेन्द्र का कहना है कि कायस्थ राज्य का राजस्व वसूलते थे, राज्य के गोपनीय लेखो तथा दस्तावेजों की देख-भाल करते थे तथा खजाने पर नियत्रण रखते थे[9]। एक गौड कायस्थ का चदेल राजा परमार्दिन का सन्धिविग्रहीक होना भी प्रसगित है। दसवी तथा तेरहवी शताब्दी के लेख यह प्रकट करते है कि कायस्थ कानूनी दस्तावेज के लेखक थे।[10]और वे इतना धन एव प्रतिष्ठा अर्जित कर चुके थे कि दान भी दिया[11]करते थे।

1 इडि० एंटी०, 19. पृ० 57
2 ओझा गौ० ही०, मध्यकालीन भारतीय सस्कृति पृ० 48
3 काणे पी० वी० धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ० 128 पर उदघृत।
4 व्यास स्मृ० 1/10-11
5 काणे पी० बी० धर्मशास्त्र का इतिहास पृ० 128 पर उद्घृत।
6 उशना, 35
7 सरकार गोपाल चन्द्र, ए ट्रिटाइज आन हिन्दू लॉ पृ० 143
8 उदयसुन्दरी कथा की भूमिका
9 राजतरंगिणी, नापौश्चलीयो दु:शलों नाद्रोही नित्यशकित. नावाचालो मृषाभाषी नाकायस्थ कृतघ्नधी। 4.80
10 आर० एल० ए० आर० बी० पी० 328 वाजड अन्डर भीम-2
11 इंडि० एंटी०20208 एपि० एंडि० 20 130. 136

बारहवी सदी मे कायस्थो के उच्च पदो पर असीन होने के बहुत से प्रमाण मिलते है। **प्रबन्धचिन्तामणि** के अनुसार करणकायस्थ उमापतिधर, मन्त्री था। इसी प्रकार बल्लालसेन का साधविग्रहीक हरिघोष कायस्थ था उल्लेख किया जाता है। प्रशासनिक अधिकारी, साधिविग्रहिक आदि पदो पर कार्यरत करण कायस्थो के उल्लेख भी मिलते है जिनका उत्तर भारत के पूर्व मध्यकालीन राजनीति मे महत्वपूर्ण योगदान था। इस प्रकार बारहवीं शताब्दी के अन्त तक करण के अधिकारी तथा कायस्थ को एक ही जाति के रुप मे माना जाने लगा। पूर्वमध्य काल तक के कायस्थ निश्चय ही जाति के अन्तर्गत आ गए थे। चौलुक्य कुमारपाल के अधीनस्थ सामन्त प्रतापसिंह के लिए नडोल और ननन् दान-पत्र पडित महीपाल और महाक्षपटलिक महादेव कायस्थ ने अकित करवाया था। नाणा (वि० स० 1257) अभिलेख से ज्ञात होता है कि गौड कायस्थ उदय सिंह ने ब्राह्मणो की कपिल मे 33 द्रम्म और 6 विंशोपक उसकी व्यवस्थार्थ दिए[1]। कतिपय अभिलेखो मे कायस्थो द्वारा ठक्कुर उपाधि धारण करने की भी उल्लेख है।

ठक्कुर की उपाधि धारण करने तथा भूमि अनुदान करने के कारण एतत् कालीन कायस्थो की सामाजिक स्थिति सम्मानपूर्ण हो गयी थी। अनेक क्षेत्रीय उपजातियॉ बन गयी थी। गुजरात मे हमें कायस्थो की दो उपजातियाँ केवल गौड तथा बल्लभ मिलते हैं, जिनका कार्य अनुदान का मार्यादा तय करना था। बारहवी शताब्दी के अभिलेखों मे कायस्थों के सक्सेना, कटारिया, निगम आदि उपविभाजन मिलते है इनका कार्य अभिलेखो को लिपिबद्ध करना भी था। धीरे-धीरे कायस्थ जाति की विभिन्न शाखाए हो गईं जो स्थान विशेष से प्रसिद्ध हुईं। गौड प्रदेश के गौड कायस्थ, मथुरा के माथुर, सारस्वत प्रदेश मे श्रीवास्तव वर्ग के कहे गए।[2]

परिवार

किसी भी समाज के सामाजिक ढाचे की बुनियाद परिवार होता है। हिन्दू परिवार का आवश्यक स्वरुप तथा विचार थोडे बहुत परिवर्तन एक बावजूद सभी युग में लगभग एक समान ही था। प्राचीन काल के हिन्दू विचारकों ने परिवार के महत्व पर बहुत जोर दिया है। बारहवी शताब्दी में भी हम पाते है कि लक्ष्मीधर ने अपने **कृत्यकल्पतरु के गृहस्थकाण्ड** मे उन्ही प्राचीन विचारो की पुनरावृत्ति की है।

प्रबन्धचिन्तामणि[3] मे भी एक स्थान पर गृहस्थ धर्म के पालन के लिए जैन आचार्य ने इसी प्रकार का

---

1 पी० आर० ए० एस० डब्लू० सी० 1907-8 पृ० 49.
2 जयशंकर मिश्र वही पृ० 436.
3 प्रबन्धचिन्तामणि, टॉनी पृ० 156

वर्णन किया है कि आचार्य विजयसेन गृहस्थो के कर्तव्यो का उपदेश देते हुए कहते है कि गृहस्थ के लिए सात अग है, जिनको उपासकदश (उवासगदसाओं) कहते है। वे है—भगवान का पूजन, आवश्यक क्रियाए, जैन आचार्यों को भिक्षा देना, तथा इसी प्रकार के कार्य जो जिन ने बताए है करना चाहिए तेज पाल ने इन नियमो का पालन किया था **देशीनाममाला**[1] मे परिवार के लिए पहण शब्द मिलता है तथा परिवार के विभिन्न सदस्यो के लिए भी पृथक-पृथक शब्दो का प्रयोग हुआ है। हिन्दू समाज मे परिवार का एक गौरवमयी स्थान था। वास्तव मे हिन्दू समाज का ढाचा युगो से सयुक्त-परिवार तथा जाति व्यवस्था के इर्द-गिर्द घूमता था। सयुक्त परिवार की समाज मे प्राचीन परपराए थी। इस बात का भी खडन नही किया जा सकता है कि एक हिन्दू सप्रदाय के विकास में तथा खुले सामाजिक विचारो मे परिवार (वश) तथा जाति-व्यवस्था बाधक थी।

पुरुष तथा स्त्री के वैवाहिक सबन्ध के फलस्वरुप एक परिवार की शुरुआत होती है। समाज में एक परिवार के तीन सामाजिक कार्य राजनीतिक व्यवस्था को ध्यान मे रखते हुए बताया गया है, सामाजिक सम्बन्ध बनाना, दूसरा, श्रम का पुरुत्पादन तथा तीसरा, परिवार को चलाना तथा इसके सदस्यों का पोषण करना। किसी भी देश के सामाजिक ढाचे की परिवार ही प्राररभिक इकाई है।[2]

गुप्त कालीन लेखो से हमे ज्ञात होता है कि प्रान्त-पतियो, नगरपतियों तथा गोप्ता इत्यादि की नियुक्तियो मे अर्हता पर अधिक बल दिया गया है।

सयुक्त परिवार मे अनेक सदस्य होते थे। उन सदस्यो के सहयोग और समर्थन से परिवार का विकास होता था। माता-पिता, पति पत्नी, पुत्र-पुत्री के सयोजन से इसकी सरचना सार्थक होती थी। वस्तुत इन सदस्यों के सहयोग से ही परिवार का उत्कर्ष होता था। कुटुम्ब का सचालक, कार्यों का सयोजक और धन-सम्पत्ति का व्यवस्थापक परिवार का वरिष्ठ सदस्य होता था, जो कर्त्ता कहा जाता था। उसका परिवार पर पूर्ण अधिकार और स्वत्व होता था। कुटुम्ब का भरण-पोषण, देखरेख, शिक्षण-प्रशिक्षण और रक्षण-सरक्षण वही करता था। इसीलिए उसे सतान की रक्षा करने वाला कहा गया।[3] सयुक्त परिवार की परम्परा के विरुद्ध भी कुछ लोग थे। प्राचीन युग मे पिता ही सयुक्त परिवार का मुखिया होता था किसी पुत्र को अपने पिता से अलग होने का अधिकार नहीं प्राप्त था। विवेच्यकाल मे (12 हवी शताब्दी) मे इस विचार को महत्व दिया है कि पुत्र पूर्वजो की सपत्ति का

---

1 देशीनाम० एक सास्कृतिक अध्ययन, पृ० 106 (6-5)
2 एडवांस्ड हिस्ट्री ऑफ इंडिया, के० ए० नीलकंठ शास्त्री पृ० 276
3 शब्दकल्पद्रुम, पृ० 143 पाति रक्षत्यपत्यं यः स पिता।

दायादी है जबकि जीमूतवाहन[1] ने यह कहा है कि पिता के जीवनकाल मेपुत्र को हिस्सा मागने का अधिकार नहीं है।

हिन्दू समाज मे माता का स्थान अत्यन्त ऊँचा, गरिमायुक्त और महत्वशाली था। स्मृतिकारो ने भी माता को 'परम गुरु' मानकर परिवार और समाज मे उसकी सर्वोच्चता दर्शित किया[2]। प्राचीन हिन्दू परिवार मे पति का स्थान पत्नी के साथ -साथ आकलित होता रहा है किन्तु पति का प्रभुत्व पत्नी की तुलना मे क्रमश बढने लगा और समाज मे उसकी महत्ता स्थापित हो गयी । पूर्वमध्यकालीन भाष्यकारो और लेखको ने भी पति के उत्तरदायित्व और कर्त्तव्य का सम्यक चित्रण किया है। पत्नी और परिवार का भरण-पोषण पति का प्रधान कर्तव्य था। विज्ञानेश्वर मनु को उद्धत करते हुए लिखते है कि वृद्ध माता-पिता, साध्वी भार्या और शिशु का पालन सैकडो अकाज (अनुचित) कार्य करके भी होना चाहिए।[3] कुटुम्ब के सदस्यो मे पत्नी की अभूतपूर्व महत्ता रही है। सयुक्त हिन्दू परिवार मे पत्नी की महत्वपूर्ण प्रेरक भूमिका रही है। वह परिवार के सदस्यों के बीच सम्बन्ध स्थापन, गृह के निर्माण, सचालन और पालन मे महत्वपूर्ण योगदान करती रही।

हिन्दू परिवार मे पुत्र का अत्यधिक महत्व रहा—क्योंकि उससे कुल और वश का वर्धन और उत्कर्ष होता है। सयुक्त परिवार मे सबसे बडे पुत्र को अन्य सदस्यो की अपेक्षा अधिक सम्मान प्राप्त था। पिता की मृत्यु के बाद पुत्र को गृहपति का गौरव प्राप्त होता था [4] औरस, क्षेत्रज, दत्तक, कृत्रिम, गूढज, अपविद्ध, कानीन, सहोढ, क्रीतक, पौनर्भव, स्वयदत्त, पारशव पुत्रो के प्रकार है। **कथासरित्सागर**[5] के अनुसार पुत्री की प्राय इच्छा नहीं की जाती थी। पुत्री का स्थान हिन्दू सयुक्त परिवारो मे पुत्र की तुलना मे उपेक्षनीय और दयनीय विज्ञानेश्वर के अनुसार पुत्री सम्पत्ति के चतुर्थांश का दायाद स्वीकार की जाती थी।[6]

परिवारो के दैनिक क्रिया-कलापो को करने के लिए भी नियमो को बनाया गया था। वे लोग गृहस्थ आश्रम के लिए बनाए गए कर्तव्यों का पालन करते थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र अपने-अपने कार्यों के अनुसार अपने दैनिक कार्यों को सम्पन्न करता था। **रासमाला**[7] में ब्राह्मणो, वैश्यों तथा क्षत्रियो के दैनिक कार्यों

---

1 दायभाग, (द्वितीय सस्करण) पृ० 18 उद्घृत जयशंकर मिश्र पृ० 384-402
2 मनु०, 2. 145; याज्ञ, 1.35
3 वृद्धौ च मातापितरौ साध्वी भार्या शिशु. सुत। अप्यकार्यशत कृत्वा भर्तव्वा मनुरब्रवीतं॥ मिताक्षरा 1.24
4 दायभाग, (द्वितीय सस्करण) पृ० 20.
5 कथासरित् पृ० 286
6 विज्ञानेश्वर, मिता० टीका-2.135
7 रास माला, पृ० 252-555

के विषय मे जानकारी प्राप्त होती है। ब्राह्मण चारो समय पूजा का कार्य करते तथा खान-[illegible] [illegible]ष नियमो का पालन करते थे। भोजन के पूर्व ब्राह्मण पुन स्नान करते थे जबकि क्षत्रिय तथा वैश्य केवल हाथ पैर धोते थे। भोजन के बाद वैश्य पान तथा सुपारी खाते थे जिससे कि निम्न जाति द्वारा स्पर्श कर लेने पर भी भोजन का बिकार मिट जाए।

वैश्य लोग भी प्रात उठ कर स्नान करके पूजन के लिए मदिर जाते थे। तत्पश्चात प्रात जलपान करके, पान खाकर अपने-अपने बाजार जाते तथा शाम तक रहते थे तथा दैनिक कार्यों को करते थे। शाम को लौट कर वे पुन मदिर जाते तदनन्तर भोजन करते थे।

शूद्रो को कुछ कार्य करने के ही अधिकार थे। 12 हवी शता० मे विज्ञानेश्वर[1] ने शूद्रो को पचमाहायज्ञ करने की अनुमति दी है परन्तु लक्ष्मीधर[2] ने केवल पाक-यज्ञ करने की अनुमति दी है।

अल्बेरुनी[3] के अनुसार परिवार का एक बजट होता है, जिसमे शासक को कर भी देना होता था जो भूमि, चारागाह तथा आय का 1/6 भाग पर होता था। 1/4 विपत्ति के समय के लिए होता था। जिसको भी तीन भागो मे बाटा जाता था, जिसमे एक भाग सकटकाल मे, दूसरा व्यापार पर लाभ कमाने के लिए तथा तीसरा भिक्षा दान पर खर्च होता था। उसके अनुसार तत्कालीन समाज मे शूद्रों के अलावा किसी के लिए सूदखोरी की अनुमति शास्त्र मे नहीं देते फिर भी कुसीद वृत्ति प्रचलन मे थी।

बारहवी शताब्दी ईस्वी मे यह व्यवस्था थी की एक निश्चित अवधि की आयु तक आकर व्यक्ति को कुछ धार्मिक परम्पराओं का पालन करना होता था। अत्यधिक गरीबी भी कभी-कभी व्यक्तियो को सन्यास लेने के लिए विवश कर देती थी। लक्ष्मीधर के **कृत्यकल्पतरु** मे इस परिवार विरोधी परम्परा तथा गृहस्थ धर्म को पकड़ रखने का विचार व्यक्त किया है लक्ष्मीधर ने मोक्ष काण्ड मे ब्रह्मचर्य के तुरन्त बाद सन्यास की बात की अनुमति दी है।[4]

---

1 मिताक्षरा आन याज्ञ, 1121 नमित्यनेन मन्व्णेपर्वोक्त न्यज्वभटटाय ज्ञान हरर्दन हायपेदनष्ठिता
2 गृहस्थ काण्ड, पृ० 273 द्विजशत्रुष्यवैष पाक यज्ञाधिकारवान
3 साचऊ2 पृ० 149-50
4 के० वी०-आर आयंगर- इंट्रोडक्शन टू ग्रहस्थकाम्ड पृ० 4.

विवाह—

प्रबन्धचिन्तामणि मे किसी विशेष प्रकार के विवाह का विस्तार से वर्णन नही प्राप्त होता है। शासक वर्ग द्वारा बहुविवाह किए जाए के प्रसग प्राप्त होते है। केवल बाल विधवाओं के पुनर्विवाह के कुछ एक उदाहरण प्राप्त होते है। वस्तुपाल और तेजपाल की मा, जो एक बालविधवा थी उससे उनके पिता आशाराज ने विवाह किया।[1] गन्धर्व विवाहो का प्रचलन बहुत अधिक राज परिवारो मे मिलता है। मयणल्ल देवी ने कर्ण से गधर्व विवाह किया था[2]।

विवाह एक महत्वपूर्ण सामाजिक सस्कार था। इसे परिवारिक जीवन के लिए महत्वपूर्ण माना गया । सूत्रकाल से ही आठ प्रकार के विवाहो का वर्णन मिलता है—ब्रह्म, दैव, आर्ष, प्रजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस तथा पैशाच। **गृहस्थकाण्ड** मे लक्ष्मीधर ने इन विवाहो को भिन्न-भिन्न वर्णों के लिए बताया है।[3] धर्मशास्त्रो मे इन आठ प्रकार के दो समूहो मे बॉटा है। इनमें प्रथम चार जैसे ब्रह्म, दैव, आर्ष तथा प्रर्जापत्य को प्रशस्त (Dharmya) या धार्मिक बताया है।[4] बाकी चार प्रकार को असुर, गान्धर्व, राक्षस तथा पैशाच को अप्रशस्त या अधार्मिक बताया है क्योकि वे केवल निम्न जातियो के लिए थी। मनु के अनुसार आसुर और पैशाच प्रकार के विवाह सभी जाति के लिए मना थे।[5]

धर्मशास्त्र ग्रन्थो के अनुसार प्रशस्त (वैध) विवाह मे वर तथा कन्या का एक ही वर्ण का होना आवश्यक था। अनुलोम प्रकार के विवाह मे अन्तर्जातीय विवाह करने की अनुमति प्रदान की गयी है।[6] प्राचीनकाल मे अन्तर्जातीय विवाह के नियम अधिक कठिन नही थे लेकिन पूर्वमध्यकाल मे हम ऐसे विवाहो पर अपेक्षाकृत अधिक प्रतिबन्ध पाते है। प्रतिलोम विवाह का भी इस काल मे निषेध मिलता है।[7] सबसे अधिक जोर सजातीय विवाह पर दिया जाता था। इस प्रकार विजातियो का वर्णेतर कन्या से विवाह करना कलियुग में स्वीकार नहीं किया जाता था।

---

1 प्र० चि०, टॉनी पृ० 155
2 वही, पृ० 79
3 गृहस्थकाण्ड, पृ० 74
4 वही, पृ० 72
5 यादव बी० एन० एस०, सो० ए० क ० इब० ना० इ० पृ० 66
6 यादव, सो ए० क० इ० ना० इ० पृ66
7 काणे, एच० डी० भाग 11, अ०1 पृ० 449.

लक्ष्मीधर[1] के अनुसार ब्राह्मण का विवाह शूद्र स्त्री के साथ किसी विशेष परिस्थिति मे माना जाता था, लेकिन इसे उन्होने निम्नस्तर का माना है। उनका कहना है कि शूद्र स्त्री कभी सहधर्मिणी नही हो सकती और इस प्रकार का विवाह लोगो द्वारा स्वीकार नही किया जायेगा। मनु के अनुसार पिता की जाति ही सतान की जाति होती थी। जबकि दूसरी ओर विज्ञानेश्वर के अनुसार सतति की जाति माता की जाति से मानी जाती थी।[2] यह स्थिति केवल अनुलोम विवाह से उत्पन्न सतान के सदर्भो में ही लागू होती थी। जिससे दायाद पुत्रो के क्रम निर्धारण मे जटिलता न आने पाये। ग्यारहवी शताब्दी के अल्बेरुनी का कथन है कि पहले ब्राह्मण अपनी जाति या नीची जाति की स्त्री से विवाह कर सकता था परन्तु इसकाल मे सजातीय सत्री के अतिरिक्त अन्य किसी से विवाह नही कर सकता था। इससे यह प्रकट होता है कि ब्राह्मणो मे असवर्ण विवाह का प्रतोत्साहन हुआ था । जन साधरण में एक विवाह ही प्रचलित था।[3]

स्त्री-दशा—

प्राचीन काल से लेकर पूर्वमध्यकाल के अन्त तक स्त्रियो की स्थिति मे निरन्तर परिवर्तन के प्रमाण प्राप्त होते है। कभी उन्हे बहुत ही सम्माननीय माना गया है तो कभी उन्हे इतना गिरा हुआ माना है कि उन्हे सभी धार्मिक तथा राजनीतिक अधिकारो से अलग रखा गया है।

प्राचीन जैन ग्रन्थो मे भी कुछ स्त्रियों के द्वारा, जो कठोर नियमो को अपनाकर जीवन के ऊँचे लक्ष्य को प्राप्त किए थी, उनका उल्लेख मिलता है। इस प्रकार की स्त्रियो की जैन लेखको ने प्रशसा की है। इस प्रशसा के बावजूद भी जैनो मे स्त्रियो के लिए अनुकूल परिस्थितिया नही रही। ग्यारहवीं- बारहवी शताब्दी में समाज में स्त्रियो की दशा का वर्णन करने के लिए कुछ विचार मिलते हैं। सन्यासियो के विचार मे स्त्री नैतिक तथा आध्यात्मिक पतन का कारण होती है।[4] **प्रबन्धचिन्तामणि** में भी दिगम्बर स्त्रियो को अच्छे कार्यों के लिए उपयुक्त नही मानते थे।[5] किन्तु यह स्थिति साभ्रान्त एव राज्य परिवार की स्त्रियों पर कम घटित होती थी। **प्रबन्धचिन्तामणि** मे एक स्थान पर उदाहरणार्थ 1178 ई० में गुजरात की नाईकी देवी ने अपने पुत्र को गोद में लेकर म्लेच्छों से युद्ध किया, ऐसा उल्लेख प्राप्त होता है।[6] इसी प्रकार का उल्लेख एक अन्य स्थल पर भी मिलता है चौलुक्य

---

1 गृहस्थकाण्ड, पृ० 44.
2 राजस्थान थ्रू द एजेज पृ० ४५४
3 दायभाग, पृ० 9
4 प्रबोधचन्द्रोदय, 1.27
5 प्र० चि०, टॉनी, पृ० 100
6 वही, पृ० 154

जयसिह की माता मयणल्लदेवी द्वारा सोमेश्वर पत्तन की तीर्थयात्रा पर जाकर प्रभूत धन दान देने का उल्लेख आया है।[1] कश्मीर के इतिहास मे 10 वी 11वी शता० मे सुगन्धा एव दिद्दा सफल शासिका हुई।[2] **राजतंरगिणी** मे भी छुद्दा (chudda) तथा सिल्ला नामक स्त्रियो की वीरता की उपब्धियो का वर्णन मिलता है।[3] पृथ्वीराज विजय मे यह उल्लेख मिलता है कि राजा सोमेश्वर ने अपनी मृत्यु के समय अपने पुत्र पृथ्वीराज तृतीय की सुरक्षा हेतु अपनी पत्नी कर्पूरदेवी को नियुक्त किया।[4] मेवाड के राजा समरसिह की विधवा कुमारदेवी ने 1195 ई० में कुतुबुद्दीन के आक्रमण को रोकने की व्यवस्था की थी।[5]

स्त्रियो का सपत्ति सबन्धी अधिकार प्राचीनकाल से ही प्रचलित था। इसकाल मे भी यह विद्यमान था, इसके प्रमाण विस्तार से **मिताक्षरा** तथा **दायभाग** मे मिलते है[6]मयणल्ल देवी द्वारा प्रभूत धन देने के उदाहरण इस बात का अनुमान होता है कि इस समय मे स्त्री का सपत्ति पर अधिकार होता था।

राज्यकन्या अपने पति का वरण स्वय करती थी। फलत गन्धर्व विवाह का प्रचलन था उदाहरणार्थ **प्रवन्धचिनतामणि** मे मयणल्लदेवी द्वारा कर्ण से गन्धर्व विवाह करने का उल्लेख मिलता है।[7] हिन्दू समाज में विधवाओं की स्थिति प्रारम्भ से ही दयनीय रही है। विधवा विवाह उच्चवर्ग मे प्रचलित नही था लेकिन शूद्रो में यह मान्य था।[8] प्रारम्भ मे विधवा-विवाह पर रोक लग गयी थी परन्तु कालान्तर मे कही कही बाल विधवा विवाह होने लगे थे। **प्रबन्धचिन्तामणि** मे कुछ उदाहरण मिलते हैं जिनसे यह प्रतीत होता है कि इस समय बाल-विधवा विवाह को बुरा नही समझा जाता था। कुमारदेवी नामक विधवा से जैन आचार्य हरिभद्र ने विवाह किया था।[9] इसी प्रकार एक ब्राह्मण की पुत्री जो बाल विधवा थी, सूर्यदेवता के पुत्र की मा बनी।[10] वस्तुपाल तथा तेजपाल की माता भी बाल-विधवा थी जिससे आशाराज ने विवाह किया । राजा कुमारपाल ने पुत्रहीन विधवा की सपत्ति जब्त किए जाने वाले कानून को समाप्त किया। यद्यपि अधीतकाल मे उत्तर-पश्चिमी भारत मे सती-प्रथा का बहुत प्रचलन था, परन्तु **प्रबन्धचिन्तामणि** मे इसका कोई उदाहरण नही प्राप्त होता है।

पूर्वमध्यकाल मे अन्य समकालीन साहित्य से पता चलता है कि इस समय वेश्यावृत्ति भी प्रचलन में थी।

---

1 प्र० चि० टॉनी० पृ० 84
2 राज, V, VI
3 वही VIII. II, 36-37; vii, 1969
4 जे० आर० ए० एस०, 1913 पृ० 227.
5 टॉड, एनल्स एम्ड एन्टीक्यूटीज ऑफ राजस्थान भाग 1, पृ० 270.
6 मिताक्षरा आन याज्ञ० 11 143; दायभाग अध्यायIV
7 प्र० चि०, टॉनी पृ० 79
8 राजस्थान थ्रू द एजेज़, पृ० 462
9 प्र० चि०, टॉनी, पृ० 155
10 वही पृ० 170

इन्हे प्राय निम्नस्तर का माना जाता था। **प्रबन्धचिन्तामणि** मे इसके विभिन्न उदाहरण मिलते है। **शोधग्रन्थ** में 'पणस्त्री' का उल्लेख हुआ है। वह धार्मिक कार्यों मे भाग ले सकती, शिक्षा प्राप्त कर सकती तथा विवाह भी कर सकती थी[1] कुछ वेश्याए नृत्य गायन से जीविकोपार्जन भी करती थी। इनकी आर्थिक स्थिति मे सुधार प्रतीत होता है।

दास-प्रथा

प्रबन्धचिन्तामणि मे भी दासता से सम्बन्धित उल्लेख मिलते है।[2] एक स्थल पर यह उल्लेख मिलता है कि वीरधवल के मत्री तेजपाल ने (सामुद्रिक) व्यापारियो द्वारा आदमियो के जबरदस्ती ले जाने पर रोक लगाकर ख्याति प्राप्त की।[3] **पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह** मे भी दास-दासी का उल्लेख आया है।[4]इनके अतिरिक्त विवेच्यकाल में जैन तथा अन्य ग्रन्थो मे स्त्री तथा पुरुष दासों का उल्लेख मिलता है। इनमें गृह-दास के अधिकाश साक्ष्य मिलते है[5] हेमचन्द्र की **देशीनाममाला** मे दास के लिए छोइओ तथा दासी के लिए दुल्लसिआ शब्द प्राप्त होता है।[6]

दासिता के कई घटक थे यथा—युद्ध में हार-जाना, ऋण न चुकाना, अकाल इत्यादि से ग्रसित होने पर स्वय विक्रीत दास बनाना प्रमुख कारण माने गए हैं। स्त्री दासो के विषय मे मैकडानेल का कहना है कि आदिवासी औरते पहले से ही दासवत होती थी, उनके पति युद्ध मे मर जाते थे और वे स्वाभाविक रुप से दासता-ग्रहण करती थी।[7] **लेखपद्धति** मे उद्घृत दासी-पत्रो से स्त्रियो के दासत्त्व स्वीकार करने के कारण उनके कार्यों तथा स्वामी का उनके साथ किया गया व्यवहार आदि के विषय मे जानकारी प्राप्त होती है। दासों की स्थिति पर लल्लन जी गोपाल एव ओ० पी० श्रीवास्तव जी के लेख से भी प्रभूत प्रकाश पडता है।[8]दास प्रथा अत्यन्त प्राचीन है मनु ने सात प्रकार के दासो के विषय मे उल्लेख किया है।[9] याज्ञवल्क्य ने नारद को उद्घृत करते हुए लिखा है कि नौकर तथा दास मे अन्तर होता था, नौकरों को केवल पवित्र कार्य करने पडते थे। जबकि दासों को

---

1 वही, 67, 68, 70, 83, 16, 186, 197.
2 प्रबन्धचि, मेरु पृ० 93.94 99,टॉनी 7, 35,-36, 40. 117, 147, 149.
3 प्रबन्धचिन्तामणि, मेरु सांयात्रिकजनो येन कुर्वानो हरणं नृणाम् निषिद्ध स्तदभूदेष धर्मोदाहरणं भुवि स्पृष्टासत्रृष्ट निषेध विद्यायावधि वेदिकाम् पृ० 99
4 पु० प्र० सं० पृ० 3 दासि क यासि; पृ० 7। दासीभिदृष्ट: पृ० 15,पृ० 109.
5 लाईफ इन एंश्यंट इंडिया ऐज डिपिक्टेड इन जैन कैनन्स पृ० 106.
6 देशीनाम III. 33; V. 46.
7 वैदिक इंडेक्स, भाग I पृ० 357.
8 ~~मनु० VIII, 415~~ ल० गोपाल, इ० ह्वि० रे० इ० पृ 74 80; ओ० पी० श्रीवास्तव आर्टिकल, इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस भाग 1, पृ० 124
~~9 याज्ञ. XIV. (अभ्युपेत्यसुश्रूषा) (660)~~
9 मनु० VIII, 415

अपवित्र कार्य जैसे घर की सफाई, सडक की सफाई, गड्ढा खोदना, मल ढोना तथा स्वामी की आज्ञानुसार जो भी कार्य हो उसे करना पडता था।[1] विज्ञानेश्वर[2] ने इन दासो के पन्द्रह वर्ग बताए है--

1. गृह-जात (जो दास स्त्री के घर पैदा हो)

2 कृत-जात (जो दास के घर पैदा हो)

3. लब्ध दास (जो उपहार मे प्राप्त हो)

4 दायादुपगता (पूर्वजो से)

5. आहित (जो पैसा देकर रखा गया है)

6 अनाकाल भृता (जो अकाल मे बचा हो)

7. ऋण-दास (जो कुछ ऋण अदा करके दास बना हो)

8 युद्ध-प्राप्त (जो युद्ध मे जीता गया हो)

9 पणे-जित (द्यूत मे जीता हुआ)

10. उपागत (जो इच्छा से बना हो)

11. प्रव्रज्या वसित (एक स्तरहीन सन्यासी हो दासता के लिए इच्छा करता हो)

12. कृत (जो कुछ समय के लिए हो)

13 भक्त-दास (मालिक के प्रति समर्पण के लिए बना हो)

14 बडवा हृत (जो दास स्त्री के आकर्षण के कारण हो)

15 आत्म-विक्रेता (स्वय को बेचकर दास बने)

दासो का वर्गीकरण जो नारद ने किया है उसको पूर्वमध्यकाल के टीकाकारो ने भी स्वीकार किया है।[3] दासों के पन्द्रह वर्गों मे से कृत दास एक था जो न केवल हिन्दू [4] बल्कि जैनों मे भी उल्लिखीत हुआ है।[5]

---

1 सोसाइटी एण्ड कल्चर इन ना० इडिया, पृ० 73.

2 ~~ल० गोपाल, इ० ला० न० इं० पृ० 74.80 ; ओ० पी० श्रीवास्तव, इडियन हिस्ट्री कांग्रेस भाग I, पृ० 124~~ ... याज्ञ० XIV

3 मिताक्षरा, 11. 182; अपरार्क आन याज्ञ० 11-182 पराशर-माधव, व्यवहार काण्ड पृ० 239-40.

4 वही, लक्ष्मीधर, व्यवहार काण्ड, 61, पृ० 371.

5 जिनदास, जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज पृ० 157.

लेखपद्धति मे चार दासीपत्रों विधि प्राप्त होते है जो वि० सं० 1288 के है, जिनके माध्यम से हमे महाराष्ट्र तथा गुजरात क्षेत्रो मे स्त्री दासो के विषय मे विस्तृत जानकारी प्राप्त होती है।[1] स्त्रियो द्वारा दासत्ता स्वीकार करने का प्रमुख कारण आर्थिक था। जब अकाल पडता या विदेशी आक्रमण होते तो आर्थिक स्थिति भी प्रभावित होती थी, निम्न स्तर के लोगो के पास ऐसी स्थिति मे दासता स्वीकार करने के अतिरिक्त और कोई विकल्प नही होता था स्त्रियाँ भी ऐसी स्थिति मे दास बनना स्वीकार करती थी। जैन पुस्तको मे बहुत सी स्त्री दासो के विषय में वर्णन है जो विदेशो से लाई गयी थी।

कथासरित्सागर[2] मे स्त्री-दासो का भी उल्लेख प्राप्त होता है। कात्यायन के विचार से एक स्वतन्त्र स्त्री यदि दास से विवाह करती है तो उसको अपने पति के स्वामी की दासता स्वीकार करनी पडती थी, इनका अनुमोदन देवण्णभट्ट ने भी किया है।[3] कथासरित्सागर[4] मे उल्लेख है कि दास का विवाह मृतदास तथा ब्राह्मणों से किया जाता था। इसी ग्रन्थ मे पाटलिपुत्र के एक व्यापारी द्वारा दासो को नियुक्त करने का भी उल्लेख है। जीमूतवाहन का विचार है कि यदि एक दास स्त्री कई व्यक्तियो द्वारा प्राप्त की जाती थी तो उसे प्रत्येक व्यक्ति की सेवा (कुछ दिनो तक) करनी होती थी।[5] दासो को गृह के कार्य के अतिरिक्त बाहर के कार्य भी करने पडते थे। अधीतकाल मे प्राय वे घरेलू कार्य के लिए खरीदे जाते थे, परन्तु आपातकाल मे वे आर्थिक उद्देश्य के लिए भी प्रयुक्त होते थे। **त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित**[6] मे स्त्री दासो द्वारा किए जाने वाले कार्यों खलिहान का कार्य, आटा पीसना, पानी ले जाना, घर की सफाई करना, घर को गोबर से लीपना। बर्तन साफकरना इत्यादि का उल्लेख प्राप्त होता है। लेख पद्धति मे हमे दासियो द्वारा किए जाने वाले कार्यों का विस्तृत लेखा मिलता है। सब्जी काटना, मसाला पीसना, फर्श लीपना, सफाई करना, ईंधन लाना, पानी लाना, मालिक के घर का रात का कूडा फेकना, गाय, भैस तथा बकरी का दूध दुहना, दही बनाना, मट्ठा बनाकर खेत ले जाना, तथा खेत के कार्यो मे चारामशीन ले जाना तथा घास काटना इत्यादि। [7]द्वितीय दस्तावेज मे इन कार्यों के अतिरिक्त भोजन

---

1 लेखपद्धति 44-47. ऐज कोटेड बाई ए० के० मजूमदार इन चौलुक्य ऑफ गुजरात पृ० 152, 345-349; पुष्पा प्रसाद, आई० सी० एच० आर० भागXV.
2 कथासरित्सागर 1. 240, 261, 307.
3 स्मृति चन्द्रिका, II, 201.
4 कथास० 1, 240, 261, 307.
5 दायभाग अनु० 7 ई० स्मृति भूषण, पृ० 13.
6 त्रि० श० पु० च० III. पृ० 248.
7 ले० प० पृ० 44.

पकाना था खलिहान का कार्य भी जोडा गया है।[1] इनके अतिरिक्त भी कुछ कार्यों को करने का उल्लेख तृतीय पत्र मे प्राप्त होता है। खेत जोतना, मालिक के हाथ-पॉव धोना, खाल की सफाई करना पानी के जलाशयो (कुण्डिका) की सफाई तथा पशु चराने के कार्य थे।[2] परन्तु यह स्पष्ट नही है कि इन कार्यों के लिए उन्हे अलग से रखा जाता था या फिर किसी आर्थिक उद्देश्य से ये कार्य कराए जाते ते। इनके अतिरिक्त मालिक के कहने पर दासो को दूसरे के घर भी काम करना पडता था[3]

दास लडकियो का प्रयोग वेश्या (रखैल) के रुप मे भी किए जाने के उल्लेख प्राप्त होते हैं[4] दायभाग में भी स्त्रियो को आनन्द के लिए रखे जाने का उल्लेख है[5] मेघातिथि ने भी इस उद्देश्य से रखी जाने वाली स्त्रियों का उल्लेख किया है।[6] **मिताक्षरा** मे भी ऐसी दासियो के लिए अवरुद्धा तथा भुजिष्या शब्दो का प्रयोग मिलता है।[7] **लेखपद्धति** के दास्तावेजो मे उनकी आयु तथा रुप रग का विवरण इस बात को द्योतित करता है कि इनका प्रयोग विलासता के लिए भी होता था।[8] डा० मुहम्मद अशरफ का यह विचार है कि दास वैश्याऐं बगाल तथा कभी-कभी मलाया द्वीप से तेरहवी शताब्दी मे आयात की जाती थी।[9]

दासो की स्थिति समाज मे अच्छी न थी । कभी-कभी वे मालिको द्वारा बहुत सताए जाते थे। उनके स्वामित्व के अधिकार बहुत उपेक्षापूर्ण थे।[10] क्षेमेन्द्र की सेव्य-**सेवकोपदेश** तथा **उक्ति व्यक्ति प्रकरण** में दामोदर पडित ने भी दासो की दशा का वर्णन करते हुए कहा है कि वे पीटे जाते थे तथा उनकी स्थिति दयनीय थी।[11] हेमचन्द्र ने **त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित**[12] में दासों के प्रति व्यवहार का उल्लेख करते हुए कहा है कि उन्हे खच्चर की तरह पीटा जाता था, भारी वजन सहना पडता तथा प्यास सहन करना इत्यादि था। **लेखपद्धति**[13] मे एक

---

1 वही पृ० 44 5.
2 वही पृ० 47.
3 वही
4 अर्थशास्त्र III 13; कात्यायन 728; जातक 1 225, 451 ; III. 409, 444; VI.110,117,185
5 दायभाग पृ० 149.
6 मेघातिथि आन मनु IX, 13.
7 आन याज्ञ। II. 280
8 ले० प० पृ० 44-5,47.
9 अशरफ के० एम० लाईफ एण्ड कडीशन्स ऑफ द पीपुल ऑफ हिन्दुस्थान भाग I. 1935 पृ० 188.
10 हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र भाग II, पृ० 186.
11 सेव्य पृ० 20, 50; उक्ति पृ० 81.
12 त्रिषष्टि, I, 56.
13 लेप० 45-47.

दास को जाडा, गर्मी, वर्षा, दिन और रात सब समय कठिन परिश्रम करने तथा भूख और प्यास की परवाह न करने को बताया है। प्रताडित होना और पिटना तो दासो का भाग्य ही हो गया था। **लेखपद्धति**[1] मे ही एक स्थल पर यह कहा गया है कि मालिक को यह अधिकार था कि यदि दासी भाग जाय, चोरी करे, अफवाह फैलाए, तो वह उसको पीट सकता है, उसके बाल पकड कर गिरा सकता है, बॉध सकता है और पीट सकता है। कभी-कभी उन्हे इतना प्रताडित किया जाता था कि वे **आत्महत्या** करने पर मजबूर हो जाती थी, वे या तो जहर खा लेती थी या कुऐं अथवा तालाब मे कूद कर आत्महत्या कर लेती थी।[2]

लेखपद्धति में केवल मालिक की शक्ति तथा दासी के कार्यों का ही उल्लेख किया है, उनके बचाव तथा अधिकारो का कोई विवरण नही प्राप्त होता है।[3] मेघातिथि[4] ने दास को केवल कपडा तथा खाना देने की बात कही है। **लेखपद्धति** मे भी दासी को कार्य के बदले में केवल कपडा, खाना तथा पैर मे पहनने का सामान मिलता इससे अधिक कुछ नहीं।[5] मेधातिथि[6] ने उन्हें सम्पत्ति का अधिकार तो दिया है परन्तु उसे वह अपने स्वामी की इच्छानुसार ही प्रयोग कर सकता या, बिना आज्ञा के नही। इस प्रकार राहुल सकृत्यायन्[7] ने अधीतकाल मे दासो के साथ व्यवहार अमानवीय बताया है।

अधीतकाल मे दास-दासियो के व्यापार के उल्लेख साहित्य तथा अभिलेखो मे प्राप्त होते हैं। **प्रबन्धचिन्तामणि**[8] में यह उल्लेख है कि वीरधवल का मन्त्री तेजपाल ने नाविकों द्वारा व्यक्तियों के अपहरण पर रोक लगाई। गुजरात से बहुत से दासो का निर्यात होने से एक योग्य जैन मन्त्री के लिए गभीर समस्या हो गयी थी। बहुत सी कहानियो मे गॉवो मे डाकुओं द्वारा बन्दी बनाकर उन्हे बेचने के उल्लेख प्राप्त होते है। जंगली जातियॉं भी इस प्रकार का कार्य करती थी।[9] **उपमितिभव प्रपंचकथा** में एक उल्लेख प्राप्त होता है कि डाकू एक व्यक्ति को खूब खिलाते थे, जिससे उन्हे बाद मे अच्छे दाम पर बेच सके।[10] इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि

---

1 वही 44-47.
2 वही 58
3 गोपाल ल; ला० ना० ई० पृ० 76.
4 आन मनु, IX 143.
5 ले० प० 45-7.
6 आन मनु VII, 416
7 हिन्दी काव्य धारा, इन्ट्रोडक्शन पृ० 17.
8 प्रबन्धचिन्तामणि, मेरु पृ० 99. 1.20.
9 समराइचकहा, II पृ० 91.
10 उपमिति पृ० 404-5.

उस समय फारस के गुलामो का निर्यात होता था। **कथाकोश** मे इसी प्रकार का उदाहरण प्राप्त होता है कि मित्रानद किस प्रकार डाकुओं के हाथो मे पडा और उसे कुछ व्यापारियो को बेचा गया।[1] इसी से सम्बन्धित उल्लेख **कथासरित्सागर**[2] मे भी प्राप्त होता है।[3] **लेखपद्धति** मे हमे यह विवरण प्राप्त होता है कि समुद्री जहाजो मे दासो को विदेश ले जाते थे तथा उनके बदले मे अन्य सामान लाए जाते थे। इससे यह प्रतीत होता है कि कुछ राजा भी दासो के व्यापार मे शामिल थे। इस प्रकार **राजतरंगिणी**[4] के अनुसार कश्मीर का राजा वज्रादित्य ने बहुत से आदमियो को दास के रुप मे म्लेच्छो को बेच दिया। **लीलावती** मे यह उल्लेख है कि एक लडकी जो महाराष्ट्र मे पकडी गयी उसे गुजरात तथा राजस्थान मे बेचा गया।[5]

इस प्रकार हम पाते है कि पूर्वमध्यकाल मे दासो के व्यापार बढने के लिए डकैती तथा बलपूर्वक ले जाना ये दो प्रमुख कारण थे। ये गुलाम केवल विदेशो का निर्यात ही नही किए जाते थे बल्कि ये तुर्क शासको द्वारा आयात भी किए जाते थे। दास स्त्रियो के आयात किए जाने के कुछ प्रसग जैन साहित्य मे भी मिलते है[6]

बाजार— अधीतकाल मे यद्यपि गुलामो का व्यापार बढा था, तथापि उनके बाजार के विषय में कोई प्रसंग नही है। **लेखपद्धति**[7] के एक दस्तावेज मे एक स्थान पर एक गुलाम लडकी के चतुष्पथ (चार सडको के योग का स्थान) पर बेचने के लिए लाने की परम्परा थी। लल्लन जी गोपाल[8] द्वारा यह विचार प्रस्तुत किया गया है कि चतुष्पथ एक नियमित बाजार गुलामो की बिक्री के लिए था। यह कहा जा सकता है कि कुछ पूर्वकाल में अब तक चतुष्पथ गुलामो के क्रय-विक्रय का एक नियमित स्थान रहा होगा।[9]

इस काल मे दास प्रथा के विस्तार के अनेक कारण थे। सामतो की लूट और मुसलमानो के आक्रमणों के कारण देश की आर्थिक दशा खराब हो गयी थी। जब दुर्भिक्ष पडते थे तब मनुष्यो को प्राय अपना निर्वाह करना कठिन हो जाता था और वे अपने को स्वय बेच देते थे। विलासिता एव सामन्तवादी प्रथा के कारण अधिक दास बनाए जाते थे।[10]

---

1 कथाकोश पृ० 157, समरिच्च पृ० 342.
2 कथास, टॉनी 3, 3-5
3 ले० प० पृ० 47.
4 राज. IV. 39
5 भास्कराचार्य, लीलावती पृ० 45.
6 जैन० एच० एल० आगज साहित्य में भारतीय समाज 161, 26
7 ले० प० पृ० 44.
8 गोपाल, ल० इ० ला० ना० इ० पृ० 74.
9 ले० प० पृ० 44
10 द्रष्टव्य, ओ-पी-श्रीवास्तव [illegible], प्रो० [illegible], जि० XXXIX, पृ० 124

तृतीय अध्याय

वेश-भूषा, सौंदर्य प्रसाधन एवं खानपान

वेश-भूषा, सौंदर्य-प्रसाधन एवं खानपान

जीवन की प्रमुख आवश्यकताओं में से वस्त्र एक है। व्यक्तित्व को प्रकट करने का वस्त्र ही एक प्रमुख प्रकार है।[1] वस्त्र तथा आभूषण व्यक्तित्व को सजाने के अतिरिक्त लोगों के सामाजिक तथा आर्थिक अवस्था को भी प्रकट करते हैं। वे सामाजिक जीवन को प्रस्तुत करते हैं।[2]

आलोच्यकाल में प्रचलित वस्त्र एवं वेशभूषा का ज्ञान साहित्यिक एवं पुरातात्विक साक्ष्यों से उपलब्ध होता है। भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न प्रकार के वस्त्र एवं वेश-भूषाओं का प्रचलन है। हेमचन्द्र ने वस्त्र के 12 नाम बताएं हैं।[3] अंशुकं, वस्त्रं, अम्बरं सिचय, वसनं, चीरं, आच्छादः, सिक्र, चेले वासः पटः,।

प्रबन्धचिन्तामणि तथा अन्य प्रबन्ध ग्रन्थों और समकालीन साहित्य में विभिन्न प्रकार के वस्त्रों का उल्लेख आता है जिनमें दुकूल, चणनक, पटका का उल्लेख **प्रबन्धचिन्तामणि** में हुआ है। इनके अतिरिक्त अन्य वस्त्रों का यथा अंशुक, क्षौम, दुकूल, धोती, कूर्पासक इत्यादि का प्रयोग अन्य समकालीन ग्रन्थों में भी हुआ है।

दसवीं शताब्दी तक भारत पर मुस्लिम तथा तुर्की आक्रमण प्रारंभ हो गए थे जिससे भारत की वेश-भूषा पर भी उनका अत्यधिक प्रभाव पड़ा। भारत की वेशभूषा पर मुस्लिमों के प्रभाव के सम्बन्ध में मोतीचन्द्र का कहना है कि इब्न हौंकल (968-976 A.D.) के वक्तव्य को यदि स्वीकार करें तो मुसलमानों के प्रभाव के कारण कैम्बे की खाड़ी तथा मालाबार के लोग छोटे पैजामें तथा जैकेट पहनते थे।[4] लेकिन भारतीयों ने मुसलमानों से यह वेश-भूषा ग्रहण की, उचित नहीं प्रतीत होता। इस प्रकार के वस्त्र का प्रचलन चन्द्रगुप्त के काल से मिलता है। चन्द्रगुप्त प्रथम के एक सिक्के में[5] उसे कसा कोट तथा छोटा पैजामा पहने दिखाया है।

अधीतकाल में प्रमुख रूप से ऊपरी वस्त्र के रूप में उत्तरीय तथा अधोवस्त्र के रूप में 'धोती' का प्रयोग होता था। ये अमीर तथा गरीब दोनों के द्वारा धारण किये जाते थे। आलोच्य युग में विभिन्न प्रकार के वस्त्रों यथा कार्पसिक (सूती), और्ण (ऊनी), कीटज (सिल्क), रेशम, मखमल तथा चर्म (चमड़े) के वस्त्र, वल्कल (वृक्षों के छाल), पत्र, (वृक्षों के पत्ते) तथा धातु निर्मित वस्त्रों के प्रचलन का ज्ञान उपलब्ध होता है। इन वस्त्रों का

---

1 सहाय, सच्चिदानन्द, इंडियन कास्ट्यूम, क्वायफर एण्ड आर्नामेंट इंट्रोडक्शन पृ० 1
2 वही, पृ०
3 अभिधान, पृ० 164 हलायुधकोश पृ० 62, 548.
4 एलन, कैटलॉग ऑफ गुप्त कॉइन्स, 43
5 मोतीचन्द्र : जैन मिनियेचर पेंटिंग फ्राम वेस्टर्नइंडिया, 120

प्रयोग मौसम के अनुसार किया जाता था।[1]

प्रबन्धचिन्तामणि से ज्ञात होता है कि कवि माघ के राजा भोज ने सर्दी के मौसम मे ऊनी (कम्बल) ओढने को दिया तथा राजा भोज जब उनके यहाँ मिलने को गया तो माघ कवि ने पारदर्शी वस्त्र (सभवत मलमल) गर्मी के मौसम के अनुसार पहनने को भेट किया। कल्हण[2] के अनुसार भी जाडे मे लोग ऊनी वस्त्र पहनते थे। मौसम के परिवर्तन के साथ भारतीयो का वस्त्र धारण करने मे पहनने वाला अपने शरीर के रग के अनुसार वस्त्रो के रग का चयन करता था, जो कि उस पर फबता था।[3] वासती मौसम मे सूती या सिल्क निर्मित हल्के वस्त्र पहने जाते थे। गर्मी के मौसम मे सफेद वस्त्र पहनना उचित समझा जाता था क्योकि यह शरीर को ठडा रखता था। वर्षा के मौसम मे लाल, गुलाबी तथा गहरे रग के वस्त्र और शरतकालीन ऋतु मे कुसुम्भ (Saffllowen) रग के वस्त्र अधिक समीचीन लगते थे। जाडे के मौसम मे विभिन्न प्रकार के ऊनी वस्त्र पहने जाते थे।[4]

उपरोक्त सूती, रेशमी तथा सिल्क एव ऊनी वस्त्रो का प्रयोग का उल्लेख **प्रबन्धचिन्तामणि** के अतिरिक्त अन्य समकालीन ग्रन्थो मे भी उपलब्ध होता है। ग्यारहवी सदी के राजशेखर द्वारा विरचित **प्रबन्धकोश**[5] में दिव्य-वस्त्र, पट्टकूल, क्षौम, दुकूल, कम्बल, कौशेय वस्त्रों के उल्लेख प्राप्त होते हैं। तत्कालीन एक अन्य ग्रन्थ **पुरातनप्रबन्ध संग्रह**[6] मे भी दुकूल, कम्बल इत्यादि वस्त्रो का उल्लेख आया है। **सुंकृतकीर्तिकल्लोलिनी**[7] में दुकूल, वल्क, अशुक, कौशेय का प्रयोग प्रसगित है। हेमचन्द्र द्वारा रचित **त्रिषष्ठिशला का पुरुष चरित**[8] में भी उत्तरीय, दुकूल, कौशेय, **कौशेय**, क्षौम का प्रयोग देखने को मिलता है। ग्यारहवीं शताब्दी के एक अन्य कवि धनपाल की कृति **तिलकमंजरीसार**[9] मे क्षौम, अधोवस्त्र, उत्तरीय, वल्कल, चीनाशुक, दिव्याशुक, दुकूल इत्यादि वस्त्रों का यथास्थान उल्लेख आया है। हेमचन्द्र ने अपने ग्रन्थ **अभिधानचिन्तामणि** में विभिन्न प्रकार के वस्त्रों के लिए अलग-अलग नाम बताए हैं। रेशमी वस्त्र के लिए दो नाम हैं—पत्रोर्ण, धौतकौशेयम्[10]इसी शब्दकोश में चार प्रकार

---

1 प्रबन्धचि०, मेरू, पृ० 34, टॉनी पृ० 48 (शीतरक्षि कामुपनीय)
2 राजतरगिणी v, 196
3 शर्मा, बी० एन, सोशल लाईफ इन नार्दर्न इंडिया, पृ० 270
4 मानसोल्लास, पृ० 90, 1034-39.
5 प्रबन्धकोश पृ० 6, 109, 113, 114, 119
6 पु० प्र० सं०, पृ० 8, 45, 61, 89
7 सुकृत पृ० 7, 27, 31
8 त्रि० श० पु० च०, 160
9 तिलक०, पृ० 2, 3, 40, 59, 62, 79
10 अभिधानचि० III, 331 पृ० 165

के वस्त्रो का उल्लेख भी हुआ है—तीसी आदि की डण्ठल के छिलके से बनने वाले वस्त्र के नाम क्षौमम्, दुकूल, दुगूलम् है। दूसरे प्रकार के वस्त्र कपास (रूई) आदि के फल से बनने वाले कपडे थे जिनके दो नाम कार्पासम् तथा बादरम् बताए है तीसरे प्रकार के वस्त्र रङ्कु नामक मृग के रोए से बनने वाले वस्त्र थे जिन्हे राङ्कवम् कहा जाता था ऊनी वस्त्र कम्बल के पाच नाम-कम्बल, ऊर्णायु, आविक, औरभ्र, रल्लक बताए है, जिन्हे चौथे प्रकार के वस्त्र क्रम मे रखा है।[1]

पहने जाने वाले वस्त्रो को भी विभिन्न नामो मे अभिहित किया है। यद्यपि **प्रबन्धचिन्तामणि** में सिरोवस्त्र के रूप मे किसी वेशभूषा का उल्लेख नही प्राप्त होता है, परन्तु अधीतकाल मे ही सिरोवेष्ठन के लिए हेमचन्द्र के ग्रन्थो मे दो नाम उष्णीश पगडी तथा मूर्धवेष्ठन (मुरैठा) का उल्लेख है। देशीनाममाला[2] मे 'अणराहो' शिरसि चित्र पट्टिकावाची है। यह उष्णीश रगीन वस्त्र था।[3] सिर के वस्त्र के लिए उष्णीश शब्द का प्रयोग पगडी या साफा के अर्थ मे अति प्राचीन काल से प्रयुक्त होता रहा है। जी० एस० घुर्ये[4] का कथन है कि अधीतकाल मे सिर पर वस्त्र रखना प्रचलन मे नही था, यह यदा-कदा ही देखने को मिलती थी। स्त्रियो का सिर ढकना एक विशेष भावना का द्योतक था। चित्रो या मूर्तियो मे भी कभी-कभी स्त्रियो को सिर ढके हुए दिखाया गया है। साहित्य मे केवल रानियो को ही विशेष सिर-बन्ध (Head-band) के साथ प्रस्तुत किया है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि ग्यारहवी-बारहवीं शताब्दी मे गुजरात क्षेत्र मे सिर पर वस्त्र धारण करने की कोई प्रचलित परम्परा नही थी। प्रबन्धकोश मे यह उल्लेख किया है कि कुमारपाल के शासन काल में सिर पर कोई वस्त्र नहीं धारण करते थे।[5]

प्रबन्धचिन्तामणि मे मेरूतुङ्गाचार्य ने एक स्थान पर यह उल्लेख किया है कि एक अवसर पर राजा परमार्दिन ने जगददेव को एक असाधारण 'पटका' उपहार मे दिया, जिसकी कीमत लक्ष मुद्रा बताई (लक्ष्यमूल्यातुल्य ओढतपटयुग) गयी है।[6] इसके अतिरिक्त गुजरात से प्राप्त सचित्र साक्ष्यो मे भारतीयों को पैजामे के साथ पटका धारण करने का चित्रण हुआ है। पटका का तात्पर्य उत्तरीय से है। उत्तरीय का प्रयोग महिलाओं एवं पुरुषों द्वारा समान रूप से किया जाता था। कभी-कभी उत्तम मे सुन्दर उत्तरीय या दुपट्टा का प्रयोग भी सुन्दरता बढाने के

1 हलायुधकोश, पृ० 62, अभिधानचि० पृ० 165, 334
2 देशीनाम, 1, 24
3 अभिधानचि० III, 331 श्लोक पृ० 164 शब्दानुशासन 6.2.39
4 जी० एस० धुर्ये, इडियन कास्ट्यूम पृ० 116
5 प्रबन्धकोश—15
6 प्रबन्धचिन्तामणि, मेरू, 114; टॉनी 186

लिए किया जाता था। समरइच्चकहा[1] (6ठी शता०) मे भी उत्तरीय को एक वस्त्र का टुकडा बताया गया है, जिसे कमर से ऊपर शरीर ढकने के लिये प्रयोग किया जाता था। **अमरकोश**[2] के अनुसार उत्तरीय ओढने का वस्त्र था। **अभिधनचिन्तामणि** [3] मे 'दुपट्टा, या 'चादर' के लिए प्रच्छादनम्, प्रावरणाम, सव्यानम्, उत्तरीयकम् शब्दो के उल्लिखित किया है। ये ओढने वाले वस्त्र सूती तथा रेशमी भी होते थे। इनके ऊपर कसीदाकारी इत्यादि भी देखने को मिलती थी। हेमचन्द्र के **देशीनाममाला** मे उत्तरीय के लिए उइतण, अहोरणम् तथा ओड्डुण शब्द प्राप्त होते है। [4] अधोवस्त्र के रूप मे धोती, पैजामा, घाघरा, चलणक इत्यादि का प्रयोग गुजरात क्षेत्र में देखने को मिलता है। **प्रबन्धचिन्तामणि** [5] मे एक उल्लेख प्राप्त होता है जिसमे राजा परमार्दिन के दरबार में एक वटवनिता द्वारा चलनक (चण्डातक) धारण करके नृत्य प्रस्तुत करना प्रसगित है। इसके समकालीन अन्य ग्रन्थो में यह विवरण प्राप्त होते है कि अमीर स्त्रिया साडी पहनती थीं तथा उसके साथ आधी आस्तीन की कचुकी तथा रंगीन पेटीकोट धारण करती थी। अधीतकाल मे नृत्य करने वाली स्त्रिया चण्डातक पहनती थी। **अमरकोश**[6] के अनुसार यह एक अधोवस्त्र होता था जो घुटने तक होता था। **नैषधचरित**[7] के अनुसार यह नर्त्तकियो के द्वारा पहना जाता था। यह चण्डातक प्रबन्धचिन्तामणि मे उदृधृत चलनक के समान वस्त्र था। जो नाचने वाली स्त्रिया धारण करती थी। हेमचन्द्र ने शिंफल्लणी शब्द का प्रयोग 'स्त्रीणाम अधोरूकवस्त्र के रूप मे किया है जो चलनक के समान ही था।[8] **हलायुधकोश**[9] में भी इनका उल्लेख मिलता है।

स्त्रियो के द्वारा आतरिक वस्त्रो का प्रयोग किया जाता था। आतरिक वस्त्र के रूप मे घग्घर (घाघरा' का प्रयोग होता था। **देशीनाममाला**[10] मे हेमचन्द्र ने जघनवस्त्रभेद' का उल्लेख किया है। चिफुल्लणी शब्द का प्रयोग एक छोटे पेटीकोट के रूप मे किया गया है। इसके अतिरिक्त अधोवस्त्र के लिए कुछ अन्य शब्द भी प्राप्त होते है।

अधोवस्त्र के रूप मे 'धोती' का प्रयोग पुरुषो व स्त्रियो द्वारा किया जाता था। जैन भिक्षु लोग सफेद

---

1 समरा, 4, पृ० 254, 269
2 अमर, 2/6/1/8 "सग्ण्यानुमुत्तरीयं च
3 अभिधानचि० III, 335 पृ० 166; हलायुध पृ० 62 (546)
4 देशीनाम, 1, 103, 1.25, 1.155)
5 प्रबन्धचि० मेरू पृ० 114; टॉनी 186 (पुष्पचलनका)
6 अमर, II, 119
7 नैषध.XVI, 8 (नारायणीय टीका)
8 देशीनाम III, 13
9 हलायुध— अधोरूकं वरस्त्रीका वासश्चण्डातक स्मृतम-।पृ० 62,
10 देशीनाम II, 107; III 13; उच्चोलों 1,131; अवअच्छ 1.26 ऋऊलं II 38; कूवलं II, 43 कडिलं II 52; आहट्टो 1.166

धोती तथा उत्तरीय धारण करते थे। हेमचन्द्र को एक चित्र मे इसी प्रकार के वस्त्र धारण किए हुए दिखाया गया है।[1] धनी स्त्रिया साडी पहनती थी जिसके साथ आधी आस्तीन की कचुकी तथा पेटीकोट भी धारण करती थी। साडी के साथ वे पटका का भी प्रयोग करती थी, जिसका रग साडी से मिलता हुआ होता था। ये सभी वस्त्र बहुत सजीले होते थे।[2] पाण्डुलिपियो से विदित होता है कि जैन भिक्षुणियॉं भी साडी तथा ढीला छोटा कुर्ता तथा उत्तरीय पहनती थी।[3] जी० एस० घुर्ये[4] कहते है कि पुरूष लोग 'काच' तरीके की धोती पहनते थे जो एक तरह का पैजामा होता था। यह कमर के चारो ओर एक (बेल्ट) कटीबध के द्वारा बाधी जाती थी तथा बीच मे (प्लीट) चुन्नट के गुच्छे के ऊपर लाकर इसे सामने बाधा जाता था। इस (बेल्ट) कटीबध की सजावट कसीदाकारी से की जाती थी। अभिधानचिन्तामणि तथा अमरकोश[5] मे पायजामे के लिए आप्रपदीन शब्द प्रयुक्त हुआ है।

अधीतकाल मे गुजरात क्षेत्र मे अधोवस्त्र के रूप मे पुरुषो के लिए पैजामे का प्रयोग भी होता था। गुजरात की पाण्डुलिपियो मे हमे भारतीय छोटे, पैजामे का उल्लेख मिलता है, जो सजीली कटिबध (बेल्ट) से बँधे होते थे और पटका के साथ जुडे होते थे। ग्यारहवी सदी के अलबरूनी ने जिस पायजामे का उल्लेख किया है उसे प्राय कश्मीर जैसे उत्तर पश्चिम के ठडे प्रदेशो के लोग पहनते रहे होगे। अरबी लेखक इब्न हॉकल (977 ई०) कहता है कि हिन्दुओं और मुसलमानो का पहनावा एक सा था। वह यह सूचना देता है कि उन लोगो मे प्राय कुर्ते ही पहने जाते है लेकिन व्यापारी लोग कमीज और चादर का व्यवहार करते है।[6]

स्त्रियो के एक अन्य वस्त्र के विषय मे मानसोल्लास[7] मे उल्लेख मिलता है कि गुजराती स्त्रियाँ सदैव अपने स्तनो को ढँके रहती थी। देशीनाममाला[8] मे इसके लिए हेमचन्द्र के स्तनयोरुपरि वस्त्र ग्रन्थि के रूप में गेन्थुअ (Genthuam) तथा गेण्डं (Gendam) शब्द का प्रयोग किया है। एक दूसरे प्रकार के वस्त्र को उन्होने कञ्चुक कहा है। जी० एस० घुर्ये ने समकालीन साहित्य के आधार पर इस वस्त्र के दो प्रकार बताए हैं—

प्रथम वस्त्र जो पीछे की ओर बाधा जाता था जिसका प्रचलन उत्तर भारत मे था तथा दूसरे वह वस्त्र

---

1 ए० के० मजूमदार, चॉलुक्य ऑफ गुजरात, पृ० 356
2 वही,
3 वही, पृ० 357
4 घुर्ये, इडियन कास्ट्यूम पृ० 111
5 अमर, ११९
6 ग्यारहवीं सदी का भारत, पृ० 242, AI, I.P. 180
7 मानसो- II, 101
8 देशीनाम् 11.93 11.94. 11.18

जो सामने की ओर स्तन के कुछ नीचे गाठ द्वारा बाधा जाता था इसका प्रयोग दक्षिण भारत मे होता था।[1] कश्मीर के राजा हर्ष ने दक्षिण वाली पोशाक को कश्मीर मे भी प्रचलित करवाया था। इस वस्त्र को कञ्चुलिका या कूर्पासक भी कहते थे। बाद मे इसके कुछ अन्य प्रकार प्रचलित हुए जिन्हे कुर्ता कहा गया जो कधे से पहने जाते थे इनके बाहे भी होती थी।[2] स्त्रियो के पहनावे पर अलबरूनी का कथन है कि 'कुर्त्तको' की काट दाएँ और बाएँ दोनो ओर होती थी।[3] सोमदेव ने 'कञ्चुक' को चोली के अर्थ मे प्रयुक्त किया है उसने लिखा है कि कृषक वधुए कचुक पहने थी, जो उनके घट स्तनो के कारण फटे जा रहे थे।[4] कञ्चुक को 'वारबाण' भी कहा जाता था।[5] 'चोलक' सभी वस्त्रों के ऊपर कोट के रूप मे (ब्लाऊज) पहना जाता था।[6] **अभिधानचिन्तामणि** में इसके पाँच नाम चोलक, कञ्चुलिका, कूर्पासक, अङ्गिका, कञ्चुक बताए है।[7] **प्रबन्धचिन्तामणि**[8] में एक स्थान पर यह उल्लेख मिलता है कि मालवा के परमार राजा मुञ्ज ने चौलुक्य राजा भीम से कहा कि तीर्थयात्रा पर तीर्थयात्री की पोशाक पहन कर जाए। परन्तु यह तीर्थयात्री की पोशाक कैसी होती थी इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है। समकालीन अन्य ग्रन्थो एव मूर्तियो से यह अनुमान लगाया गया कि मन्दिर जाने के समय लोग छोटी 'धोती' जो कि घुटने तक पहुँचती थी, तथा 'उत्तरीय' धारण करते थे। माथे पर कुकुम लगाते थे। जब वे घोड़े या हाथी पर बैठकर जाते थे तो मुकुट पहनते थे, जो सिर के वस्त्र की भाँति होता था, एक लम्बा कसा कोट पहनते थे तथा नुकीले स्लीपर पहनते थे। इसके साथ ही वे भुजबन्ध, कगन, कान के रिंग तथा हार पहनते थे।

स्त्रिया भी दो वस्त्र पहनती थीं। वे एक ऊपरी वस्त्र पहनती थी तथा 'ओढनी' ओढती थीं। अधोवस्त्र के रूप मे 'साडी' का प्रयोग करती थीं। पुरूषों की भाँति यह भी आभूषण पहनती थीं। इस प्रकार पुरुष तथा स्त्री दोनो ही तीर्थयात्रा पर तीर्थयात्रियों की वेषभूषा धारण करते थे।

प्रबन्धचिन्तामणि मे उपानह धारण करने का कोई प्रमाण नही मिलता है, परन्तु तत्कालीन अन्य साक्ष्यों से यह विदित होता है कि पाव में उपानह पहनने की परम्परा भी थी। अल्बेरुनी लिखता है कि "वे जूतों को जब

---

1 जी० एस० घुर्ये, वही पृ० 117, 118
2 वही.
3 ग्यारहवीं सदी का भारत, पृ० 242 AI, I. P. 180-1
4 यशस्तिलक पृ० 16.
5 वही. पृ० 51; अमरकोश 2.8 64.
6 यशस्तिलक पृ० 466
7 अभिधानचि०, III, 338 श्लोक पृ०, 166
8 प्रबन्धचि०, टॉनी पृ० 30

तब पहनते रहते है चलने से पहले पिण्डली के नीचे की ओर उलटा दिए जाते है।"[1] देशीनाममाला से विदित होता है कि पैर मे जूता पहना जाता था।[2] प्राचीनकाल से जूते प्राय एक, दो या तीन तलो के होते थे। चमडा पीला, लाल मजीठी काला या अन्य विविध रगो से रगा रहता था। भिक्षु प्राय एक ही तल का जूता पहनते थे।[3]

अशुक—विभिन्न वेश-भूषाओं मे अशुक भी एक था। निशीथचूर्णि मे उल्लिखित है कि अशुक मे जरी का काम होता था। अलकारो मे जरदोजी का काम एव उनमे स्वर्ण के तार से चित्र-विचित्र नक्काशियाँ की जाती थी।[4] **वृहत्कल्पसूत्रभाष्य**[5] की टीका मे इसे कोमल एव चमकीला रेशमी वस्त्र वर्णित किया गया है। **समरइच्चकहा**[6] एव **आचारांग**[7] मे अशुक का उल्लेख प्राप्त है। मोतीचन्द्र के कथनानुसार यह चन्द्रकिरण एव श्वेत कमल के सदृश होता था।[8] बाण ने अशुक को अत्यन्त स्वच्छ एव झीना वस्त्र बताया है।[9] वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार यह उत्तरीय वस्त्र था जिसके ऊपर कसीदाकारी द्वारा अनेक भाँति के फूल निर्मित किए जाते थे।[10] अशुक कई प्रकार के होते थे। इसी प्रकार बुनावट के आधार पर इसके भेद—एकाशुक, अध्याशुक, द्वयाशुक तथा त्रयाशुक आदि है।[11] चीनाशुक—चीन निर्मित सिल्क का वस्त्र होता था।

क्षौम—यह अत्यन्त महीन एव सुदर वस्त्र था। यह अलसी के छाल-तन्तु से निर्मित होता था। वासुदेवशरण अग्रवाल के विचारानुसार यह असम एव बगाल मे उत्पन्न होने वाली एक प्रकार की घारा से निर्मित किया जाता था।[12] काशी और पुण्ड्रदेश का क्षौम प्रसिद्ध था।[13]

दुकूल—निशीथचूर्णि मे वर्णित है कि दुकूल का निर्माण दुकूल नामक वृक्ष की छाल को कूटकर उसके

---

1 अल्बेरुनीज इंडिया I, पृ० 181
2 देशीनाम, 676
3 मोतीचन्द्र, भारतीय वेशभूषा, पृ० 355
4 निशीथ० 4 पृ० 467
5 वृहत्कल्प० 4/36-61
6 समराइच्च० 1, पृ० 74
7 आचारांगसूत्र 2, 5, 1, 3
8 मोतीचन्द्र, वही पृ० 55
9 वासुदेव, हर्षच० एक सास्कृतिक अध्ययन पृ० 78
10 पद्म पु० 3/198
11 मोतीचन्द्र, वही पृ० 55
12 वासुदेव, हर्षच पृ० 76
13 मोतीचन्द्र वही, पृ० 9.

रेशे से करते थे।[1] यह श्वेत रग का सुदर व बहुमूल्य वस्त्र होता था। गौड देश मे उत्पादित एक विशेष प्रकार के कपास से निर्मित दुकूल वस्त्र का वर्णन आचाराग सूत्र मे उपलब्ध है।[2]वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार सम्भवत कूल का तात्पर्य देशज या आदि भाषा मे कपडे से था, जिससे कोलिक शब्द बना है। दोहरी चादर या थान के रूप मे विक्रयार्थ आने के कारण से दुकूल नाम से सम्बोधित किया जाने लगा। [3] इसका प्रयोग उत्तरीय बनाने मे होता था। दुकूल को क्षौम का पर्याय सस्कृत शब्दकोशो मे बताया गया है।[4]

कौशेय—अमरकोश के टीकाकार क्षीरस्वामी ने यह उल्लेख किया है कि लालतन्तुज एक प्रकार का सिल्क होता था, जिससे पत्रोर्ण तथा कौशेय बनते थे।[5] युवान-च्वाग के अनुसार कौशेय वह वस्त्र है जो जगली रेशम के कीडो से बनाया जाता था।[6] कौशेय का उल्लेख **प्रबन्धकोश, तिलकमंजरी, पुरातनप्रबन्धसंग्रह** इत्यादि ग्रन्थों मे भी हुआ है।

कम्बल—कबल का उल्लेख **प्रबन्ध चिन्तामणि**[7] में आया है। इसके अतिरिक्त **प्रबन्धकोश** एव **पुरातन प्रबन्ध संग्रह** मे भी कम्बल शब्द उल्लिखित है। कम्बल का प्राचीनतम उल्लेख **अथर्ववेद** मे उपलब्ध है।[8] इसका प्रयोग सभी लोग करते थे। इसका प्रयोग रथ के पर्दे के निर्माण मे भी होता था।[9] ह्वेनसाग के अनुसार यह भेड-बकरी के ऊन से निर्मित और मुलायम एव सुन्दर होता था।[10] **अमरकोश** मे कम्बल को रल्लक भी कहा है।[11] हेमचन्द्र ने **अभिधानचिन्तामणि** मे राङ्कवम् कहा है।[12]क्षीरस्वामी के अनुसार रङ्गा नामक हिरन के रोएँ से बनने के कारण इसे रङ्कु कहा गया है।[13] हेमचन्द्र ने कम्बल के पाँच नाम बताए है—कम्बल, ऊर्णायु:, आविक:, औरभ्र:, रल्लक ।[14]

---

1 निशीथचूर्णी 7, पृ० 10-12
2 आचारांग सूत्र 2/5/13
3 वासुदेव वही, पृ० 76
4 शर्मा बी० एन०/पृ० 242
5 क्षीरस्वामी पृ० 151
6 वाटर्स, भाग I पृ० 148
7 प्रबन्धचि० मेरू 34; टॉनी 48
8 अथर्ववेद 14/2/66-67
9 हेमचन्द्र का व्याकरण 6/2/132
10 वाटर्स आन ह्वेनसांग 1, पृ० 148
11 अमर, II, 116
12 अभिधानचि० 334 श्लोक पृ० 165,
13 अमरकोश III
14 अभिधानचि० 334 श्लोक पृ० 165,

आभूषण—

ऐतिहासिक साक्ष्यो से यह सुविदित है कि प्राचीन काल से लेकर आजतक आभूषण पहनने की परम्परा अक्षुण्ण है।[1] यह आभूषण विभिन्न धातुओं तथा कीमती पत्थरो और रत्नो से बने होते थे। प्रारम्भ से ही पुरूषो तथा स्त्रियो को आभूषण पहनने मे रूचि थी और वे अपने शरीर को विभिन्न प्रकार के आभूषणो से सजाते थे। **महापुराण** मे उल्लिखित है कि अग्नि मे स्वर्ण को तपाकर शुद्ध करने के उपरान्त आभूषण निर्मित होते थे।[2]

प्रबन्धचिन्तामणि[3] मे भी हमे विभिन्न अगो के लिए आभूषणो के अलग-अलग नाम प्राप्त होते है। ये आभूषण पुरूषो तथा स्त्रियो के द्वारा समान रूप से धारण किये जाते थे। ये प्राय सोने और चॉदी के बने होते थे। इन आभूषणो मे कङ्कण, (कगन), ताडङ्कम, (कुण्डल) ग्रैवेयक (हार), सुवर्ण—श्रृखलम् (सोने की जजीर) इत्यादि का उल्लेख प्राप्त होता है। प्रबन्ध ग्रथो एव इतर समसामयिक ग्रन्थो मे भी इन आभूषणो के उल्लेख—प्राप्त होते हैं। बारहवी शताब्दी के लेखक हेमचन्द्र ने अपनी पुस्तक **त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित** मे चौदह प्रकार के आभूषणो की सूची प्रस्तुत की है—1 हार 2 छोटा हार 3. कान के कुण्डल 4. स्वर्ण बाजूबंद[4] 5.रत्नजटित हार या बाजूबद 6 रत्नो की लडियॉ 7. भुजबध 8. नूपुर 9. एक अन्य प्रकार का बाजुबंद 10. अगूठी 11. कर्ण-कुण्डल 12. रत्नो के हार 13. (Crest Jewel) किरीट या सिरस्राण 14. टीका।[5] इनके अतिरिक्त स्त्रिया कमर मे करघनी (मेखला) धारण करती थी।

प्रबन्धचिन्तामणि मे कान, गले तथा हाथ के आभूषणो का वर्णन अनेक स्थानों पर प्राप्त होता है। इस ग्रन्थ मे कान के आभूषण के लिए 'ताडङ्कम' शब्द का प्रयोग हुआ है।[6]

पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह[7] में भी कान के आभूषण के रूप मे ताडङ्क का प्रयोग किया गया है। धनपाल कृत **तिलकमजरीसार**[8] मे कानो मे कुण्डल पहनने के उल्लेख मिलते हैं। कानों में आभूषण धारण करने का प्रचलन प्राचीनकाल से चला आ रहा है। स्त्री-पुरुष दोनो के ही कर्णपालियो मे छिद्र कराते थे और दोनों ही इसे धारण करते थे। कुण्डल, अवतस, तलपत्रिका, बालियॉ आदि कर्णाभूषण मे परिगणित होते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ

1 भूषण जे० वी०,इंडियन ज्वेलरी आर्नामेंट्स एण्ड डेकोरेटिव डिजाइन,पृ० 47
2 महापुराण 61/124
3 प्रबन्धचिन्तामणि,50, 62, 89, 98, टॉनी970, 73, 139, 156
4 त्रि० श० पु० च० 1, 229
5 प्रबन्धचि० मेरू 62; टॉनी 90
6 पु० प्र० सं० पृ० 46
7 त्रिष० श० पु० च०,पृ० 58-59
8 तिलकमंजरी 1, 91. पृ० 7

पहले के ग्रन्थो मे कर्णफूल, कर्णकुण्डल, कर्णभूषण, कर्णतपल, कर्णपत्र, दन्तपत्र, कनकपत्र, तालपत्र इत्यादि।[1] अरब-यात्री अबू जैद (दसवीश) कहता है कि भारत के शासक सोने मे जडे हुए कीमती पत्थरो के आभूषण पहनते थे।[2] दसवी शताब्दी के राजशेखर ने यह बताया है कि कन्नौज की स्त्रियॉं कर्ण-फूल पहनने मे रुचि रखती थी।[3] उत्तर भारत की स्त्रियॉं प्राय कनकपत्र या सोने की पत्ती पहनना पसद करती थी। यह कनकपाद नाम से जाना जाता था।[4] यह तालपत्र का ही दूसरा रूप होता था। तत्कालीन शब्दकोशो मे कर्णाभरण के लिए विभिन्न नाम प्राप्त होते है। **देशीनाममाला**[5] मे तोपट्टो, तलक्तो, चकल, सखली, वक्कडबध, बीलओ, कण्णबाल, कण्णाआस, कण्णोल्ली इत्यादि शब्द प्राप्त होते है। **अभिधानचिन्तामणि** मे कुण्डल के चार नाम बताए हैं—ताटङ्क, ताडपत्रम्, कुण्डलम, कर्णवेष्टक। कान की सिकडी (सोने की जजीर) के नाम उत्क्षिप्तिका तथा कर्णान्दु है। एक अन्य गोलाकार आभूषण बाली भी है।[6] **हलायुधकोश**[7] मे कर्णिके शब्द प्राप्त होता है। कल्हण ने कुण्डल पहने हुए सैनिको का भी उल्लेख किया है।[8] कुण्डल का उल्लेख **समरइच्चकहा**,[9] **यशस्तिलक**[10] अजन्ता की चित्र-कला[11] तथा **हम्मीर महाकाव्य**[12] मे भी उपलब्ध है।

कान के अतिरिक्त गले मे पहनने वाले आभूषणो की चर्चा **प्रबन्धचिन्तामणि** में हुई है। हार, ग्रैवेयक, स्वर्णश्रृखला, मुक्ताफल, एकावली शब्दो का प्रयोग कण्ठाभरण के रूप मे इस ग्रन्थ मे प्राप्त होता है।[13] स्त्री तथा पुरुष दोनो ही कण्ठाभरण का प्रयोग करते थे। इसके निर्माण मे मुक्ता और स्वर्ण का प्रयोग होता था यह भारतीय स्वर्णकारो की शिल्प कुशलता का भी परिचायक था। दसवी शताब्दी के **महापुराण** मे सोने, रत्न, तथा कीमती पत्थरो के बने कण्ठ आभूषणो के विभिन्न नामो का उल्लेख प्राप्त होता है। ये हार यष्टि, एकावली, रत्नावली, अपर्तिका, सिर्षक उपशीर्षकयष्टि, प्रकण्डक, अवघटक, तरल-प्रतिबन्ध, पहलकहार, सोपान, मणि सोपान इत्यादि।[14] इन

1 विक्रमांकदेवचरित 1 103.
2 इलिटय एण्ड डाउसन 1. पृ० 11
3 काव्यमीमासा 111, पृ० 18
4 कुट्टनीमतम् 358
5 देशीनाम V. 23 V. 21, III 20, VIII, 7 VII 51, II. 23, II.57
6 अभिधानचि० पृ० 162
7 हलायुध० पृ० 63
8 राजतरगिणी VIII 2835
9 समराइच्च- 2 पृ० 100
10 यशस्ति०, पृ० 367
11 वासुदेवशरण अग्रवाल—वही० फलक 20 चित्र 78
12 दशरथशर्मा, अर्ली चौहान डाइनेस्टीज पृ० 263
13 प्रबन्धचि० मेरु पृ० 50, 89, 98, टॉनी 73, 139, 156
14 महापुराण 1, XVI, 470-55, 65

आकी लडियो के आधार पर विभिन्न नाम थे। शासक एव सम्राज्ञिया बहुत सी लडियो के हार पहनते थे। **प्रवन्धकोश**[1] मे हार का उल्लेख आया है। **पुरातन-प्रबन्ध संग्रह** मे भी स्वर्ण के बने, मणिक्य युक्त कण्ठाभरण तथा हार का उल्लेख प्राप्त होता है।[2] गले मे पहने जाने वाले आभूषणो मे हार का व्यापक प्रचलन था। हार का उल्लेख समकालीन अन्य ग्रन्थो मे भी प्राप्त होता है।[3] हेमचन्द्र ने **अभिधानचिन्तामणि** मे विभिन्न प्रकार के कण्ठाभूषणो के अलग-अलग नाम बताए हैं—हार, मुक्ता, प्रालम्ब , मुक्तास्रक, मुक्ताकलाप , मुक्तावली, मुक्तालता। सौ लडी वाली मोती की माला का एक नाम है—देवच्छन्द , एक हजार आठ लडी वाली मोती की माला का नामइन्द्रच्छन्द था उसकी आधी (554) लडी वाली मोती की माला का नाम विजयछन्द था। इनके अतिरिक्त एक सौ आठ लडी वाली मोती की माला का नाम हार था और उसकी आधी लडी वाली मोती की माला का नाम रश्मिकलाप था। बारह लडी की मोती की माला को अर्धमाणव तथा चौबीस लडी वाली मोती की माला को अर्धगुच्छ कहा जाता था। पाच लडी को हारफलम् चौंसठ लडी के हार को अर्धहार , बत्तीस, सोलह, आठ, चार और दो लडी की मोती की माला का नाम क्रमश गुच्छ , माणव , मन्दर , गोस्तन·, गोपुच्छ था। इस प्रकार लडियो के सख्या के आधार पर चौदह प्रकार के हार (मोतियो की मालाएँ) होते थे। एक लडी वाली मोती की माला के तीन पर्याय मिलते है—एकावली, एकयष्टिका तथा कण्ठिका प्राप्त होते है।[4] एकावली हार का उल्लेख **प्रबन्धचिन्तामणि**[5] तथा **पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह**[6] मे भी प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य कण्ठाभूषणो के नाम **अभिधानचिन्तामणि**[7] मे प्राप्त होते हैं वे है—ग्रैवेयक, कण्ठाभूषण।ये आभूषण गले मे चिपके हुए होते थे। ग्रैवेयक का उल्लेख शोध आधार ग्रन्थ में भी प्राप्त होता है।[8] गर्दन से नीचे लटकने वाले आभूषण (हलका, चन्द्रहार आदि का नाम ललन्तिका है। स्वर्ण कण्ठाभूषण का नाम प्रालम्बिका मोती के बने आभूषण का नाम उर· सूत्रिका बताया गया है।[9] हेमचन्द्र की ही एक अन्य कृति देशीनाममाला[10] मे गले मे पहने जाने वाले आभूषणो के विभिन्न प्रकारो का उल्लेख मिलता है। इनके नाम हिंडोलण (रत्नावली) मक्कडबन्धं, गञ्जल (ग्रैवेयक) गण्हिअ (उर सूत्रम्) है।

---

1 प्रबन्धकोश पृ० 113
2 पु० प्र० सं० पृ० 43, 114
3 सुकृत० पृ० 31, त्रि० श० पु० च० पृ० 58-59 तिलकमंजरी पृ० 5, 40
4 अभिधान० III, 335 श्लोक पृ० 163
5 प्रबन्ध मेरू० पृ० 98, टॉनी 156
6 पु० प्र० सं० पृ० 64
7 अभिधानचि०, पृ० 162
8 प्रबन्धचि० मेरु पृ० 50; टॉनी 73
9 अभिधानचि० , 321 पृ० 162
10 देशीनाम, VIII 76; VI, 127, 11, 94, 11.94

यद्यपि प्रबन्धचिन्तामणि मे कतिपय आभूषणो का उल्लेख आया है। लेकिन तत्कालीन उस क्षेत्र को ही अन्य ग्रन्थो मे विभिन्न कण्ठ आभूषणो के उल्लेख से प्रतीत होता है कि गुजरात काठियावाड क्षेत्र के समाज मे आभूषणो का प्रचलन लोकप्रिय था। सभवत विभिन्न प्रकार के हार, विभिन्न वर्गो (राजा अमीर-गरीब इत्यादि) व्यक्तियो द्वारा पहने जाते थे।

कर्ण तथा कण्ठ की भाति हस्ताभूषण भी प्रचलन मे थे। हाथ के आभूषणो मे 'कङ्कण विशेष रूप से पहनते थे। प्रबन्धचिन्तामणि[1] मे विभिन्न स्थलो पर इसका उल्लेख हुआ है। कङ्कण अनेक प्रकार के धातु बहुमूल्य पत्थरो, रत्नो इत्यादि के बने होते थे। इनकी बनावट चूहे के दॉतो की भाति होती थी। मूर्तियो को देखकर प्रतीत होता है कि पुरुष प्राय एक या दो चूडिया पहनते थे, जबकि औरते दो या उससे अधिक पहनती थी।[2] तद्युगीन अन्य साहित्य मे कङ्कण के अतिरिक्त केयूर, वलय, मुद्रिका इत्यादि आभूषणो का भी उल्लेख प्राप्त होता है। 'वलय आधुनिक चूडी या कगन की भाति होता था तथा 'केयूर' बाजूबन्द की तरह होता था। **कुवलयमाला कहा**[3] में 'वलय' को सोने का कडा जो रत्नजटित था कलाई मे पहनने का वर्णन किया है। पुरातन-प्रबन्ध सग्रह में विभिन्न स्थानों पर कङ्कण का वर्णन प्राप्त होता है।[4] **सुकृतकीर्तिकल्लोलिनी** मे कङ्कण और कटक, केयूर का उल्लेख[5] आया है।

इन आभूषणो का प्रचलन बहुत प्राचीन है। इनमे स्वर्ण, रजत, हाथीदॉत एवं शंख निर्मित कटक प्रमुख थे। स्त्री-पुरुष दोनो ही इसका प्रयोग करते थे। धनपाल की तिलक-मञ्जरीसार मे भी कङ्कण का उल्लेख आया है।[6] **त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित** मे भी हस्ताभूषण के लिए भुजबन्ध तथा कङ्कण मणिबन्ध का प्रयोग हुआ है।[7] हेमचन्द्र ने अपने शब्दकोश **अभिधानचिन्तामणि**[8] मे बाजूबन्द के तीन शब्द केयूरम्, अङ्गदम्, तथा बाहुभूषा और कङ्कण के लिए आठ पर्याय करभूषणम्, कटक वलयम्, पारिहाय, आवापः, कङ्कण, हस्तसूत्र, तथा प्रतिसर· बताए है।

---

1 प्रबन्धचि०, मेरु० पृ० 25, 50, 117; टॉनी 37, 73, 190, 137
2 लखनऊ म्यूजियम H. 124 0, 225 कर्पूरमञ्जरी पृ० 250
3 कुवलय०, पृ० 171. 14
4 पु० प्र० सं०, पृ० 63, 85
5 सुकृत; पृ० ६ऋ ३१
6 तिलक० पृ० 7
7 त्रि० श० पु० च०, पृ० 58, 59, 168
8 अभिधानचि०, पृ० 164, 326

इसी शब्दकोश मे अगूठी के लिए ऊर्मिका, अङ्गुलीयकम् नाम मिलते है। 'नाम खुदी हुई अगूठी' को अङ्गुलिमुद्रा कहते है।[1] **देशीनाममाला** मे हाथ के आभूषणो के लिए विभिन्न शब्द हत्थोडी, तग्ग, अल्लथ, चूडो प्राप्त होते है।[2]

यद्यपि **प्रबन्धचिन्तामणि** मे अन्य किसी प्रकार के पैर आदि के आभूषण की जानकारी नही मिलती है, परन्तु तद्युगीन अन्य ग्रन्थो मे इनका उल्लेख प्राप्त होता है। **अभिधानचिन्तामणि** मे पैर के आभूषण के लिए नूपुर के सात नाम बताए हैं नूपुर, तुलाकोटि, पादकटकम्, पादाङ्गदम्, मञ्जीर, हसकम्, तथा शिञ्जिनी हैं।[3] इसी प्रकार स्त्रियो की करधनी के लिए भी कटिसूत्रम्, मेखला, कलाप', रसना, सारसन, काञ्ची, सप्तकी नाम हैं।[4] इन आभूषणो का उल्लेख अन्य साहित्यिक ग्रन्थो मे भी उपलब्ध है।[5]

सौदर्य-प्रसाधन

चिरकाल से शारीरिक सौन्दर्य एव स्वस्थ जीवन परम्परा हमारी सस्कृति मे चली आ रही है। शरीर को साफ रखने तथा सौदर्य अभिवृद्धि के लिए विभिन्न सामग्री प्रयोग मे लाई जाती थी। शरीर के विभिन्न अगो को सजाने हेतु अनेक सौदर्य प्रसाधन प्रयुक्त होते थे। **प्रबन्धचिन्तामणि**[6] मे श्रृगार के लिए प्रयोग की जाने वाली सामग्री मे चदन, केसर, कपूर, कस्तूरी, अगरु इत्यादि प्रमुख थे। इनका प्रयोग स्त्री व पुरुष दोनों ही करते थे।

प्रात काल उठकर लोग अपने दातों को साफ करते थे, जिसके लिए वे विभिन्न प्रकार के पेडों की दातून का प्रयोग करते थे। वराहमिहिर[7] एव चीनी यात्री ई-त्सिग[8] ने भी दातून से दाँतो के मञ्जन क्रिया का उल्लेख किया है।

शरीर के सफाई करने की चर्चा भी तत्कालीन साहित्य में बहुश उपलब्ध है। स्नान करने के लिए विभिन्न सामग्रियो का प्रयोग किया जाता था। प्राय लोग अपने शरीर पर तैल की मालिश करते थे। उसके बाद स्नान करते थे।[9] स्नान के लिए विशिष्ट स्थल होता था।

---

1 वही०, हलायुध० पृ० 63
2 देशीनाम० पृ० VIII. 73, VI, 1.54, III. 18
3 अभिधानचि०, पृ० 164, 329
4 वही०, पृ० 164
5 त्रि० ष० पु० च०, पृ० 58-58; पु० प्र० सं० पृ० 114 तिलक पृ० 6
6 प्रबन्धचि०, मेरु० पृ० 18, 44, 98
7 बृहत्संहिता, 85.1
8 तकाकुसु, पृ० 34-35
9 बी० एन० शर्मा, सोशल लाईफ इन नार्दर्न इडिया, पृ० 226

महाकवि बाण ने भी स्नान सम्बन्धी उल्लेख दिए है, जिसमे सातवी शताब्दी मे भी इस प्रकार का स्नान विधान होने का ज्ञान होता है। शासक एव अमीर वर्ग के लोगो के लिए स्नान का स्थान एक श्वेत वितान से ढका होता था। भाट लोग इसके बाहर समूहो मे बैठते थे। मध्य मे सुगन्धित जल भरकर टब रखा होता था। स्नान के लिए आसन तथा सुगन्धित जलो से भरे घडे भी पास रखे होते थे। दासियां राजा के सिर पर आवला का चूर्ण मलती, फिर उस पर चादी के कलश तथा पत्तो से जल डालकर स्नान कराती और भाट लोग गीत गाते थे।[1]

मानसोल्लास मे भी स्नान के इसी प्रकार के उल्लेख प्राप्त होते है। प्राचीनकाल से स्नान के महत्व पर अधिक बल दिया गया है। स्नान विशेषत दो प्रकार का होता है प्रथम मुख्य स्नान द्वितीय गौण स्नान। मुख्य स्नान जल द्वारा सम्पादित होता है किन्तु गौण स्नान बिना जल द्वारा किया जाता है। इन दोनो स्नानों के अनेक भेद है। मुख्य स्नान छ प्रकार का होता है—(1) नित्य (2) नैमित्तिक (3) काम्य (4) क्रियाग (5) मलकर्षण (6) क्रिया स्नान।[2] अग्निपुराण मे भी इसी प्रकार का वर्णन प्राप्त होता है।[3]

नित्य स्नान शीतल जल द्वारा किया जाता है। साधारणत इसमे उष्ण जल का प्रयोग नही होता है। जो स्नान किसी विशेष अवसर पर अथवा किसी कारणवश किया जाय[4] यथा पुत्र जन्म के अवसर पर, यज्ञ के अन्त मे तथा ग्रहण आदि के अवसर पर, ऐसे स्नान को नैमित्तिक-स्नान कहते है। जो स्नान किसी इच्छित पदार्थ की प्राप्ति के लिए किया जाता है। वह काम्य स्नान है, जैसे तीर्थ को जाते समय अथवा-चन्द्रमा के पुष्य नक्षत्र में होने पर अथवा सुख की प्राप्ति के लिए माघ तथा फाल्गुन मास मे प्रात काल स्नान किया जाता है।[5] जब कोई व्यक्ति धार्मिक कृत्य के अवसर पर स्नान करता है उसे क्रियाग स्नान कहते है। उदाहरणार्थ कूप, मदिर आदि बनवाने के अवसर पर।[6] शरीर मे तैलादि लगाकर केवल शरीर की शुद्धि के लिए स्नान किया जाता है उसे मलापकर्षक या अभ्यग स्नान कहते है।[7] तीर्थों मे स्नान कर लेने मात्र को ही जो अपने पुण्य का अंतिम कारण मानता है वह क्रिया-स्नान कहलाता है।[8] स्नान के समय साबुन की भाँति एक श्वेत पदार्थ उपभोग में लाया जाता था जिसे फेनक कहते थे।[9]

---

1 वही०, 267
2 शंख कोटेड बाई अपरार्क—पृ० 127
3 अग्निपुराण 155/3.4
4 पाराशर 12/26
5 शंख स्मृति 8/4
6 स्मृत्यर्थसार, पृ० 27
7 शंख, 8/6
8 स्मृत्यर्थसार पृ० 27
9 कामसूत्र सू० 17

स्त्रियॉ विभिन्न प्रकार के सौदर्य प्रसाधन यथा केसर, चन्दन, कस्तूरी, कर्पूर, कुङ्कुम, अगरु, आलक्तक इत्यादि का प्रयोग करती थी। विवेच्यकालीन ग्रन्थो मे इनका विस्तृत विवेचन भी प्राप्त होता है।[1] शरीर को सुगन्धित एव सौदर्य के अभिवृद्धि हेतु कपूर का उपयोग विविध विधि से किया जाता था। समाज मे चन्दन का प्रयोग विविध भॉति से होता था। स्त्री-पुरुष दोनो ही चन्दन का उपयोग करते थे। चन्दन मे कस्तूरी, प्रियङ्गु, कुङ्कुम, एव हल्दी का मिश्रित लेप लगाया जाता था। इसके प्रयोग से शारीरिक सौन्दर्य एव कान्ति द्विगुणित हो जाती थी। स्त्रियॉं अपने पैरो को रगने के लिए आलक्तक का प्रयोग करती थी। इसके अतिरिक्त सौन्दर्य वृद्धि हेतु केशविन्यास की भी विभिन्न विधियो का प्रयोग किया जाता था। जैन पुराणो एव ग्रन्थो मे भी केशो के कई प्रकार से प्रसाधन किया जाना प्रसगित है। केशो के लिए जैन पुराणो मे कुन्तल, केश, अलक, कबरी आदि शब्दों का प्रयोग उपलब्ध है। सुगन्धित जल से स्नानोपरात केश को धूप से सुगन्धित धुए मे सुखाया जाता था। तदुपरान्त तेल आदि द्वारा केशो को सवार कर बाधा जाता था। केश-प्रसाधन मे पुष्प-माला, विभिन्न प्रकार के पुष्प, पुष्प पराग, पल्लव, मजरी एव सिन्दूर आदि का प्रयोग किया जाता था।[2]

खान-पान

अधीतकाल मे गुजरात क्षेत्र मे खाद्य तथा पेय सामग्रियो के सम्बन्ध में साहित्य तथा विदेशी विवरणों से प्रभूत जानकारी प्राप्त होती है। हेमचन्द्र के **देशीनाममाला, अभिधानचिन्तामणि** इत्यादि ग्रन्थो से इस प्रसग मे विशेष ज्ञान प्राप्त होता है। **प्रबन्धचिन्तामणि** मे भोजन के रूप मे प्रयोग की जाने वाली सामग्री यथा-चावल, गेहूँ, दालें, घी, दूध, दही मिठाई, तथा इनसे बनने वाले पकवानो का उल्लेख प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त कुछ पेय पदार्थों तथा मास इत्यादि का भी उल्लेख मिलता है। कुमारपाल के शासनकाल मे यद्यपि मास भक्षण पर रोक लगा दी गयी थी, तथापि इसका स्थायी रूप से पालन हुआ अथवा नही ऐसा निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।[3]

महावंश पुराण एवं हरिवंश पुराण मे (i) अशन (भात, दाल रोटी, आदि) (ii) पान (दूध, तथा जल आदि पेय पदार्थ), (iii) खाद्य (खाने योग्य पदार्थ लड्डू आदि) एव (iv) स्वाद्य (पान-सुपारी आदि स्वाद वाले पदार्थ आदि चार प्रकार के आहार वर्णित हैं।

---

1 पु० प्र० सं०, पृ० 17, 61, 89, सुकृत० पृ० 48, त्रि० श० पु० च०, पृ० 76, प्रबन्धकोश पृ० 72, 76, 75, 114, 117, 119, समरांङ्गणसूत्र० पृ० 28-29

2 महापुराण 12/53, 15/90

3 ए० के० मजूमदार, चौलुक्य ऑफ गुजरात, पृ० 354

जैन सूत्रो मे चार प्रकार के आहार वर्णित है—अशन, पान, खाद्य, तथा स्वाद्य।[1] **पद्म पुराण** (7वी-10वीं शताब्दी) के अनुसार भोज्य पदार्थों के पाच प्रकार-भक्ष्य, भोज्य पेय, लेह्य तथा चूष्य हैं। [2] जिन पदार्थों को स्वादार्थ खाया जाता है उन्हे भक्ष्य कहते है। इनके कृत्रिम एव अकृत्रिम दो उपभेद है। भोज्य उन पदार्थों को कहते है, जिनका प्रयोग क्षुधा निवारणार्थ होता है।

इसके मुख्य (रोटी आदि) एव साधक (शाक-दाल आदि) दो उपभेद है। पेय पदार्थों का प्रयोग भी क्षुधा निवारणार्थ होता था। शीतयोग (शर्बत इत्यादि) जल तथा मद्य के भेदानुसार पेय तीन प्रकार के होते हैं। लेह्य के अंतर्गत वे पदार्थ आते है जिन्हे चाट कर स्वाद का आनन्द लिया जाता है, जैसे चटनी आदि। चूष्य प्रकार के अन्तर्गत उन पदार्थों की गणना की जाती है जिनका रसास्वादन चूस कर करते हैं, जैसे ईख आदि। [3]

प्रबन्धचिन्तामणि मे भोजन एव पेय पदार्थों के अतिरिक्त मास तथा मदिरा का भी वर्णन मिलता है। शोध आधार ग्रन्थ **प्रबन्धचिन्तामणि**[4] मे शालि, षष्ठी या साठी धान का उल्लेख आया है। (जो साठ दिन में पककर तैयार होता है)। राजशेखर के **प्रबन्धकोश**[5] मे भी विभिन्न प्रकार के अन्नो का वर्णन है। **देशीनाममाला में हेमचन्द्र** ने चावल के लिए कुछ देशी शब्दो (अ) अणुओं (ब) जोण्णालिआ किविड तथा चाउला इत्यादि शब्दो का प्रयोग किया है।[6] हेमचन्द्र के अनुसार इनका अर्थ ज्वारी या धान्य था। इसके अतिरिक्त द्वयाश्रयकाव्य[7] (ग्यारहवीं श०) तथा मानसोल्लास[8] मे भी धान के विभिन्न नाम मिलते है। अरब यात्री सुलेमान (851 ईस्वी) ने तत्कालीन भारत के अनाजो चावल तथा गेहूँ अन्न की चर्चा की है।[9] चौलुक्यो के एक अभिलेख मे गेहूँ, चावल, कोद्रव, तिल, मूंग उत्पन्न होना प्रसगित है।[10] **त्रिषष्ठिशलाका पुरुषचरित**[11] मे भी श्यामक (सावा-चावल), नीवार (तिन्नी धान्य) वालुक (एक तरह की लकडी कुवलय (केले या बेर), शालि, गेहूँ, चने और मूग आदि अनाज का उल्लेख है।

---

1 जगदीशचन्द्र जैन, जैन आगम साहित्य मे भारतीय समाज, पृ० 193-194,
2 पद्म, 24/53-55 अशनं पानकं खाद्यं स्वाद्यम् चान्नं चतुर्विधम्। मद्य० 9/46; हरिवंश 7/85
3 जैन पुराणों का सास्कृतिक अध्ययन—पृ० 140
4 प्रबन्धचि०,मेरू पृ० 77; टॉनी 117
5 प्रबन्धकोश,गुलसिउं चावइं तिलतोदली वेडिअं वजावइं वांसली। पहिरणि ओढणि हुई काबली इणपरि ग्वालइ पूजई रुली। वही० षष्टिकतन्दुलोदकेन पृ० 85 पृ० 16,
6 देशीनाम० 11, 60; 111, 8.
7 द्वयाश्रय 111. 4
8 मानसो० 111, 1346-48, 1358
9 इलि एण्ड डा 1, पृ० 15, 16, 124
10 एपि इंडि०, 33, 1959-60 पृ० 192-198
11 त्रि० श० पु० च०, पृ० 33, 200

अरब यात्री सुलेमान ने लिखा है कि भारतीयो मे चावल खाने का अधिक प्रचलन था। गेहूँ का उपयोग नही के बराबर था।[1] डा० घोषाल[2] ने **वैजयन्तीकोश को** उद्धृत करते हुए यह कहा है कि म्लेच्छो के लिए गेहूँ भोजन के रूप मे उपयुक्त था। इस सन्दर्भ मे यह ध्यातव्य है कि **'वैजयन्ती'** के रचायिता यादव प्रकाश दक्षिण भारत के काचीपुरम् मे उत्पन्न हुआ था वहॉ के निवासी इस समय तक गेहूँ का उपयोग करने से अनभिज्ञ थे।[3] जहॉ तक उत्तर भारत का सम्बन्ध है लक्ष्मीधर के कृतियो से प्रमाणित होता है कि त्यौहारो मे 'गोधूम' (गेहूँ) के उपयोग का प्रचलन था। लक्ष्मीधर[4] और चण्डेश्वर[5] ने जन्माष्टमी के अवसर पर गेहू के बने पदार्थों के उपयोग की व्यवस्था की है। राजस्थान की जैन मूर्तियो को गेहूँ समर्पित किया जाता था।[6]
मिष्ठान्न मे गेहूँ के आटे के उपयोग की बात हेमचन्द्र ने भी कही है।[7]

प्रवन्धचिन्तामणि मे चावल तथा गेहूँ के अतिरिक्त या चणक (चना) का उल्लेख भी हुआ है।[8] अभिधानचिन्तामणि मे इसको चणक, तथा हरिमन्थक, कहा है।[9] इसके अतिरिक्त कुछ दाले जैसे मुदग (मूग) तथा माष (उडद) शब्दो का उल्लेख **प्रबन्धचिन्तामणि** मे हुआ है।[10] माष के लिए धान्य के समान शब्द उडिदो का उल्लेख हेमचन्द्र के **देशीनाममाला** मे मिलता है।[11] अभिधानचिनतामणि मे उडद के माष मदन, नन्दी, वृष्य, बीजवर और बली पर्याय मिलते है। इससे प्रतीत होता है कि उडद कई प्रकार का होता था। जैसे खिल उडद, हरा उडद बडी प्रकार इत्यादि। हरे रग की मूग के विभिन्न नाम-मुद्ग प्रथन, लोभ्य, बलाट·, हरित, हरि· बताए गए हैं।[12]

अधीतकाल मे अन्न, दूध, दही फल, सब्जी इत्यादि विभिन्न प्रकार के व्यजन तैयार किये जाते थे तथा **प्रबन्धचिन्तामणि** मे कुछ पकवानों का उल्लेख हुआ है। कुमारपाल के शासक बनने के पूर्व वह जब तीन दिन से भूखा था, तो एक स्त्री ने उसे अपना भाई मानकर प्रेमपूर्वक चावल और दधि मिलाकर उसे कपूर से सुगधित

1 एश्येंट एकाउन्ट्स आफ इंडिया एण्ड चाइना, पृ० 34
2 द स्ट्रगल फार एम्पायर पृ० 235
3 ग्यारहवीं सदी का भारत पृ० 236
4 कृत्यकल्पतरू, नियत-काण्ड पृ० 395
5 गृहस्थरत्नाकर पृ० 257
6 एपि० इंडि, 9, 57
7 देशीनाम० 8.8; शब्दानुशासन 7.2-94
8 प्रबन्धचि० मेरु० पृ० टॉनी 32
9 अभिधानचि० III, 236 पृ० 284-85
10 प्रबन्धचि० मेरू० पृ० 37; टॉनी 54
11 देशीनाम, १ए९८
12 अभिधानचि० III, 238 पृ० 285

बनाकर खाने को दिया[1] एक अन्य व्यञ्जन का भी विवरण शोध-आधार ग्रन्थ मे मिलता है वह (Sweatmeat) जो आटा, दुग्ध, नारियल तथा घी के मिश्रण से बनाया जाता था।[2] प्रस्तुत शोध आधार ग्रन्थ मे एक अन्य स्थल पर रसवती बनाने का उल्लेख हुआ है, जो दधि मे चीनी तथा मसाले मिलाकर बनाया जाता था।[3] एक अन्य स्थान पर गेहूँ के आटे मे गुड और घी मिलाकर पकवान बनाने का उल्लेख है।[4] इस ग्रन्थ मे सक्तू का भी उल्लेख हुआ है।[5] यह जौ भूनकर उसे भुने चने मिलाकर चूर्ण बनाया जाता था। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य व्यञ्जन भी तत्कालीन समाज मे प्रचलन मे थे। जिनका उल्लेख **अभिधानचिन्तामणि, द्वयाश्रयकाव्य तथा देशीनाममाला** मे मिलता है। अनाज से अनेक प्रकार की खाद्य वस्तुए बनती थी। भक्त (भात), सूप (दाल), शष्कुली (पूडी), समिध (गेहूँ के आटे की लप्सी, यवागु, मोदक (लड्डू), पलान्न, खाडव, रसाल (शिखरणी), आमिक्षा, पक्वान्न, अवदश, उपदश (सब्जी), सर्पिषिस्नात (घी मे तले गए पदार्थ), अगारपाचित (अगारो पर पकाए गए पदार्थ), दध्नापरिप्लुत (दही मे डूबे हुए पदार्थ) पयसा विशष्क (सूखी सब्जी), पर्पट (पापड) आदि विभिन्न प्रकार के व्यञ्जन बनते थे।[6]

हेमचन्द्र ने अनेक प्रकार के व्यञ्जनो का उल्लेख किया है। उसके अनुसार जिन पदार्थों के मिलाने या एक साथ खाने से खाद्य पदार्थ मे रुचि अथवा स्वाद उत्पन्न होता था, वे दही, घी, शाक और दाल आदि पदार्थ व्यञ्जन कहलाते थे। दाल के मिलाने से भात में स्वाद आता था, दही मिलाने से ओदन स्वादिष्ट होता था, घी मिलाने से दाल रुचिकर होती थी तथा शाक को रुचिवर्धक बनाने के लिए उसमें तेल का छौंक देते थे।[7] अपूपिका[8] गेहू के आटे मे चीनी और पानी मिलाकर घी मे मन्द-मन्द आँच मे पके हुए पूए), औदश्वित्क[9] (मट्ठे मे बना हुआ पदार्थ), किलाट या कूचिका (खोया तथा मावा)[10] गुडधान[11] (गुड को भुने हुए जौ मे मिलाकर बना हुआ पदार्थ) मोदक[12] यवागु[13] शष्कुली[14] (पूडी) इत्यादि व्यञ्जनो का उल्लेख मिलता है।

1 प्रबन्धचि०, मेरू (कर्पूरपरिमलशालिशालिकरम्बेण, पृ० 77; टॉनी पृ० 117, 143
2 वही० पृ० 90; टॉनी पृ० 141-42
3 वही० पृ० 99; वही० पृ० 156; 196
4 वही० पृ० 107; वही० 172
5 वही पृ० 10
6 जयशंकर मिश्र, प्राचीन भारत का सामाजिक आर्थिक इतिहास, पृ० 435
7 शब्दानुशासन, 3.1, 132
8 द्वयाश्रयकाव्य, XVI.96
9 वही० XVI.5
10 वही, अभिधान III,69
11 वही XIX, 79
12 वही XVII. 40
13 वही XI.73
14 वही V.116

हेमचन्द्र के ही एक अन्य ग्रन्थ **देशीनाममाला** मे भी कुछ व्यञ्जनो के नाम मिलते हैं—तोतडी (करम्ब) इसमे आटा और दही मिलाया जाता था।[1] उरूपुल्लो-जिसे अपूप कहा जाता था।[2] उण्हिआ (कसरा) इसे तिल, चावल और दूध मिलाकर बनाया जाता था।[3] सपणा (गेहूँ का आटा) जिसका प्रयोग मिष्ठान्न बनाने मे किया जाता था।[4]। उबले हुए चावल मे दही और मसाले मिलाकर बनने वाले पकवान को कक्कसारो कहा जाता था।[5]

तत्कालीन अन्य प्रबन्ध-ग्रन्थो मे भी विभिन्न पकवानो का उल्लेख आया है। **प्रबन्धकोश**[6] मे क्षीर, धृतपूर्ण कच्चोलक, धृतगुडै, रसवती, सक्तून, मोदक, इत्यादि, अनेक शब्द आए है। **पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह**[7] मे भी धृत तथा तैल से निर्मित व्यञ्जनो एव पेय पदार्थों का उल्लेख मिलता है। मनसोल्लास में भी चावल, दालें तथा अन्य भोज्य पदार्थों को बनाने के कतिपय प्रसग प्राप्त होते हैं।[8]

दुग्ध का प्रयोग अधीतकाल मे प्रचुर मात्रा मे होने लगा था तथा इसका उपयोग विभिन्न प्रकार से किया जाता था। दुग्ध को दुग्ध के अतिरिक्त दधि, मट्ठा, मक्खन, घृत आदि के रूप में भी उपयोग किया जाता था। दुग्ध को कुछ मिष्ठान्नों के रूप में यथा क्षीर (खीर) क्षीखट, तथा क्षीरयष्टिका, के रूप मे भी खाया जाता था।[9] **प्रबन्धचिन्तामणि** मे दुग्ध तथा दुग्ध निर्मित पदार्थों का यत्र-तत्र उल्लेख हुआ है। एक स्थान पर यह उल्लेख मिलता है कि चरवाहे के पास पडित वररुचि को पिलाने के लिए पानी नहीं था अत उसने कहा कि वह दूध पी ले।[10] इसी प्रकार एक स्थल पर राजा मुञ्ज को भिक्षा मे तक्र (Buttermilk) मट्ठा प्राप्त हुआ।[11] इसी सम्बन्ध में एक अन्य प्रसग भी विवृत है। गोरस बेचने वाली के बर्तन के टूट जाने पर सारा दूध नदी के समान बहने का उल्लेख है।[12] इसके अतिरिक्त दधि का उल्लेख भी एक स्थान पर आया है।[13] **हेमचन्द्र कृत**

1 देशीनाम० पृ० V.4
2 वही०, पृ० 1.134
3 वही० पृ० 1.88
4 वही० पृ० VIII.8
5 वही० पृ० 11.14
6 प्रबन्धकोश पृ० 6, 14, 22, 10, 73, 11
7 पु० प्र० सं० पृ० 17, 21, 32, 75, 82, 89, 125, 126, 130-
8 मानसोल्लास—3.1345-1373
9 गुडौदनं पायसं च दृविष्य क्षीरयष्टिक. दध्योदनं हविः पूपान्मांसं चित्रान्नमेव च॥ अग्नि पुराण श्लोक 163-10
10 प्रबन्धचि० मेरू० पृ० 4
11 वही० पृ० 23
12 वही० पृ० 49; टॉनी पृ० 71
13 वही० पृ० 12

द्वयाश्रयकाव्य मे ऊँट का दुग्ध रैवतक पर्वत पर लेने तथा उसका दही बनाने का भी प्रसग उल्लिखित है।[1] दुग्ध निर्मित पदार्थों के अन्य उल्लेख भी मिलते है। दुग्ध तथा तक्र इस काल मे प्रमुख रूप मे प्रयुक्त होता था।[2] दुग्ध मे गुड मिलाकर[3] तथा दुग्ध मे घी मिलाकर[4] प्रयोग किया जाता था। मादा-हिरन के दुग्ध का भी उल्लेख मिलता है।[5] **प्रबन्धचिन्तामणि** के अतिरिक्त राजशेखर के प्रबन्धकोश[6] में भी 'क्षीरान्न' का उल्लेक मिलता है। इसके अतिरिक्त घृत तथा दधि के पदार्थों का उल्लेख भी अनेक स्थलो पर हुआ है। प्रबन्धग्रन्थो को श्रृखला मे रचित पुरातन प्रबन्ध-सग्रह में भी उक्त विश्लेषण से उपरोक्त भोज्य पदार्थों के व्यापक प्रचलन एव व्यवहरण का संकेत सूचित होता है। क्षीरतन्दुलमय भोज्य पदार्थ का उल्लेख हुआ है।[7] इसके अतिरिक्त घृत, तक्र, रसवती इत्यादि का उल्लेख भी अनेक स्थलो पर आया है।[8] उक्त विश्लेषण से उपरोक्त भोज्य पदार्थों के व्यापक प्रचलन का सकेत सूचित होता है। डॉ० गोकुल चन्द्र जैन[9] ने लिखा है कि दुग्ध साक्षात् जीवन ही है। जन्म के साथ ही दुग्धपान प्रारम्भ हो जाता है। गाय का धारोष्ण दुग्ध आयुष्य करने वाला होता है। दूध प्रात काल तथा सायं भोजन के बाद उपयुक्त मात्रा मे पीना चाहिए। उनका ही कहना है कि दधि स्थूलता करता है तथा वायु को दूर करता है। इसका सेवन वसन्त, शरद् तथा ग्रीष्म को छोडकर अन्य ऋतुओं मे घृत (सर्पिष), सिता (शक्कर), आँवला तथा मूंग के पानी के साथ करना चाहिए।[10] ओम प्रकाश यह उद्घृत करते हैं कि उन भैंसों के दूध का दही अधिक अच्छा माना जाता है जिनके बछडे बडे हो जाते हैं।[11] दही को मथकर उसमे शक्कर मिलाकर तथा कपूर से सुगंधित बनाकर खाया जाता था।[12]

घृत का वर्णन करते हुए सोमदेव सूरि ने लिखा है कि वेद तथा आगमों के जानकारो ने घृत को साक्षात् आयु कहा। वैद्य लोगों ने वृद्धत्व नाशक होने से रसायन के लिए इसका विधान किया है, सारस्वतकल्प से निर्मल

---

1 वही XV. 66
2 द्वयाश्रयकाव्य पृ० II. 48
3 वही० III 9
4 वही VII. 96
5 वही VI, 49
6 प्रबन्धकोश पृ० ६ए १४ए २२
7 पु० प्र० स० पृ० 17
8 वही० पृ० 21, 32, 65, 75, 82, 125, 126, 130
9 यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ९५ए
10 वही० पृ० 95.
11 द्वयद्विषद्वष्क्रयणीपय:सुतं सुधाह्दानपङ्कमिवोद्धृतं दधि। नैषध च XVI. 93
12 मानसोल्लास, III 1573

हुई बुद्धिवालो ने बुद्धि की सिद्धि (धिय सिद्धये) के लिए बताया गया है, ऐसे घृत द्रव स्वर्ण तथा केतकी के समान रस और छाया वाला उत्तम होता है। अर्थात् घृत आयुवर्धक, वृद्धतानिवारक तथा बुद्धि को निर्मल बनाता है।[1]

विभिन्न प्रकार के पकवानो के अतिरिक्त फलाहार के उल्लेख भी प्रबन्धचिन्तामणि मे प्राप्त होते हैं। प्रस्तुत ग्रन्थो मे आम्र, कदली, आमलक, नारियल, फलो का उल्लेख भी मिलता है।[2] तद्‌युगीन प्रयुक्त होने वाले फल सतरे, अगूर खजूर, नारियल, अनार, आम, केला तथा कपित्थ थे।[3] जैन लोग पाच प्रकार के फल उदम्बर (गूलर) अश्वत्थ (पीपल) वृक्ष तथा न्यग्रोध नहीं खाते थे।[4] एक स्थल पर विवृत्त है कि राजा भोज, कवि माघ के निवास स्थान पर गया। वहा भोज के द्वारा कवि के निवास स्थान पर मौसमी तथा गैर मौसमी देश विदेश से लाए गए विभिन्न फलो को देखकर कवि चकित हो गया।[5]

द्वयाश्रयकाव्य में भी आमलक, कण्ड, खर्जूर पीयुक्षा, कापिशामन, बदर, बिम्बि जम्बु इत्यादि फलों का उल्लेख मिलता है।[6] प्रबन्धचिन्तामणि में भोज्य-पदार्थों के अतिरिक्त हरिद्रा, सर्षप इत्यादि मसालों का भी उल्लेख आया है।[7] द्वितीय भीमदेव के आबू अभिलेख[8] में हींग, जायफल, जावित्री, मेथी, आवला, हरड, (हर्रे) खाण्ड, गुड, कालीमिर्च, बहेडा, महुआ और नारियल के प्रयोग का वर्णन मिलता है।

मांस—शाकाहारी भोजन के अतिरिक्त शोध-आधार ग्रन्थ मे कुछ स्थलों पर मास का उल्लेख हुआ है। प्रस्तुत ग्रन्थ **प्रबन्धचिन्तामणि** मे कुमारपाल द्वारा जैन धर्म स्वीकार करने के पश्चात् वध-निषेध तथा मदिरापान न करने का आदेश जारी किया गया।[9] इससे यह स्पष्ट होता है कि उस समय तक तथा उससे पहले भी मांस खाया जाता था। यह कहना भी संभव नहीं है कि इसके बाद पूर्ण रूप से मांस का प्रयोग बंद हो गया अथवा

---

1 यशस्तिलक श्लोक 360 तुलना आयुर्वेदतम पृ० 517,
2 प्रबन्धचि० मेरु० पृ० 3, 11; टॉनी पृ० 193
3 काव्यमीमांसा, XVIII, पृ० 254; कर्पूर-252-263; नैषध XVI, 95; भविष्यत 11.3; XII, 3; एपि० इंडि० XIII, पृ० 152
4 यशस्तिलक VII, 327, 330
5 प्रबन्धचि०, मेरु० पृ० 34; टॉनी पृ० 49
6 द्वयाश्रयकाव्य पृ० V.115; XV. 81; कुमारपाल च० 1.36 वही० पृ० IV.23; द्वयाश्रय IV.4, वही० XVII., वही० X1.5, वही० V.116, कु० च० II 13; वही, पृ० V.10 वही० 1.35. द्वया० XV81
7 प्रबन्धचि० पृ० 59
8 एच० आई० जी०, 2, सं० 170
9 प्रबन्धचि०, टॉनी पृ० 32-133

नही। **पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह** मे भी कुमारपाल की इस राजाज्ञा का उल्लेख हुआ है।[1] हेमचन्द्र के **देशीनाममाला** मे 'वउअलिआ, तथा 'सुसन्थिला' शब्दो का उल्लेख है जिसका तात्पर्य आधुनिक युग के सींक-कबाब से लिया जा सकता है।[2] मास के प्रयोग की पुष्टि अन्य समसामयिक साक्ष्यो से भी होती है। द्वयाश्रयकाव्य में भी मासाहारी व्यञ्जनो का उल्लेख मिलता है। मासाहार केवल शाही व्यक्तियो मे अधिक प्रचलित था।[3] मास को चावल के साथ पकाने पर उसे मासौदनिक कहते थे।[4] जगली जातियो द्वारा गाय के मास खाए जाने का भी उल्लेख है।[5] कुमारपाल द्वारा मासाहार पर लगाई गयी रोक का उल्लेख भी इस ग्रन्थ मे प्राप्त होता है।[6]

कुछ ब्राह्मण मासभक्षी भी होते थे।[7] पुराणो मे भी श्राद्ध के अवसर पर ब्राह्मणों को साफ जानवरों का मास खाने को कहा है।[8] क्षत्रिय लोग साफ की गयी मछली तथा भुना हुआ भेड का मास पसद करते थे।[9] लक्ष्मीधर[10] और चण्डेश्वर[11] ने ब्राह्मणो को मास खाने का निर्देश किया है। उनके अनुसार ब्राह्मण तथा अन्य वर्ग के लोग देवताओं को मास चढाने के बाद प्रसाद रूप मे ले सकते थे। साथ ही उन्होने अस्वस्थ व्यक्ति के लिए भी मास खाने का अनुमोदन किया है।

कल्हण के अनुसार मुर्गे, भेड, बकरे तथा पालतू सुअर का मांस लोग खाते थे।[12] **मानसोल्लास** से भी विदित होता है कि मध्य भारत में सुअर, मृग खरगोश भेड, बकरे, पक्षी, मछली, कछुए, केकडे आदि का मांस खाया जाता था।[13] सोमदेवसूरि के अनुसार पितरो को मात्स्य, हारिण औरभ, शाकुनि, छाग, पार्ष, एण, रोख, वराह, माहिष, शश, कूर्म गव्यण, पायस तथा वार्धीण, इत्यादि के मास से तर्पण करने पर क्रमश. एक दो, तीन, चार, पाच, छ सात, आठ, नौ, दस, ग्यारह, बारह वर्ष तक के लिए तृप्त हो जाते थे।[14] मास निषेधाज्ञा जारी

---

1 पु० प्र० सं०, पृ० 124
2 देशीनाम VII, 44; VIII, 39
3 द्वयाश्र पृ० VI, 98
4 वही० पृ० XVII, 41
5 वही० पृ० II. 86
6 वही० पृ० XX.12
7 एपि० इंडि० XI, 43-44
8 स्कन्द पुराण-कासी 4.14-20; अग्नि पुराण 1630-1-32, 168-20-21 पद्म पु० आदि पु० 56.40.4
9 ओम प्रकाश, फूड एण्ड ड्रिंक्स पृ० 210, उद्धृत समरइच्चकहा, पृ० 258, 262
10 नियत, काण्ड, पृ० 311-317
11 गृहस्थरत्नाकर, पृ० 380-84
12 राजतरंगिणी, निधनावधि दुर्बुद्धिर्बुभुजे ग्राम्यसूकरान् 5-119; 7.1149.
13 मानसोल्लास, 3-13; 1420-1547
14 यशस्तिलक, उत्तरार्द्ध-पृ० 127-128

करने से पूर्व चौलुक्य कुमारपाल को मास खाने का व्यसन था पर्यटनकाल मे वह प्राय मास पर ही निर्वाह करता था।[1] अरब लेखक अल-इदरीसी का कथन है कि नहरवण (अणहिलपाटन) के निवासी मछलिया खाते थे।[2] किन्तु ए० के० मजूमदार गुजराती साहित्य के आधार पर कहते हैं कि गुजरात मे मछली खाने का रिवाज नहीं था।[3] कुछ ऐसे भी पशु-पक्षी जिनका मास खाना निषिद्ध माना गया था। उनका उल्लेख अलबेरुनी ने किया है। उसके अनुसार गाय, घोडा, खच्चर, गधा, ऊँट, हाथी, पालतू, कुक्कट कौमा, तोता, बुलबुल, आदि का मास नही खाया जाता था।[4] ऐसे पशुओं का निषेध लक्ष्मीधर ने भी किया है।[5] अल्बेरुनी लिखता है कि भेडबकरी, खरगोश, गैडा, भैस, मछली, जल एव थल के पक्षी, गौरैया, कबूतर, मोर इत्यादि पशु तथा पक्षियों का वध आमिष भोज के लिए किया जाता था। घोडा, खच्चर गधा, ऊट, हाथी, पालतू कौआ, बुलबुल, मुर्गी, अण्डे आदि का निषेध किय है लेकिन शूद्र के लिए यह वर्जित नही था। मानसोल्लास मे भी मत्स्य के भक्षण का उल्लेख है । अतएव ए० के० मजूमदार क यह कहना कि मछली का प्रयोग गुजरात क्षेत्र मे नहीं होता था या निषिद्ध था यह उपरोक्त साक्ष्यों के आलोक में तर्कसगत नही है।

पेय-पदार्थ—अन्नाहार तथा फलाहार के अतिरिक्त कुछ पेय पदार्थ भी आहार के रूप में प्रयोग में आते थे। प्रबन्ध साहित्य तथा तत्कालीन अन्य ग्रन्थो में भी विभिन्न प्रकार के पेय पदार्थों का उल्लेख हुआ है। दुग्ध तथा दधि से निर्मित पेय पदार्थों के अतिरिक्त इक्षुरस भी पेय पदार्थ था। **प्रबन्धचिन्तामणि**[6] मे एक स्थल पर यह विवेचित है कि एक बार राजा भोज ने प्यास से आकुल होने पर पण्यस्त्री के इक्षुरस से अपनी प्यास बुझाई। देशीनाममाला[7] में भी इक्षुरस बनाने के यन्त्रों के पढि-णेद यह भेद तथा कुडे नाम मिलते हैं। **पद्मपुराण** में भी इक्षु को छ रसों से युक्त बताया गया है। कालान्तर मे इसे यन्त्र से पेरकर निकाले जाने लगा।[8]

मद्यपान—प्रबन्धचिन्तामणि[9] में कुमारपाल द्वारा जैन धर्म स्वीकार करने के पश्चात् मास-भक्षण के साथ-साथ मद्यपान निषेध का भी उल्लेख मिलता है। इससे स्पष्ट है कि समाज में मदिरा का सेवन भी किया जाता था।

1 मोहराजपराजय अंक 4 पृ० 47
2 ग्यारहवीं सदी का भारत पृ० 235 इलियट एण्ड डाउसन I, पृ० 87
3 चौलुक्य गुजरात पृ० 354
4 ग्यारहवीं सदी का भारत पृ० 236, अल्बेरूनीज इण्डिया II पृ० 151
5 नियत काण्ड, मृगपक्षिणी क्रव्यादाश्च वर्जयेत पृ० 304.8
6 प्रबन्धचि०, मेरू० पृ० 48; टॉनी पृ० 70
7 देशीनाम पढि', VI 51 णेदं, 45, कुंडे 33
8 पद्म पु०, 3/233-234
9 प्रबन्धचि०, टॉनी पृ० 132-133

पुरातन-प्रबन्ध सग्रह[1] मे भी मद्यपान निषेध का उल्लेख प्राप्त होता है। हेमचन्द्र के द्वयाश्रयकाव्य मे भी सुरापान का उल्लेख प्राप्त होता है। प्रस्तुत ग्रन्थ मे इसके अनेक नाम मधु [2], सुरा[3] मदिरा, [4] तथा हाला बताए है[5] हाला नामक सुरा शालि से बनाई जाती थी। [6] अगूर से बनी शराब द्राक्षारस कहा जाता था।[7] समाज मे अनेक प्रकार की मदिराएँ प्रचलित थी, जिनमे गौडी, माध्वी, मैरेय, आजव, मधु आदि अधिक प्रसिद्ध थी।[8] यद्यपि स्मृतिकारो ने ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीन उच्च वर्णों को सुरा-पान का विधान नहीं किया है। [9] तथापि अधीतकाल मे हमे इन वर्णों के सदस्यो द्वारा भी सुरा-पान किए जाने के बहुश प्रसग प्राप्त होते है।

कुछ ब्राह्मण युवको द्वारा मदिरापान किए हुए, स्त्रियों के साथ नृत्य करने का उल्लेख भी मिलता है।[10]एक अभिलेख[11] के अनुसार गुर्जर प्रतीहार शासक हरिश्चन्द्र की क्षत्रिय वशीय रानी की सतति मधुपायी (मद्यपान करने वाले क्षत्रिय कहलाए। लक्ष्मीधर के अनुसार ब्राह्मण के अतिरिक्त राजा और वैश्य मदिरा-पान कर सकते हैं।[12] मैथिल लेखक चण्डेश्वर का भी यही कथन है।[13] सोमदेवसूरि ने सुराविक्रयी के रूप में 'ध्वजिन' अथवा 'ध्वज' जाति का उल्लेख किया है। [14] स्मृतिकारो के अनुसार इसी जाति के लोग सुरा बेचा करते थे। [15] ग्याहरवीं सदी मे भारत आने वाले अरब यात्री अलबेरूनी का कथन है कि आसव-पान की अनुज्ञा केवल शूद्र को ही है। वह उसे पी सकता है।[16] कुछ महिलाओं के भी मदिरापान करने का उल्लेख प्राप्त होता है। [17] हेमचन्द्र के एक विवरण के अनुसार चापोत्कटवश के लोग कुमारपाल के शासनकाल के समय मे बहुत अधिक सुरापान करने के लिए बदनाम हो गए थे। यहा तक कि स्त्रिया भी सुरापान करती थीं। उनका कहना है कि सिद्धराज की

1 पु०प्र० सं० पृ० 100, 124
2 द्वयाश्रयकाव्य पृ० VII, 61-71
3 वही० XVI.46
4 वही० IV.49
5 वही XVII. 112, XVI. 46
6 वही० XVII. 119
7 कुमारपाल च०, IV. 10
8 देशीनाम, 3.41, 45, 804, 1.46, 2.2, 4.4, 5.2, 6.35, 41.50, 8.4; कृत्यकल्पतरू नियत० पृ० 393-95; गृहस्थ रत्नाकर 390-96
9 प्रायश्चित प्रकरण पृ० 40
10 कुट्टनी 414
11 जे० आर० ए० एस०, 1895, पृ० 516; एपि, इंडि० भाग XVIII, पृ० 95
12 कृत्यकल्पतरू, नियत० मद्यं ब्राह्मणेन न गोक्तव्यं। राजन्यो वैश्यो न दोषं किंचिदृच्छत; पृ० 331
13 गृहस्थरत्नाकर पृ० 394
14 यशस्तिलक, पृ० 430
15 मनु 4.85; याज्ञ० 1.141
16 ग्यारहवीं सदी का भारत पृ० 240 अल्बेरूनी II, पृ० 151
17 रविषेण जैन पद्म पु०, मदिरामत्तवनिता, अध्याय 2, 834 वि० सं० ।

माता मयणल्लदेवी का अपने पुत्र को जन्म देने के पूर्व गर्भावस्था मे मदिरा का त्याग करना पडा।[1] मेधातिथि का कथन है कि ब्राह्मण स्त्री को छोडकर क्षत्रिय तथा अन्य स्त्रिया त्यौहार तथा विवाह के अवसर पर बहुत अधिक मदिरापान करती थी।[2] साहित्यिक कृतियो मे ऐसे अनेक विवरण मिलते है जिनसे स्पष्ट होता है कि तत्कालीन युग की स्त्रियॉ भी सुरा-पान मे रूचि लेती थी।[3]

मदिरा का सेवन प्राय विवाह के अवसरो, त्यौहारो या खुशी के मौको पर किया जाता था। शुक्र ने मदिरा के गुणो को विवेचित करते हुए कहा है कि इसके पान से उत्साह, बुद्धि प्रखरता, शीतलता और मस्तिष्क की विचार शक्ति बढती है।[4] क्षीरस्वामी ने चार प्रकार से मदिरा बनाने का विवरण दिया है—चाशनी, अनाज, मधूक के फूल से तथा फलो से।[5] लेकिन जो जनसाधारण द्वारा प्रयुक्त मदिरा प्राय फल, अगूर, खजूर, मधू के फूल, गन्ना, शहद, नारियल, अनाज, सइरा, वारुक्णी, मैरेय, तथा अरिष्ट से बनती थी।[6] हेमचन्द्र ने भी सुरा बनाने की कई विधियो का उल्लेख किया है।[7] **देशीनाममाला** मे भी सुरा को मापने के विभिन्न बर्तनो के नाम मिलते है।[8]

ताम्बूल—प्राचीन काल से ही ताम्बूल का उपयोग मुख प्रसाधन के रूप मे होता था। **प्रबन्धचिन्तामणि**[9] मे अनेक स्थलो पर ताम्बूल का उल्लेख मिलता है। प्राय पान का उपयोग प्रसाधन, स्वागत-सत्कार तथा शानो शौकत के रूप मे होता था। ताम्बूल शब्द का प्रयोग सस्कृत साहित्य मे बहुत मिलता है। राजशेखर सूरि के **प्रबन्धकोश** मे दहेज दिए जाने वाले पदार्थों मे इसका उल्लेख है। वराह मिहिर ने **बृहत्संहिता** मे इस श्रृंगार का साधन बतलाया है। **दशकुमारचरित** में पान की पीक थूककर उसके द्वारा चक्रवाक के जोडे के चित्र बनने का उल्लेख है। **शुक्रनीतिसार** मे पान तैयार करने की विधि (ताम्बूलरक्षादिकृतिविज्ञानम्) को कला की कोटि मे गिना है। सोमेश्वर ने ताम्बूल के सेवन को भी उपभोग माना है और इस उपभोग को एक साधारण उपभोग नहीं वरन् उत्तम उपभोग माना है।[10] ताम्बूल के साथ प्रयुक्त सर्वप्रथम सुपाडी है। सुपाडी के लिए संस्कृत शब्द क्रमुक,

---

1 द्वयाश्रय, XI, 13, 14
2 मेधातिथि आन मनु पुत्रजन्मविवाहदय उत्सवा.। क्षत्रियादि स्त्रीणाम् पिबेद्या यद्या.। IX, 84,
3 सदुक्तिकर्णामृत, पृ० 118; सूक्ति मुक्तावली पृ० 266-67; शार्ङ्गधर पद्धति पृ० 36, 53
4 शुक्र० 1 116-171
5 अमरकोश पर टीका पृ० 43
6 पुलत्स्य ने मिताक्षरा मे
7 शब्दानुशासन 5.1 157, 2.310
8 देशीनाम, पारेक VI41 पारय VI38, टोक्कणं, IV, 4, खंडे 11, 78 उवएइआ 1, 118
9 प्रबन्ध चि० मेरू पृ० 2, 19, 106, 46
10 मानसो० 3/40/959

पूग तथा घोटा होते थे। सोमेश्वर देव ने **मानसोल्लास** मे क्रमुक शब्द का प्रयोग किया है। इन प्रसगों से विदित होता है कि चालुक्य नरेश महाराज सोमेश्वर (1129-1138 ई०) के समय मे उनके राज्य मे सुपाडी की खेती बहुतायत से होती थी। यह बात **मानसोल्लास** मे सुपाडी के विस्तृत वर्णन से पुष्ट हो जाती है।

सुपाडी के अतिरिक्त ताम्बूल के साथ अन्य सुगन्धित वस्तुए भी मिलाई जाती थी, जैसे मोती की सीपी का चूर्ण, ईशावास कपूर, कस्तूरी, का चिकनाचूर्ण, जावित्री, आदि।

अरब लेखक इद्रीसी [1] ने पान की बहुत अधिक प्रशसा की है। पान का विशद् वर्णन करते हुए अल-मसूदी लिखता है पान एक प्रकार का पत्ता होता है जो भारत में उत्पन्न होता है। जब इसको चूना और डली मिलाकर खाते है। अब अनार दानो की तरह दॉत लाल हो जाते हैं और मुँह सुगन्धित हो जाता है तथा मन भी बहुत प्रसन्न होता है। भारत के लोग सफेद दॉतों और पान न खाने वालो को पसन्द नहीं करते।[2]

---

1 चौलुक्य ऑफ गुजरात पृ० 358

2 मुरुजुज जहब, खण्ड, १२ पृ० 84, 67

चतुर्थ अध्याय

कृषि

कृषि

कृषि भारतवर्ष के निवासियो का वैदिक काल से प्रमुख व्यवसाय रहा है। व्यापार तथा पशुपालन के साथ कृषि भी आर्थिक व्यवस्था का एक प्रमुख आधार थी। भूमि, सिंचाई-व्यवस्था, फसले, उपकरण, कृषक, कर्षक इत्यादि कृषि के प्रमुख घटक है। **प्रबन्धचिन्तामणि**[1] तथा चौलुक्य नरेशो के अभिलेखो[2] से तत्कालीन कृषि-व्यवस्था पर प्रभूत प्रकाश पडता है। कृषि-व्यवस्था के अन्तर्गत जिन पक्षो का अध्ययन अभीप्सित है वे इस प्रकार हैं—भू स्वामित्व, भूमि-व्यवस्था एव भूधारण पद्धति एव अवधि, भूमि का वर्गीकरण, सिंचाई के साधन, फसले, खाद-व्यवस्था, कृषि श्रम, मौसम आदि की जानकारी।

प्रस्तुत ग्रन्थ के समकालीन अन्य ग्रन्थो मे भी कृषि सम्बन्धी विवरण प्राप्त होते है। राजशेखर कृत **प्रबन्धकोश**[3] मे भी सिंचाई, फसल, सम्बन्धी तथा अन्य विवरण प्राप्त होते है। **पुरातन प्रबन्ध संग्रह**[4] में भी इसी प्रकार के उल्लेख आए है। इन ग्रन्थो के अतिरिक्त हेमचन्द्र कृत **द्वयाश्रयकाव्य, देशीनाममाला, अभिधानचिन्तामणि** ग्रन्थों में **हलायुधकोश,** भोज द्वारा रचित **समरांगणसूत्रधार** धनपाल कृत **तिलकमंजरी, सुकृतकीर्तिकल्लोलिनी** इत्यादि ग्रन्थों मे भी इस सम्बन्ध मे अनेक विवरण प्राप्त होते है।

भूमि का वर्गीकरण

यद्यपि **प्रबन्धचिन्तामणि** मे भूमि का स्पष्ट वर्गीकरण नही प्राप्त होता है, तथापि कृषि का उल्लेख होने से विवेच्यकाल के लोगो को भूमि का ज्ञान होने का अनुमान लगाया जा सकता है। भूमि का वर्गीकरण उसकी जलवायु की अवस्था तथा उपजाऊ होने के आधार पर किया जाता था। भूमि का वर्गीकरण करके उनमें अलग-अलग फसल बोई जाती थी। भूमि के अनेक प्रकार जैसे उपजाऊ, ऊसर, (बंजर), परती इत्यादि प्राप्त होते हैं। नदी के समीप की भूमि अधिक उपजाऊ मानी जाती थी।। मेधातिथि[5] कहते हैं। कि ऊषर भूमि वह है जहां मिट्टी की

---

1 प्रबन्धचिन्तामणि, मेरू पृ० 3, 82, 1 21, पृ० 40; पृ० 24, पृ० 55, पृ० 99, 77, 56, 30, 37, 48

2 इंडि० एंटी० VI, पृ० 48-55, जे० ए० एस० बी० XXX पृ० 195; एपि, इंडि०-33 पृ०, 192; आर्के० सर्वे आफ इंडिया ए० रि० 1936-37, पृ० 120; ए० बी० ओ० आर० आई० IX पृ० 179; एपि० इंडि० XI, पृ० 47-48; आलइंडिया VII ओरिएंटल कांफ्रेन्स पृ० 643; वही 649; एपि० इंडि० I पृ० 293; एपि इंडि० पृ० 316; इंडि०, एंटी VIII पृ० 108; वही पृ० 110

3 प्रबन्धकोश पृ० 9, 16, 17, 35, 56, 85, 101, 114, 109, 130, 176

4 पु० प्र० स० 11, 12, 14, 16, 24, 30, 34, 46, 59, 62, 65, 68

5 मेधातिथि ऑन मनु० II पृ० 112 उपरो भूमिभाग उच्यते यस्मिन्नरिवलेऽपि मृत्तिकादोषाद्बीजं न प्ररोहति।

गडबडी के कारण बीज मे अकुर ही नही निकता था। हेमचन्द्र ने धान्य अथवा फसल उत्पन्न होने वाली भूमि को 'क्षेत्र' खेत कहा है।[1] हरी फसल बोई जाने वाली भूमि को 'केदार' (केदाराण्यश्च) कहा जाता था।[2] सूखी भूमि को 'ऊषर' क्षेत्र कहते थे।[3] कुछ ऐसी भूमि थी जिसे कृषि-योग्य बनाया जाता था। **अभिधानचिन्तामणि**[4] मे भी विभिन्न प्रकार की भूमि के लिए अलग-अलग शब्द प्राप्त होते है जैसे उपजाऊ भूमि के लिए 'ऊर्वरा', ऊसर भूमि के लिए इरिणम्, ऊसरम्, जो भूमि बिना लिपी पुती थी उसे स्थलम् स्थली कहते थे, मारवाड आदि की निर्जल भूमि को मरु धन्वा कहते थे। हल आदि से बिना जुती हुई या खोदे गये खेत आदि के नाम है—अप्रहतम्, खिलम्, इसके साथ ही मिट्टी के लिए भी मृत या मृत्तिका शब्द, खारी मिट्टी क्षारा, ऊष और अच्छी मिट्टी मृत्सा, मृत्सना कहलाती थी। **अभिधानरत्नमाला** मे भूमि का वर्गीकरण इस प्रकार किया गया है—ऊपजाऊ (उर्वरा), ऊसर (इरिण), परती (खिल), रेगिस्तान (मरु) और अत्युत्तम मृत्सा या मृत्स्ना। इसके अतिरिक्त घास के मैदान (शाद्वल) और सरकडे वाली (नडवल), काली मिट्टी, पीली मिट्टी और देवमातृका (वर्षा के पानी से सींची जाने वाली) और नदी मातृका (नदियो के पानी से सीची जाने वाली)[5]। इसी कोश मे उन खेतो का भी उल्लेख है जिनमे अलग-अलग अनाज उपजाए जाते थे जैसे—व्रीहि, चावल, शालि चावल, साठी कोदो चावल, मूंग, उडद, तिल, अलसी, सन, जौ, और विभिन्न प्रकार के शाक[6] तथा फल है।

भूमि व्यवस्था—देश तथा समाज की समृद्धि उसकी आर्थिक स्थिति से आंकी जाती है। अर्थ-व्यवस्था प्रमुख रूप से कृषि-व्यापार वाणिज्य आदि पर निर्भर करती है। प्राचीन काल से कृषि ही भारतवासियो की जीविका का प्रमुख साधन है। भूमि सम्बन्धी विभिन्न व्यवस्थाओं के लिए साहित्यिक तथा आभिलेखिक अनेकश प्रमाण प्राप्त होते है। भूमि-व्यवस्था के अन्तर्गत भू-स्वामित्व, भू-धारण-पद्धति, माप, अवधि इत्यादि पक्ष हैं।

शोध, आधार ग्रन्थ तथा समसामयिक साक्ष्यो से ज्ञात भूमि अनुदान, भूमि राजस्व, भू-अतरण, विभाजन, आर्थिक इत्यादि से सम्बन्धित साक्ष्यों के अनुशीलन से भूमि स्वामित्व के स्वरूप की अवधारणा सम्भव है। उदाहरणार्थ **प्रबन्धचिन्तामणि**[7] मे थाहड (वाहड) नामक शिष्य द्वारा महावीर के मदिर मे श्रीदेव को ग्रामदान[8] राजा सिद्धसेन

1 शब्दानुशासन, 7.1.78 क्षार भूमि जिसमें बीज अंकुरित ही नहीं होता था, पाइअ सद्द-महाण्णवो पृ० 189
2 वही, 6.2.13
3 वही, 7.2.26 ऊपर क्षेत्र।
4 अभिधानचि० IV, पृ० 233-234
5 अभिधानरत्न 2, 3-6, वैजयन्ती 124, 17-16
6 वही० 2, 7-9 वैजयन्ती 124, 19-20
7 प्रबन्धचिन्तामणि मेरू० पृ० 5, 11, 69, 71, 86, 87; टॉनी 107, 133, 136
8 प्रबन्धचि० मेरू० पृ० 69, टॉनी पृ० 103

द्वारा बालाक ग्राम मे[1] वाग्भट्ट द्वारा भूमि का अनुदान[2], कुमारपाल द्वारा आलिंग नामक कुम्हार को दिए गए दान[3] के उल्लेख स्थान-स्थान पर प्राप्त होते है। इसके अतिरिक्त कुमारपाल द्वारा भूमि-जब्ती के कानून बनाने का भी प्रमाण प्राप्त होता है।[4] एक अन्य स्थान पर राजस्व भुगतान[5] का उल्लेख भी मिलता है। **पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह**[6] मे भी इस प्रकार के अनेक उल्लेख आए है। इस काल मे लिखे गए अन्य साहित्यिक साक्ष्यो **सुकृतकीर्ति कल्लोलिनी**[7] तथा राजा भोज की कृति **समरांगणसूत्रधार**[8] मे भी भूमि दान, राजस्व, विभाजन इत्यादि के उल्लेख प्रसगित है। इसी प्रकार के उदाहरण **द्वयाश्रयमहाकाव्य**[9] मे भी अनुदान इत्यादि के उदाहरण प्राप्त होते हैं।

इन साहित्यिक प्रमाणो के अतिरिक्त भूमि-व्यवस्था के सम्बन्ध मे चौलुक्यो एव उत्तर-भारत मे शासन करने वाले विभिन्न राजवशों के बहुत से अभिलेख प्राप्त होते हैं जिनसे तत्कालीन भूमि-व्यवस्था पर प्रकाश पडता है।

चौलुक्य लेखो में राजा, सामतों, तथा व्यापारियो एव सभ्रान्त व्यक्तियों द्वारा ब्राह्मणो, देवालयो तथा सार्वजनिक सस्थाओं को भूमि तथा दान के प्रसग मिलते है।

भू-स्वामित्व

तत्कालीन समाज मे भूमि पर राजकीय स्वामित्व, व्यक्तिगत स्वामित्व तथा सामूहिक भू-स्वामित्व के प्रमाण उपलब्ध हैं। प्राचीन एव पूर्वमध्य कालीन भारत मे भू-स्वामित्व का क्या रूप था, इस विषय मे इतिहासकारों में मतभेद है। ब्यूलर, हापकिन्स, मैकडॉनल, कीथ और स्मिथ जैसे इतिहासकारों ने स्मृतियों व धर्मशास्त्रों के आधार पर मत प्रकट किया है कि प्राचीन भारत मे कृषि भूमि राजा की सम्पत्ति मानी जाती थी।[10] इसके विपरीत पी० एन० बनर्जी और काशी प्रसाद जायसवाल[11] ने भूमि पर वैयक्तिक स्वामित्व के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। यू० एन० घोषाल ने जायसवाल के विचारो से असहमति प्रकट की है।[12] अल्तेकर, आर० एस० शर्मा, आर० सी०

1 वही 71; टॉनी पृ० 106
2 वही 87; टॉनी पृ० 136
3 वही
4 वही 86, टॉनी पृ० 133
5 वही पृ० 53; टॉनी 77
6 पु० प्र० सं० पृ० 46, 52,65, 66, 71, 77, 78, 111, 128, 132
7 सुकृतकीर्ति पृ० 15, 31, 44, 76, 87
8 समराङ्गण, पृ० 28-29
9 द्वयाश्रयकाव्य पृ० III, 181; III 18
10 रा० श० शर्मा०, भारतीय सामतवाद पृ० 139
11 बनर्जी पी० एन०, पब्लिक एडमिन० इन ऐश्यन्ट इण्डया, पृ० 179; जायसवाल का प्र०, हिन्दू पालिटी, पृ० 343-51
12 द बिगनिंग ऑफ इंडियन हिस्टोरियोग्राफी एण्ड अदर ऐसेज, पृ० 158-66

पी० सिंह, एस० के०, मैती, एल० गोपाल प्रभृत्ति विद्वानो ने इस विषय पर प्रकाश डाला है।[1] विवेच्यकाल मे एवं विवेच्य क्षेत्र मे राजकीय, वैयक्तिक एव सामूहिक तीनो प्रकारो के भू-स्वामित्व के साक्ष्य प्राप्त होते है किन्तु वैयक्तिक भू-स्वामित्व के साक्ष्य बहुसख्यक तथा सबल प्रतीत होते है।[2] कौटिल्य भी राजा के भूमि-स्वामित्व के पक्ष में है। उनके अनुसार राज्य की ओर से व्यक्ति को कृषि के लिए भूमि प्रदान की जाती थी। भली-भॉति कृषि न हो पाने की स्थिति मे उस व्यक्ति से भूमि ले ली जाती थी। '**अर्थशास्त्र**' के टीकाकार भट्टस्वामी ने भूमि और जल का स्वामी राजा को माना है।[3] मनु ने भी राजा को ही अधिकार दिया।[4] **मानसोल्लास** (12हवीं श०) में भी राजा के स्वत्व को ही स्वीकार किया है।[5]। समय-समय पर राजा द्वारा भूमि पर राजस्व लगाया जाना उसके भूमि पर सैद्धान्तिक स्वामित्व का प्रमाण है। राजा को भूमि की उपज का कुछ भाग प्राप्त करने का अधिकार था। सम्पूर्ण राज्य का प्रभु (स्वामी) होने के कारण वह अन्न, फल, फूल, वृक्ष, जल निधि इत्यादि लेने का अधिकारी था। इनके उत्पादको से वह अपना भाग प्राप्त करता था। विचाराधीन युग के अभिलेखो मे राजाओं द्वारा खेत, भूमिखड तथा ग्राम ब्राह्मणो, मन्दिरो, पदाधिकारियो, सामन्तो इत्यादि को प्रदान किए जाने के प्रमाण मिलते हैं जो उसके भू-स्वामित्व के द्योतक है। लक्ष्मीधर ने कृत्यकल्पतरू[6] मे कात्यायन को उद्धृत करते हुए राजा को भूमि का स्वामी कहा गया है।

यद्यपि कि विधिग्रन्थो मे राजा को ही भूमि का स्वामी माना गया है परन्तु इन्ही ग्रन्थो मे राजा की निरकुशता को बाध्य भी किया गया है। जैसा कि मनु ने पृथ्वी पर राजा के सर्वोच्च अधिकार की बात मोटे तौर पर कही, लेकिन इस सर्वोच्च अधिकार का मतलब भू-स्वामित्व ही रहा हो, ऐसा मानने का कोई कारण नहीं दिखाई देता। उसके अनुसार, खानो से निकली कच्ची धातुओं के आधे हिस्से पर राजा का अधिकार था, क्योंकि वह पृथ्वी का अधिपति था और उसकी रक्षा करता था[7]। पूर्ववर्ती शास्त्रकारो के अनुसार राजा को करारोपण का अधिकार केवल इस कारण था कि वह लोगो की रक्षा करता था। इस प्रकार राजा को भूमि का केवल भोगाधिकार प्राप्त था। अधीतकाल मे लक्ष्मीधर ने **कृत्यकल्पतरू** मे राजा के स्वत्व का ही समर्थन किया है। इस काल मे

---

1 अल्तेकर, ए० एस०, प्राचीन भारतीय शासन पद्धति पृ० 198-203;
सिंह, आर० सीपी, किंगशिप इन नार्दर्न इंडिया, पृ० 339-40, मैटी एस० के०, इकनामिक ला० आ० जी० इं० इन गुप्त पीरियड पृ० 11-23; गोपाल ल० इकनामिक ला० ना० इं० पृ० 1-31

2 यथा, शर्मा आर० एस० भारतीय सामन्तवाद, अध्याय पूर्वमध्यकाल में भूम विषयक अधिकार पृ० 121

3 अर्थशास्त्र, 2/24

4 मनु स्मृ० निधेराज्ञा भाग ग्रहीतव्य इत्यस्य विधेरर्थवादोडयम् VIII,39

5 मानसोल्लास, सहस्रस्वामिनेखिलम् 1/161-62-

6 कृत्यकल्पतरू, राजधर्मकाण्ड पृ० 90

7 मनु० निधीनातु पुराणानां धातूनामेव च क्षितौ। अर्धभाग्ररक्षणाद्राजा भूमेराधिपतिर्हि सः VIII,39

कृषक को भूमि पर खेती करने का अधिकार तो प्राप्त था, परन्तु भूमि पर राजा का स्वामित्व ही स्वीकार किया गया है। सभव है कि विभिन्न राजाओं के अधीन वास्तविक स्थिति मे अन्तर पडता रहा हो, कितु इसमे कोई सदेह नही कि पूर्व-मध्यकाल मे भूमि पर राजकीय स्वामित्व का सैद्धान्तिक पक्ष प्रबल था।[1]

व्यक्तिगत भू-स्वामित्व

एतत्युगीन ऐतिहासिक साक्ष्यो से ज्ञात होता है कि भूमि पर निजी स्वामित्व भी होता था। इसमे कुछ व्यक्ति अपनी भूमि को व्यक्तिगत रूप से उपहार या दान मे देते थे तथा राजा उन पर कर लगाता था।[2] चौलुक्य नरेश भीम द्वितीय के वि० सं० 1262 तथा 1266 के अभिलेखो मे यह वर्णित है कि राजा भीम ने राजस्व की आय से प्राप्त निजी सपत्ति से ब्राह्मण को एक हल भूमि, वापी और प्रपा के रख रखाव के लिए दान दी।[3] इसके अतिरिक्त चाहमान राज्य के केल्हण के एक अभिलेख मे राजा की निजी सम्पत्ति से उनकी पत्नी द्वारा निजी रूप से आणलदेवी के मदिर को भूमिदान देने का उल्लेख मिलता है।[4] इसी अभिलेख मे एक रथकार द्वारा भी दान देने का उल्लेख मिलता है। एक अन्य अभिलेख (वि० स० 1264 का भीमदेव द्वितीय) मे एक व्यापारी तथा द्वारपाल द्वारा दान देने का उल्लेख भी मिलता है।[5]
सीयदोणि अभिलेख मे भी व्यापारियो तथा शिल्पियो द्वारा देवालयो को भूमिदान देने के प्रसग मिलते हैं।[6] चौलुक्यों के इन अभिलेखो से भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व की पुष्टि होती है।

ऐतिहासिक काल मे जब से सामाजिक जीवन मे वैयक्तिक भावना को प्रधानता दी जाने लगी तब से ही, राजा के भूमि स्वामित्व के सिद्धान्त के साथ व्यक्तिगत स्वामित्व का सिद्धान्त भी प्रतिपादित किया जाने लगा। **पूर्व मीमांसा** से ज्ञात होता है कि राजा यज्ञ के पश्चात् भूमि के अतिरिक्त सभी वस्तुओं का दान कर सकता था।[7] कौटिल्य ने राजकीय भूमि और प्रजा जनों की व्यक्तिगत भूमि मे स्पष्टत· अन्तर किया है।[8] नारद की व्यवस्थानुसार राजा को गृह एव खेत इत्यादि पर व्यक्तियो के स्वामित्व की उपेक्षा नही करनी चाहिए।[9]

1 आर० एस० शर्मा, भारतीय सामंतवाद, पृ० 127
2 एपि० इंडि०, II 125-130, मेघातिथि, VIII, 44, 148, 151, 165, IX, 49, 55
3 इंडि० एंटी XVIII वि० सं० 1262 पृ० 108; वही पृ० 110
4 एपि० इडि० XI, पृ० 47-48
5 इंडि० एंटी० XI, पृ० 336
6 एपि० इंडि० I, पृ० 166
7 पूर्वमीमांसा, 6/7/3
8 अर्थशास्त्र, 2/23
9 नारद स्मृति, 9.42

राजा किसी किसान की भूमि केवल कर न देने की स्थिति मे ही छीन सकता था। प्रजा को अपनी भूमि के विभाजन विक्रय करने दान, देने तथा अधिरूप मे रखने का अधिकार था।

मिताक्षरा[1] और **मदनपारिजात**[2] मे यह तर्क दिया गया कि ब्राह्मण गोत्र के खेतो के अविभाज्य होने का नियम ब्राह्मण से उत्पन्न क्षत्रिय तथा अन्य पुत्रो पर ही लागू होता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि किसी भी ब्राह्मण के ब्राह्मण-पुत्र आपस मे भू-सपत्ति का विभाजन कर सकते थे। गोत्री अधिकार सम्बन्धी व्यवस्था के अन्तर्गत भूमि पर वैयक्तिक अधिकार को बल मिला। वर्ण के आधार पर ब्राह्मणो के क्षत्रिय तथा अन्य पुत्रो को वैयक्तिक अधिकारो से वचित रखा गया। तेरहवी शताब्दी के देवण्णभट्ट का कहना है कि भूमि का विभाजन हो सकता है किन्तु विभाजन समस्त कुटुम्बियो की अनुमति से ही हो सकता है।[3] ग्यारहवी से लेकर तेरहवी शताब्दी तक के धर्मशास्त्रो मे ब्राह्मण परिवारो की भू-सपत्ति के विभाजन की स्पष्ट व्यवस्था की गयी है और जो नियम ब्राह्मण परिवारो के लिए बना था सभवत वही अन्य जातियो के परिवारो पर भी लागू रहा हो। इस प्रकार व्यक्ति भूमि को आपस मे बॉट सकते थे जिससे वैयक्तिक भू-स्वामित्व का एक लक्ष्य स्वीकार किया जाता है।

बिक्री सम्बन्धी कानून से भी भूमि पर व्यक्ति के अधिकारो के विकास का पता चलता है। प्रारम्भ मे किसी भी धर्मशास्त्रकार ने भूमि विक्रय की बात नही की। सर्वप्रथम बृहस्पति ने भूमि के विक्रय-सम्बन्धी नियमो की रचना की[4] कात्यायन ने भी भूमि विक्रय-सम्बन्धी उल्लेख किए है। उनके अनुसार यदि कोई किसी को जमीन देता है, या उसके हाथ बेचता अथवा गिरवी रखता है और वह जमीन बाद में बेकार हो जाती है, तो उसे उस व्यक्ति को फिर उतनी ही जमीन देना चाहिए।[5] वह आगे कहते है जिस जमीन को क्रय करना हो उसकी ठीक से जॉच कर लेना चाहिए।[6] वह यह भी कहते है कि जिस जमीन पर कर लगता हो, उसे कर चुकाने के लिए बेचना चाहिए।[7] अर्थात् किसान को कर की बकाया रकम चुकाने के लिए अपनी जमीन का एक हिस्सा बेचने को बाध्य किया जा सकता था।[8] बारहवी शताब्दी मे लक्ष्मीधर ने ग्राम, क्षेत्र आदि स्थावर सपत्ति की बिक्री का

---

1 धर्मकोश,यत्तुशानसा क्षेत्रष्वाविभाज्यत्वयुक्तविभाज्यमिती। तद् ब्राह्मणोत्पन्न क्षत्रियादि पुत्रोविषयम् 1.12 32,
2 वही 1231
3 वही, 1232
4 धर्मकोश 1,896
5 वही०, 767;
6 वही, 896
7 वही, 899
8 वही, 898

वर्णन किया है।[1] देवण्णभट्ट कहते है कि जब सीमा, जल, और वीथियो के साथ-साथ कोई ग्राम बेचा जाय तो वहा के पुरोहित वर्ग और ग्राम-देवता को नष्ट नही करना चाहिए।[2] तेरहवी शताब्दी मे जब वरदराज के 'व्यवहार-निर्णय' का सकलन काल तक भूमि की बिक्री का चलन पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित और स्वीकृत हो गया, क्योकि इस कृति मे जमीन, मकान आदि को पण्य-वस्तु (बिक्री की वस्तु) कहा गया है।[3] इससे पहले भूमि के लिए इस विशेषण का प्रयोग शायद ही कही किया गया हो। बारहवी और तेरहवी शताब्दी मे हम भूमि के विक्रय के सम्बन्ध मे अधिकाधिक नियमो की रचना होते देखते है जिसका सम्बन्ध इस काल मे मुद्रा और व्यापार की पुन'-प्रतिष्ठा से जोडना असंगत न होगा।

सर्वप्रथम बृहस्पति बधक रखे मकान या खेत की उपज के उपयोग को भोग-लाभ की सज्ञा दी है।[4] यदि कोई व्यक्ति ऋणदाता से कर्ज लेता था तो मूलधन और ब्याज की अदायगी से लिए अपनी भूमि उसके पास बधक रखता था। जब व्यक्ति के पास अपनी स्वय की भूमि होगी तभी वह उसे बधक रख सकता था। अधीतकाल मे भूमि बधक रखने के सम्बन्ध मे विभिन्न नियमो के होने से यह तात्पर्य निकलता है कि भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व अवश्य रहा होगा।

किसानो को पट्टे पर जमीन देने के जो नियम बने थे उनसे भी भूमि पर व्यक्ति के अधिकार सिद्ध होते है। **मिताक्षरा** मे व्यवस्था है कि खेती की उपेक्षा करने वाले काश्तकार से जमीन छीनकर दूसरे को दी जाय।[5] इस प्रकार भू- स्वामी को पट्टेदार बदलने का अधिकार था, भू-स्वामी का हिस्सा, भूमि की उर्वरता पर निर्भर करता था। जो जमीन बहुत दिनो से परती रही हो उस पर वह उपज के दसवे हिस्से का हकदार था। जिस पर खेती होती रही हो, उसकी उपज का आठवा हिस्सा उसका था और जिस पर बहुत अच्छी तरह खेती होती रही हो उसकी उपज का छठा हिस्सा उसका होता था।[6] ये अनेक नियम भूमि पर बढते हुए वैयक्तिक अधिकारों का पर्याप्त सकेत देते है।

विवेच्यकाल मे चौलुक्य-नरेशो तथा अन्य राजाओं के अभिलेखो[7] मे राजा, सामतो, व्यापारियो एव सम्भ्रान्त

1 व्यवहारकल्पतरु, धर्मकोश, 886 मे उद्धृत
2 स्मृतिचन्द्रिका, 23, धर्मकोश, 1, 977 मे उद्धृत
3 हि० ध० शा० 3, 495, पा० टि० 878
4 वही० ११क्ष ७-८-
5 धर्मकोश 943
6 धर्मकोश, 954
7 पीछे उद्धृत है

व्यक्तियो द्वारा विभिन्न भूमि अनुदानो को मन्दिरो एव ब्राह्मणो को देने के उल्लेख प्राप्त होते है। इस प्रकार दान देने की प्रवृत्ति तभी अपनाई जा सकती थी, जब कि व्यक्ति के पास अपनी निजी सपत्ति हो। इस प्रकार व्यक्ति अपनी भूमि को स्वेच्छा से दान कर सकता था, विक्रय कर सकता था तथा अन्य आवश्यकताओं के लिए उनका उपयोग कर सकता था।

सामुदायिक स्वामित्व

कुछ साक्ष्य ऐसे भी प्राप्त होते है जिनसे सामुदायिक भू-स्वामित्व की भी जानकारी होती है। प्रभूत मात्रा मे उपलब्ध दान-शासनो का सम्बन्ध मन्दिरो और ब्राह्मणो को प्रदान की गई भूमि से है। ब्राह्मण और मदिर भूमि का उपयोग समुदाय के नाम पर करते थे। प्राय अभिलेखो के आरम्भ मे यह उल्लेख प्राप्त होता है कि जब कोई भूमि दान करे तो, चारो वेदो के ज्ञाताओं, व्यापारियो, महत्तरो, सभी ग्राम-वासियो, उस भूमि के स्वामियो तथा राज्याधिकारियो को सूचित कर देना चाहिए। इससे यह सकेत मिलता है कि भूमि पर ग्रामवासियो का भी कुछ हक होता था। **प्रबन्धचिन्तामणि**[1] मे राजा सिद्धसेन द्वारा सिंहपुर अनुदान ब्राह्मणो को दान देना इसी सामुदायिक स्वामित्व के अन्तर्गत आता है। राजा भीमदेव प्रथम के लेख (111,.2 वि० सं०)[2] में यह अनुदान दिया गया—2 हल भूमि जो कि सादाक (Sadak) व्यापारी की थी, इससे अतिरिक्त एक अन्य भूमि जो 2 कलसिकवपाश (Kalasikavapas) की जैन मठ को दान दी गयी।

इसी प्रकार एक अन्य लेख[3] जो राजा भीम प्रथम का है, उसमे भी 3 हल भूमि वारणावाडा (Varanavada) ग्राम मे जो कि पाटु (Patu) की भूमि थी एक मोध ब्राह्मण जानक को दान दी गयी।

बेरावल अभिलेख[4] जो चौलुक्य राज वाघेल अर्जुनदेव का 1264 ईस्वी का लेख है। उसमे हरमूज से आए एक व्यापारी ने सोमनाथ मदिर के अधिकारियो की सहमति से मदिर की भूमि **महाजनपल्ली** का खरीदकर उस पर मस्जिद का निर्माण करवाया ।

रासमाला[5] मे उल्लेख है कि राजा का फसल मे हिस्सा होता था, कभी-कभी राजा कृषको से अपने

---

1 प्रबन्धचिन्तामणि,वही०
2 एपि० इंडि०, XXXI, पृ० 255-259
3 वही०, XXI, पृ० 171-172
4 सेलेक्ट इंस० 11, पृ० 4-2
5 रासमाला पृ० 185

मत्रियो के माध्यम से उपज का अश लेता था। एक अन्य स्थान पर यह कहा है कि ग्रामस्वामी कृषको से अपना अश लेते थे तथा राजा उस ग्राम स्वामी से अपना अश लेता था। कभी-कभी निर्दयी शासक एव लोभी अपने अँश के साथ-साथ कृषको की सम्पूर्ण उपज को अपहृत कर लेते थे।[1]

ईस्वी सन् की प्रारभिक सदियो से लेकर बारहवी शताब्दी तक भू-स्वामित्व पर प्रकाश डालने वाले धर्मशास्त्र ग्रन्थो मे जो सामग्री मिलती है, उसमे सामुदायिक अधिकारो का हल्का सा आभास-मात्र है। किन्तु राजकीय और वैयक्तिक अधिकारो को उसमे उत्तरोत्तर अधिकाधिक समर्थन दिया गया है। इस काल मे सामन्त प्रथा विकसित हो चुकी थी राजकीय पदाधिकारियो को भी राजसेवा के बदले मे वेतन न देकर भूमि दी जाती थी। वे अनुदान मे प्राप्त भूमि का उपयोग करने के लिए स्वतन्त्र थे, भूमि का अश इच्छानुसार दान मे भी दे सकते थे यद्यपि इसके लिए उन्हे कभी-कभी राजा से स्वीकृति प्राप्त करनी पडती थी।

लौकिक सत्त्ववाद—यह उद्धरण परोक्ष रूप से भूमि पर बहुस्वामित्व का द्योतन करता है कि **मिताक्षरा** के अनुसार जिस आधि (बन्धक) का फल धनी व्यक्ति को मिलता हो (जैसे खेत आदि) किन्तु उसपर से बन्धक रखने वाले का अधिकार समाप्त नही होता, इससे यह प्रतीत होता है कि एक ही समय मे भूमि पर बहुत से लोगो का अधिकार होता था यथा जिसकी भूमि हो, जिसके पास बधक रखी हो या जिनके द्वारा उस पर कार्य करवाया जा रहा हो।[2] इसी प्रकार जिसे भूमि को दान देने, क्रय करने, बधक रखने या उसका अन्य प्रकार से उपयोग करने का अधिकार होता है, वास्तविक स्वामी वही होता है।विज्ञानेश्वर ने इसीलिए लौकिक सत्त्ववाद का उल्लेख किया है। इस शब्द पर टीका करते हुए वे लिखते है कि शास्त्रीय विधान पर निर्भर हुए बिना व्यापक लोक स्वीकृति के आधार पर सर्वमान्य भू-स्वामित्व को लौकिक स्वामित्व नही स्वीकर किया जा सकता (मिताक्षरा 11, 114) पूर्व भू-स्वामित्व का मुद्दा बहुत ही जटिल एव विवादास्पद है। एतत् युगीन विधिकारो ने भूमिपर एक ही समय मे बहुत से वर्गो का स्वत्व स्वीकार किया है। इसलिए इस भू-स्वामित्व को प्राचीनकाल की अर्ध्वमुखीय रेखीय पद्धति से नहीं समझा जा सकता। वास्तव मे भू-स्वामित्व का निर्धारण विवेच्यकाल की वास्तविक परिस्थितियों तथा तथ्यो के आलोक मे ही किया जा सकता है। बी० एन० एस० यादव (सो० क० ना० ई० पृ० 251) ने उचित ही कहा है कि इस भूस्वत्व को विधि वेत्ताओं ने उपविभाजन स्वीकार किया है यथा- राजा का स्वत्व, स्वामी का

1 राजतरगिणी, IV, 628; V. 166-170; एपि० इंडि०, XIV, पृ० 178
2 मिताक्षरा II, 58, पृ० 216

स्वत्व, काश्तकार, कृषक का स्वत्त्व, आधिकर्ता का स्वामित्व, आर्थिक का स्वामित्व इत्यादि अपनी-अपनी सीमा मे एक ही समय उक्त सभी भू०स्वामी होते है ऐसी स्थिति मे विज्ञानेश्वर द्वारा प्रतिपादित लौकिक सत्ववाद के आधार पर निर्धारित भू-स्वामित्व ही वास्तविक भू- स्वामित्व माना जाना चाहिए।

भूमि के प्रकार—भूमि का एक अन्य वर्गीकरण भूमि की उपजाऊ शक्ति पर भी किया जाता था। देय राजस्व दरो के आधार पर भी भूमि का वर्गीकरण किया जाता था। गुजरात क्षेत्र मे तीन प्रकार की भूमि होने की जानकारी प्राप्त होती है तथा जिसकी उत्पादकता के आधार पर कर भी निश्चित किया जाता था।—लेख पद्धति के एक दस्तावेज मे सकर भूमि थी जिसका राजस्व 24 द्रम्म प्रति विसोवा था[1] तथा पचिला भूमि का राजस्व 20 द्रम्भ प्रति विश्वा बताया गया है तथा तीसरी अनुपजाऊ भूमि थी, जिसको अधखिल कहते थे, जिसका कर 16 द्रम्भ प्रति विशोपक था। चौलुक्य नरेश भीम के एक अभिलेख मे उपजाऊ तथा बजर भूमि दान करने का उल्लेख मिलता है[2] **द्वयाश्रयकाव्य** पर अभयतिलकगणि की टीका से भी इस प्रकार की भूमि विभाजन की सूचना मिलती है। खिल या ऊसर भूमि का उल्लेख बुधगुप्त[3] के दामोदर पुर कापर प्लेट मे भी मिलता है। जिसमे तुलना करने पर यह पता चलता है कि इसमे खिल भूमि को साधारण भूमि से कम मूल्याकित किया है लेकिन **लेखपद्धति** वि० स० 802 एक दस्तावेज मे इस प्रकार की ऊसर भूमि को एक कृषक द्वारा जोता जाता था, जो बाहर से आता था (नव्य समायात कुटुम्बिकै) उसको 16 द्रम्म प्रति विसोवा देना पडता था। गोचर भूमि पर भी कर देना पडता था। मूलराज को कडि लेख में गोचर कर का उल्लेख हुआ है। अभयतिलकगणि ने भी गोचर भूमि के उपभोगार्थ कर वसूलने के तथ्य की पुष्टि किया है।

भूमि की माप—अभिलेखो मे हमे भूमिमाप सम्बन्धी हल, पाश, हस्त, शब्दावलिया प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त भोज के अभिलेख मे निवर्तन शब्द का प्रयोग हुआ है।[4] इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि राजस्व की दर से तय करने तथा सीमा विवादो को रोकने के लिए भूमि की पैमाइश होती थी। **अभिधानचिन्तामणि**[5] मे हस्त, फुट, गज, बास इत्यादि से प्रमाण करने के लिए पाय्यम् शब्द का प्रयोग किया है।

---

1 विशोपक/विशोवा—एक भूमि माप जो साधारण भूमि माप की 1/30 थी, लेखपद्धति मे इसे एक बीघा माना है, एक भूमि जो 20 बीघा है—डी० सी० सरकार, इडियन, एपिग्रैफिकल ग्लोसरी, पृ० 374 दिल्ली, 1966

2 इडि एंटी० XI, पृ० 337 वि० सं० 1264

3 एपि० इडि०, XV, पृ० 137

4 एपि० इडि० 33, पृ० 192-198, एपि० इंडि० II पृ० 81;
इंडि० एंटी 61 पृ० 20, आई० एच० क्यू०, भाग, 8, पृ० 305-315

5 अभिधानचिन्तामणि, पृ० 219

भारतवर्ष मे भिन्न-भिन्न क्षेत्रो मे भूमि माप का भिन्न-भिन्न तरीका था। जैसे—

(1) हल-माप

(2) हस्त, रॉड, नल आदि से माप, निवर्तन

(3) वपनार्थ बीज की मात्रा

(4) भूमिकर या लगान की दर से आधार पर भूमि की माप[1]

चौलुक्य अभिलेखों में अधिकतर भूमि के दान के सन्दर्भ मे हल जो शब्द माप के लिए प्रयुक्त हुआ है यह उत्तर-भारत के अन्य क्षेत्र मे भी प्रयुक्त हुआ है। जिन चौलुक्य राजाओं ने इसका प्रयोग किया है उनमें विशेषतः—भीमदेव की पालनपुर ताम्रपत्र (वि० स० 1120),[2] दोहड अभिलेख जयसिंह देव (वि० स० 1196) का,[3], कुमारपाल का बालि अभिलेख[4] त्रिलोचनपाल की सूरत प्लेट (1151 ईस्वी)[5] इसके अतिरिक्त धुल्ला कापर-प्लेट ऑफ श्रीचन्द (10 वी० श० ई०)[6] रेन कायर प्लेट गोविन्दचन्द्र (वि० सं० 1188)[7] नरवर्मन का कदम्बपद्रक अनुदान (वि० सं० 1167)[8]

एक हल भूमि से तात्पर्य उतनी भूमि से होता था जितनी भूमि एक दिन में एक हल द्वारा जोती जा सकती थी। इस संदर्भ मे विभिन्न अभिलेखों में अलग-अलग शब्दो का प्रयोग किया गया है। भीमदेव द्वितीय[9] की बाम्बे एसियाटिक सोसाइटी कापर प्लेट में तथा परमार राजा धारावर्षदेव के एक अभिलेख[10] में इसका प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है। अन्य अभिलेखो में इसे हलद्गाग, भू-हल कहा गया है।

इस सम्बन्ध में अभी तक 'हर' शब्द का प्रयोग गुजरात में होता है परन्तु यह भूमि की नाप के लिए नहीं बल्कि अनाज की माप के लिए होता है।[11] भूमि की माप के लिए हल का प्रयोग पाणिनी[12] तथा पतञ्जलि[13]

1 पुष्पानियोगी, इकोनोमिक हिस्ट्री आफ नार्दर्न इण्डिया, पृ० 81
2 एपि० इंडि०, XXI, पृ० 171
3 इंडि० एंटी, X, पृ० 158
4 आर्के० सर्वे आफ वेस्टर्न सर्किल 1907-8, पृ० 54-5
5 इंडि० एंटी० XII, पृ० 196, XXI, पृ० 255
6 आई० बी०, पृ० 165
7 इंडि० एंटी XIX पृ० 249
8 वही XVIII, पृ० 14
9 इंडि० एंटी० XVIII, पृ० 108
10 वही० LVI, पृ० 50 कुछ इतिहासकार हल का अर्थ यह मानते हैं कि एक हल द्वारा एक वर्ष में जितने बड़े क्षेत्र पर खेती किया जा सके।
11 इंडि० एंटी०, LII पृ० 249
12 वही, IV, 4, 97, एल हल भूमि के लिए हल्य शब्द प्रयुक्त है,
13 एपि० इंडि०, I, पृ० 162

द्वारा भी किया गया है। विभिन्न क्षेत्रो मे अलग-अलग नाप के हल पाए जाते थे तथा भूमि भी अनेक प्रकार की होती थी जिससे एक निश्चित अनुमान लगा पाना कठिन होता था।

भूमि की माप करने की एक अन्य इकाई हस्त थी। कन्नौज से प्राप्त प्रतिहारो के सियदोणि अभिलेख[1] मे एक क्षेत्र की माप 200 x 225 हस्त दी गई है। यह हस्त राजा के हस्त की माप माना जा सकता है जिसका प्रयोग भूमि की माप के लिए होता था। इसी प्रकार दक्षिण मे राजा के पैर, भूमि की नाप के लिए प्रयोग होता था। पालो के अभिलेखो मे 'नल' का प्रयोग होता था।

तत्कालीन कतिपय अन्य अभिलेखो मे भूमि की वास्तविक माप का बोध **वपन किए जाने वाले बीज की मात्रा** से जाना जाता था अथवा अनाज मापको से किया जाता था। चौलुक्य नरेश कर्ण प्रथम के सूनक अभिलेख (वि० स० 1148)[2] मे एक शब्द पाइला मिलता है जो एक अनाज मापक था। इसी प्रकार अन्य राजवशो के अभिलेखो मे कुल्यवाप, अढिक, पाटक, उनमान, काक, काकिणिका इत्यादि शब्द पाए जाते है। इसी प्रकार के शब्दो से सम्बन्धित एक सूची **अभिधानचिन्तामणि**[3] मे प्राप्त होती है।

प्राय्यमान

1 अङ्गुलम् 3 यव

24 अङ्गुलानि 1 हस्त

4 हस्ता 1 दण्ड

2000 दण्डा 1 क्रोश

2 क्रोशौ 1 गव्यूति

2 गव्यूती 1 योजनम् (4 क्रोशा) मे प्राप्त होती है।

रायल एसियाटिक सोसाइटी मे भीमदेव द्वितीय के ताम्रपत्र (वि० स० 1266)[4] मे **'पाश'** शब्द का प्रयोग भूमि की नाप करने के लिए किया गया है। इसमे पाश शब्द चार बार प्रयोग किया गया है। एक बार 50 पाश तथा तीन बार 100 पाश का प्रयोग हुआ है। इस पाश का सम्बन्ध खण्ड से भी जोडा जाता है। खण्ड का

1 एपि० इडि० I पृ० 316
2 वही
3 अभिधानचिन्तामणि, 551-52 पृ० 221,
4 इंडि० एंटी XVIII, पृ० 110

उल्लेख गुप्तसं० 207 के ध्रुवसेन प्रथम के गणेशगढ प्लेट मे हुआ है। वास्तव मे खण्ड का प्रयोग अनाज नापने के लिए होता था तथा पाश भूमि की सतह नापने के लिए होता था। 100 पाश भूमि गूहरद ग्राम मे थी जो 1 खण्ड अनाज उत्पन्न करने वाली थी, इसी प्रकार एक भूमि जो 1 खण्ड उत्पन्न करती थी तथा 100 पाश नापी जाती थी, दूसरे ग्राम मे दान दी गयी। एक पाश को नल के समान निश्चित भूमि नापने की लम्बाई बताया गया है।

चौलुक्य अभिलेख (1206 ई०)[1] मे भूमि माप के लिए 'पाथ' शब्द का प्रयोग हुआ है। **विल्सन शब्दकोश** के अनुसार एक पाथ मे 240 वर्ग गज होते है। उच्चारण साम्यता होने के कारण ऐसा प्रतीत होता है कि लेख उत्कीर्णक की गलती से पाश को ही पाथ उत्कीर्ण किया है।

भोजदेव[2] के वि० स० 1076 के बासवाडा प्लेट मे उल्लेख है कि उसने 100 निवर्तन भूमि दान दी। काणे[3] के अनुसार निवर्तन इसलिए कहा जाता था कि एक दिन मे छ या आठ बैलो द्वारा जो भूमि जोती जाती थी। विभिन्न विद्वानो ने निवर्तन के सम्बन्ध मे अपने-अपने मत दिए है। **लीलावती** (1.6) के अनुसार एक निवर्तन 400 वर्ग गज का होता था, परन्तु कौटिल्य (2.20) के अनुसार यह 900 वर्ग गज का होता था।

इसी प्रकार अन्य क्षेत्रो मे विभिन्न राजवशो मे भी अनेक शब्दो का प्रयोग भूमि-नापने के सन्दर्भ मे किया गया है, परन्तु न तो चौलुक्य अभिलेखो मे न अन्य राज्यो मे इस सन्दर्भ मे कोई निश्चित प्रमाण उपलब्ध होता है, जिससे कि यह अनुमान लगाया जा सके कि एक हल मे या एक हस्त मे या अन्य नाप के अनुसार कितनी निश्चित भूमि है। इनमे हल आदि की कोई निश्चित नाप नही मिलती।

सिचाई-व्यवस्था—प्रवन्धचिन्तामणि मे कृषि की सिंचाई के सम्बन्ध मे बहुत से उदाहरण प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार अभिलेखो एव समकालीन साहित्य मे भी सिचाई सम्बन्धी व्यवस्था का उल्लेख मिलता है। इन विवरणो से सिंचाई के अनेक साधनो तथा अरघट्ट, सरोवर, तडाग, जलाशय, कुए, नहर इत्यादि के विषय मे जानकारी मिलती है। **प्रबन्धचिन्तामणि** मे अरघट्ट[4] तथा घटीर्जलयन्त्र चक्रे[5] का उल्लेख हुआ है। इसी ग्रन्थ मे राजा कर्ण द्वारा कर्णसागर बनवाने का उल्लेख मिलता है।[6] एक अन्य स्थान पर यह वर्णन है कि खेत के सेतु (बाध) टूट गए

1 इंडि० एंटी, XI, पृ० 337
2 एपि० इंडि०, XI, पृ० 181
3 काणे, हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, III पृ० 145
4 प्रबन्धचि० मेरू० पृ० 40, 1.24
5 वही त्व कि न पश्यसि घटीर्जलयन्त्रचक्रे रिक्ता भवन्ति भरितः पुनरेव रिक्ता। पृ०, 24, 11, 5-6
6 प्रबन्धचि० मेरू० पृ० 55; टॉनी पृ० 78

थे।[1] इससे अनुमान लगता है कि बाध बनाकर भी सिचाई की जाती थी। इसके अतिरिक्त राजा जयसिंह ने अणहिल पुर मे सहस्रलिग सरोवर बनवाया। राजा भीम की पत्नी उदयपति ने पत्तन मे एक नए जलाशय का निर्माण करवाया जो सहस्रलिग झील से सबद्ध था।[2] सिद्धराज ने एक दूत से बनारस के राजा की बातचीत मदिरो, हौजो, जलाशयो के विषय मे होती है।[3] इसमे ही एक अन्य स्थान पर वीरधवल के मन्त्री तेजपाल द्वारा बहुत से सरोवरो को बनवाने का वर्णन मिलता है। इसके अतिरिक्त चौलुक्य राजाओं के अभिलेखो में भी सिंचाई सम्बन्धी व्यवस्था का वर्णन आता है। एक अभिलेख मे तालाब तथा द्वारवती बनवाने का[4] एक अन्य अभिलेख मे वस्तुपाल द्वारा प्रपा बनवाने[5] का, भीमदेव द्वितीय के वि० स० 1236 के अभिलेख मे एक अरघट्ट आहड मे मेवाड जिले मे दान देने का उल्लेख है।[6] राजा कर्ण ने वापी की देखरेख के लिए दान दिया।[7] एक अन्य अभिलेख मे भी भीमदेव द्वितीय द्वारा वापीपुटक भूमिदान दी गयी।[8] कुमारपाल द्वारा तोयनिलम (प्रपा बनवाने का उल्लेख है[9]

प्रबन्धचिन्तामणि के अतिरिक्त तत्कालीन **प्रबन्धकोश**[10] मे भी सिचाई के बहुत से उल्लेख मिलते हैं। इसमें भी प्रचलित साधनो कूपो, तडागो, सरोवरो तथा जलाशयो का वर्णन मिलता है। **पुरातन प्रबन्ध संग्रह** मे भी वापी, घटीर्जलयन्त्रचक्र, सरोवर इत्यादि का वर्णन मिलता है।[11] इन ग्रन्थो के अतिरिक्त ग्यारहवी-बारहवी शताब्दी के अन्य ग्रन्थ जैसे—**सुकृतकीर्तिकल्लोलिनी**, **स्र्थावरावलीचरित**[12], **त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित**[13], **समरांगण-सूत्रधार**[14] इत्यादि ग्रन्थो मे भी सिचाई के उपर्युक्त वर्णित साधनो का उल्लेख प्राप्त होता है। इन ग्रन्थो के अतिरिक्त तत्कालीन शब्दकोशो देशीनाममाला, अभिधानचिन्तामणि, अभिधानरत्नमाला मे कृषि तथा सिचाई से सम्बन्धित बहुत से शब्द प्राप्त होते है।

---

1 वही० पृ० 108, टॉनी पृ० 172
2 वही०, पृ० 78 'नव्या वापी'
3 वही० पृ० 74, टॉनी पृ० 112
4 आर्के० सर्वे० आफ इडिया ए० रिपोर्ट 1936-37 पृ० 120
5 ए० बी० ओ० आर० आई० IX पृ० 179
6 आल इडिया सातवा ओरिएटल कान्फ्रेस पृ० 107
7 एपि० इडि० I पृ० 316
8 इडि० एंटी० XVIII पृ० 108
9 एपि० इडि० I पृ० 293
10 प्रबन्धकोश पृ० 9, 17, 56, 111, 114, 130
11 पु० प्र० स० पृ० 11, 14, 24, 30, 34, 46, 59, 62, 65, 68
12 सुकृत० पृ० 15, 28, 27, 38, 45, 68, 84, 99
13 स्र्थावरावलीचरित पृ० 78
14 त्रिषष्ठि० पृ० 13, 64

सिचाई की व्यवस्था राज्य द्वारा तो की ही जाती थी, समाज के अन्य सम्भ्रान्त नागरिक लोग शासक, व्यापारी, सामन्त, सम्भ्रान्त व्यक्ति, प्रमुख अधिकारी राज्य की आवश्यकता की पूर्ति हेतु तथा पुण्यार्थ भी जलाशयो इत्यादि का सृजन करवाते थे। जिनसे खेतो की सिचाई की जाती थी।

शब्दकोशो मे अरघट्टक से तात्पर्य है कुए से पानी निकालने के लिए चक्का या यन्त्र था। **अमरकोश**[1] के अनुसार अरघट्ट या घटीनयन्त्र मे कोई अन्तर नही होता है। इसमे कुछ बर्तन या बाल्टी चक्के के साथ जुडी होती है तथा इनमे पानी एकत्र किया जाता तथा निकाला जाता है। **प्रबन्धचिन्तामणि** के कुछ पूर्व के ग्रन्थों में **कुवलयमालाकहा** (778 ईस्वी) तथा **उपमितिभवप्रपञ्चकहा** (905 ईस्वी) तथा आगे के साहित्य मे ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी के राजस्थान तथा गुजरात से प्राप्त अभिलेखो मे भी इसका (अरघट्ट) उल्लेख प्राप्त होता है जिससे यह प्रकट होता है कि इस काल मे सिचाई के क्षेत्र मे तकनीकी प्रभाव बढ रहा था। **आख्यानकमणिकोश** (12 हवीं शताब्दी)[2] मे इनके चलाने वाले मनुष्यो को अरहट्टीय-नर कहा जाता था,। इनको बैल भी चलाते थे।

अरघट्ट, एक रहट था या कि पारसीक चक्र यह विचारणीय प्रश्न है। कुछ विद्वान जैसे-दशरथशर्मा, इरफान हबीब तथा बी० पी० मजूमदार का यह विश्वास था कि अरघट्ट तथा पारसीक चक्र मे कोई समानता नही थी जबकि लल्लन जी गोपाल, **उपमितिभवप्रपञ्चकथा** के एक साक्ष्य के आधार पर दोनो मे समानता स्थापित करते है। डी० सी० सरकार के अनुसार 'अरघट्ट' एक पानी खीचने की मशीन थी। एक कुऑ जिसमे पानी का चक्का लगा होता ता।[3] दशरथ शर्मा[4] का कहना है कि न तो अरघट्ट न ही घटीयन्त्र पारसीक चक्का के समान था। अरघट्ट भारत मे ईसाई युग से पूर्व ही जाना जाता था। उस समय पारसीक[5] चक्का के विषय मे कुछ ज्ञात नहीं था। इरफान हबीब कहते है कि पारसीक चक्के के विषय मे जो प्राचीन भारत मे परिचय प्राप्त होता है वह विशेषत 'रहट' से सबधित था, जो कि सतह से या नदी से पानी खीचने के काम आता था, जिसमे किसी बर्तन को उठाने के लिए जजीर लगे होने का अनुमान नही मिलता है। वास्तव मे इरफान हवीब जिस यन्त्र का उल्लेख कर रहे है उसे नोरिया कहा जाता था वह अरघट्ट से भिन्न था क्यो कि अरघट्ट गहरे जलाशय अथवा कुएँ से

1 समरांगण पृ० 29, 37
2 आख्यानक, पृ० 146, 12 ता पेच्छइ जवछित्ते पविसित गछ्दह चरणलोलं हकितु अरहट्टियनरेश निसुणइ पढिज्ञजेते 112 पृ० 146,
3 सरकार डी० सी० एपि ग्लो० पृ० 26
4 शर्मा दशरथ, 29 सवां सत्र इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस 1967-68 पटना, पृ० 43
5 हबीब इरफान, टेक्नालाजिकल चेंजेस एण्ड सोसाइटी, प्रोसीडिंग आफ द इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस XXXI सेशन 1969

पानी निकालने के लिए प्रयुक्त होता था। उनके अनुसार भारत मे पारसीक चक्र तेरहवी और चौदहवीं श० में बडे पैमाने पर प्रयोग होने लगा था यह अरब समाज मे चारो ओर फैला था। **मृच्छकटिक**[1] तथा **गाथासप्तशती**[2] मे भी इसे रहट के समान बताया है। डा० बी० पी० मजूमदार[3] इस सम्बन्ध मे अपना समर्थन देते हुए कहते है कि भारतीय लोग 600-1200 ई० के मध्य रहट का प्रयोग करते थे। **कुवलयमाला** के आधार पर लल्लन जी गोपाल कहते है कि जन्म-वृद्धावस्था तथा मृत्यु का चक्र अरघट्ट की भाति चलता रहता है जिसमे सौ 'घटिकाएं' होती थी वे एक दूसरे मे पानी भरते थे।[4]

अरघट्ट के अतिरिक्त अन्य प्रचलित सिचाई साधनो जैसे-झील, नदिया, कुए, मशीन वाले कुए, अरहट्ट, सरोवर, नहर इत्यादि का उल्लेख समकालीन ग्रन्थ **अपराजितपृच्छा**[5] में प्राप्त होता है।

प्राचीन समय से राजाओं का यह कर्त्तव्य था कि वे उपजाऊ भूमि के लिए सिचाई की व्यवस्था करे तथा नहर, सरोवर, खुदवाए और अन्य सुविधाए प्रदान करे। इस काल मे कुछ उदाहरण ऐसे भी मिलते हैं जिनमें मत्रियो, सामतो [6] तथा निजी व्यक्तियो द्वारा नहर, सरोवर इत्यादि के निर्माण का विवरण मिलता है। कृषि के लिए सिचाई की पर्याप्त व्यवस्था करना राजा का कर्त्तव्य तथा राजधर्म तो था ही, अन्य व्यक्तियो द्वारा भी इस कार्य मे योगदान देने का तात्पर्य यह हो सकता है कि वे सब पुण्यार्थ भी यह कार्य करते होगे। ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी मे कश्मीर मे राजा हर्ष (1089-1101 ई०) द्वारा पम्पा सरोवर बनवाया गया।[7] **द्वयाश्रयकाव्य**[8] में हेमचन्द्र ने सरोवर का उल्लेख किया है। प्रबन्धचिन्तामणि मे भी इसी प्रकार राजा कर्ण द्वारा सहस्रलिंग सरोवर का निर्माण करवाने का उल्लेख प्राप्त होता है।

चौलुक्य द्वारा विभिन्न निर्माण कार्य किए जाने के साथ ही, कृषि योग्य भूमि दान दिए जाने के भी वर्णन प्राप्त होते है। इनके अतिरिक्त तत्कालीन उत्तर-भारत के अन्य राजवशो के द्वारा भी सिंचाई की व्यवस्था करवाने का विवरण मिलते है। कल्चुरि वश के बहुत से सामतो तथा मत्रियो के द्वारा सरोवर तथा कुए खुदवाए गए परमार वश के **वाक्पतिराज** द्वितीय (मुञ्ज) द्वारा पिप्परिका तडाग का दान, भोज परमार के द्वारा चित्तौड के

1 मृच्छकटिक, X;59
2 गाथासप्तशती V,90; ल० गोपाल पृ० 157-158
3 मजूमदार बी० पी०, इण्डस्ट्रीज एण्ड इंटरनल ट्रेड इन अर्ली मेडीवल नार्दर्न इंडिया पृ० 78
4 गोपाल ल०, 'अरघट्ट'-द परसियन हवील' हिस्ट्री ऑफ एग्रीकल्चर इन एन्श्येट-पृ० 114
5 सोसाइटीएण्ड कल्चर, यादव, पृ० 257 (अपरा० पृ० 188)
6 वही० पृ० 25 (एपि० इडि० IV, 310)
7 राजतरंगिणी विविधाभिरशून्याम्ड विहङ्गमृगजातिमि । तेन व्याप्तदिगाभोग चक्रे पम्पाभिधं सरः
8 द्वयाश्रय XV, 120-121 VII 940

निकट 'भोजसर' का निर्माण करवाया गया।[1] श्री हर्ष ने **'नैषधीयचरित'**[2] (ग्यारहवी-बारहवी) के नायक द्वारा कुए इत्यादि बनवाने का सदर्भ प्राप्त होता है। लक्ष्मीधर ने 'द्वारीबन्ध' एक विशेष प्रकार के जलाशय का उल्लेख किया है। **देशीनाममाला**[3] मे उतूहो (ढालू कुए) तथा उलित्त (ऊँचे कुए) के लिए आया है। इसके अतिरिक्त अन्य शब्द अडो तलआगती, अवडो, अधधू, अयडो प्राप्त होते है, जो कुए के नाम है।[4] इनके अतिरिक्त छोटे तालाब के लिए सूलच्छ, हिरिम्ब तथा तालाब के लिए पालीबधो, दूणाविद, धूमद्धओ शब्द प्रयुक्त हुए है।[5] कुए से पानी निकालने के लिए जो व्यवस्था थी उसमे एक समान्तर लकडी (beam) लगी होती थी जिसके एक सिरे पर पत्थर बधा होता था तथा दूसरी ओर बाल्टी बाध कर उससे पानी निकाला जाता था, इसके लिए वड्डिआ, ठोलिच्छी तथा ढेका शब्द प्रयुक्त हुए है जिसका अर्थ कूपतुला होता है।[6] **अभिधानचिन्तामणि**[7] मे सिचाई के साधनो के लिए शब्द प्राप्त होते है—बावली की दीर्घिका, वापी, छोटे कुए भडकूई, चुरी, चुण्डी, चूतक·, धुरई, घडारी के उद्धारकम्, घटीयन्त्रम् रहट को पादावर्त , अरघट्टक कहते थे। तडाग के पाचनाम पद्माकर तडाग , कासार, सरसी, सर मिलते है। बाध को आधार , झरना को निर्भर झर सरि, उत्स स्रवा प्रस्रवणम् जलाशय को जलाधारः जलाशय कहते थे।

वापी, गुजरात मे अणहिलवाड, वायड तथा लोकेश्वर से कुछ 'वाव' प्राप्त होते है। काठियावाड मे वढवान और धाधलपुर मे भी यह प्राप्त होती है। वाव यह एक प्रकार का कुआ होता है, परन्तु साधारण कुए से एकदम भिन्न होते है। सस्कृत मे इन्हे वापी कहा जाता है। अणहिलवाड मे रानी की वाव[8] सबसे अच्छी वापी थी, किन्तु इसका अब यह अवशेष मात्र ही है। वायड[9] की वाप को सीढीदार कुआ कहते है, जिसमें चार मंजिलें थीं और ये चबूतरे (प्लेटफार्म) के द्वारा अलग की जाती थी, जो कि चार खभो पर टिका होता था। वढवान का कुआं (माधव वाव)[10] तथा अणहिलवाड की बारोत वाव[11] धादलपुर की वाव[12] ये सब वायड की वाव के समान ही

1 एपि० इडि०, 24, पृ० 317
2 एपि० इंडि० IV, 310
3 देशीनाम 1, 94, 89
4 अभिधानचिन्तामणि पृ० 268,159
5 वही VIII, 42; VIII, 69, VI, 45; V, 56; V 63
6 वही० VIII, 36; IV 44; IV, 17
7 अभिधानचिन्तामणि पृ० 268,160
8 वर्गीज ए० एस० डब्ल्यू० आई०, IX पृ० 37
9 बर्गीज, पृ० 112
10 कूजेन, सोमनाथ, पृ० 35
11 बर्गीज, ए० एस० डब्ल्यू० आई० IX पृ० 52
12 कूजन, सोमनाथ पृ० 59

थी परन्तु इनमे कुछ चित्रकारी तथा सजावट की विशेषता थी। ये वापी धार्मिक भावना की प्रतीक थी।

इस प्रकार प्राप्त विवरणो के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उस काल मे राजा तथा अन्य धनी व्यक्तियो द्वारा जलाशय, सरोवर इत्यादि का निर्माण अपनी उदारता तथा प्रजा के कल्याण के लिए था। इसके अलावा राजाओं को इस प्रकार उदारता का कार्य करने से लोकप्रियता भी प्राप्त होती थी। इस काल मे फसल की वृद्धि का कारण कृषि मे तकनीकी विधि का प्रयोग थी। अरघट्ट के प्रयोग से यह निश्चित होता है।

फसल—**प्रबन्धचिन्तामणि** मे विभिन्न प्रकार की फसलो जैसे-चावल, गेहू, दाले-मुद्गग, माश-अनाद, चणक आदि का उल्लेख प्राप्त होता है, इसके समकालीन साहित्य तथा अभिलेखो एव विदेशी विवरणो मे इन फसलो तथा कुछ अन्य के बारे मे विवरण प्राप्त होता है। इनके अतिरिक्त बहुत से तिलहन, पान, सुपारी, फल-फूल इत्यादि का भी वर्णन मिलता है। तत्कालीन अन्य ग्रन्थो मे भी विभिन्न प्रकार के धान्यो का उल्लेख आया है। **त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित**[1] मे भी श्यामक (साँवा-चावल) नीबार (तिन्नी धान्य) वालुक (एक तरह की लकडी), कुवलय केले या बेर), शालि, गेहूँ, चने और मूग आदि अनाज उत्पन्न होने का उल्लेख है। **प्रबन्धकोश**[2] मे भी इसी प्रकार अनेक अनाजो के नाम मिलते है।

प्रबन्धचिन्तामणि[3] मे शालि धान का उल्लेख आया है। उस काल मे चावल प्रमुख भोजन था। **देशीनाममाला** मे हेमचन्द्र ने चावल के लिए कुछ देशी शब्दो का प्रयोग किया है। ये (अ) अणुओ (ब) जोण्णालिआ[4] थे चाउला तथा किविड शब्द भी है। हेमचन्द्र के अनुसार इनका अर्थ जोवारी या धान्य था। इसके अतिरिक्त **द्वयाश्रयकाव्य**[5] तथा **मानसोल्लास**[6] मे भी धान के विभिन्न नाम मिलते है। बगाल मे पचास से अधिक प्रकार के धान पैदा होता था।[7] **राजतरंगिणी** के अनुसार चावल कश्मीर का प्रमुख अनाज था। इस काल मे देश के अन्य भागों में भी

---

1 त्रिषष्ठि० पृ० 33, 200
2 प्रबन्धकोश पृ० 16 गुलसिउं चावइ तिलतोदली वेडिअ वजावइं वासली। पहिरणि ओढणि हुइ कांबली इणपरि ग्वालइपूर्जरुली॥ वही पृ० 17 सर्षपान, पृ० 35-
एरण्ड 85, षष्ठि क तन्दुलोदकेन
3 प्रबन्धचि०, मेरू० पृ० 77; टॉनी 11—
4 इडि० एटी० XIII, 213
5 द्वयाश्रय० 111.4
6 मानसोल्लास 111, 1346-48, 1358
7 टी० सी० दास गुप्ता, पृ० 249-50

धान की खेती की जाती थी। अरब यात्री सुलेमान (851 ई०) ने तत्कालीन भारत के चावल गेहूँ जैसे अन्न की चर्चा की है।[1] **अभिधानचिन्तामणि**[2] मे धान के कई भेद बताए गए है लाल रेग वाले साठी धान, आशु तथा व्रीहि कहलाते थे। साठी धान को गर्भपाकी तथा षष्ठिक/षष्टी कहते थे। कलम (उत्तम जाति के धानो) शालि अच्छे धान या कलमदान धान-कलम , कलामक , ठाकुरभोग कनकजीर बासमती इत्यादि) के नाम है महाशक्ति , सुगन्धिक सॉवा के श्यामक तथा कोदो को उद्दाला, कोद्रव कोदूषक कहते थे। **अभिधानरत्नमाला** मे अनेक धान्यो और उनके पर्यायवाची शब्दो का उल्लेख है। उसमे तीन प्रकार के शालि चावल, कोदो दो प्रकार की सरसो, पीपल, केसर, पियगु, जगली, तिल, नीवार (जगली चावल) और मसूर, मटर, रल्ला[3] और अरहर चार प्रकार की दालों का वर्णन मिलता है। इसी ग्रन्थ मे विभिन्न फसलो को बोने वाले विभिन्न क्षेत्रो का वर्णन मिलता है।[4] इसके अतिरिक्त तिल, सन तथा अन्य शाकभाजी के क्षेत्र भी अलग होते थे।

चौलुक्यो के एक अभिलेख मे गेहूँ, चावल, को द्रव, तिल, मूग उत्पन्न होने का उल्लेख है।[5] **अभिधानचिन्तामणि** मे गेहूँ के गोधूम , सुमन नाम मिलते है।[6] लक्ष्मीधर ने 'गोधूम' के नाम से गेहूँ की व्याख्या की है।[7] गेहूँ की खेती यहा प्राचीन काल से होती थी। गेहूँ के विषय मे पेरीप्लस लिखता है कि प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व गेहूँ सौराष्ट्र मे तथा ब्रोच मे पैदा होता था।[8] अल-इदरीसी (1154 श० ई०) के अनुसार गेहूँ कैम्बे के क्षेत्र मे भी होने लगा था।[9] तथा **लेखपद्धति** (पृ० 21) मे यह वर्णन मिलता है कि ज्येष्ठ के महीने मे गेहूँ की फसल होती थी। इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि गेहूँ की पैदावार गुजरात मे होती थी तथा इसकी लवनी ग्रीष्म ॠतु मे किया जाता था। **देशीनाममाला** मे गेहूँ के सदर्भ मे तबरती (गोधूमेषु कुड्डमच्छाया) शब्द प्रयोग मे आया है। पके गेहूँ के लिए उबी शब्द आया है। 1, 36)

प्रबन्धचिन्तामणि मे चावल तथा गेहूँ के अतिरिक्त चना या चणक का उल्लेख भी हुआ है।[10] **देशीनाममाला**

---

1 इलिएट एण्ड डासन 1, पृ० 15, 16, 124
2 अभिधानचिन्तामणि, पृ० 284-285
3 अभिधानरत्नमाला, 2, 42, 5, 29
4 वही०मुद्गादीना क्षेत्र मौद्गीनं कौद्रवीणमित्यादि। व्रैहेयं शालेयं भवति पुनर्व्रीहिशाल्योर्यत्॥ पृ० 21
5 एपि० इडि०, 33, 1959-60 पृ० 192-198
6 अभिधानचि० पृ० 285,240
7 कृत्यकल्पतरू, नियत० पृ० 393
8 स्टडीज इन द हिस्टारिकल एण्ड कल्चरल ज्योग्रफी एण्ड एथनोलॉजी पेरीप्लस ऑफ,पृ० 39
9 इलियट एण्ड डाउसन185
10 प्रबन्धचिन्तामणि-48

मे इसके लिए देशी शब्द अणुइयो, हिरिमथा, झोडप्पो का प्रयोग हुआ है।[1] **अभिधानचिन्तामणि** मे भी इसको चणक तथा हरिमथक कहा है।[2] इसके अतिरिक्त कुछ दालो जैसे मुद्ग (मूग) तथा माष शब्दो का उल्लेख **प्रबन्धचिन्तामणि** मे हुआ है।[3]

माश धान्य के समान शब्द उडिदो का उल्लेख हेमचन्द्र के **देशीनाममाला** मे किया है।[4] **अभिधानचिन्तामणि** मे उडद को माष मदन, नन्दी, वृष्य बीजवर और बली कहा गया है। हरे रग की मूग के नाम मुद्ग प्रथन लौम्य बलाट, हरित हरि बताए गए है, प्रस्तुत ग्रन्थ मे ही मूसर के मङ्गल्यक, मसूरक, मटर के कलाय सतीनक, हरेणु, खण्डिक नाम मिलते है। मूग के अन्य प्रकार प्रवर वासन्त, हरिमन्थक, शिम्बिजा, वन मूंग-वन मुद्ग, राज मूग-राजमुद्ग, मकुष्ठक, मयुष्ठका कहलाती थी। राजमाष काली उरद या एक प्रकार के गेहूँ को कहते थे।[5] उक्त शब्दकोश मे ही हेमचन्द्र ने सत्रह प्रकार के अनाजो का वर्णन किया है।[6] ये अनाज इस प्रकार है—

(1) व्रीहि—जो चावल बरसात मे होता था। (2) यव-जौ (3) मसूर (4) गोधूम (गेहूँ) (5) मुद्ग (मूग) (6) माष-(कालाचना या उरद) (7) तिल (8) चणक (9) अणव (ज्वार) (10) प्रियगु (इटैलियन ज्वार) (11) कोद्रव (12) मयूष्ठक (13)
शालि—(पावस के समय पैदा होने वाला धान) (14) आधकी (15) कुलत्थ (16) कलाय (17) शण।

सभवत हेमचन्द्र ने यह सूची उस समय गुजरात मे पैदा होने वाली फसलो के आधार पर दी है।

ग्यारहवी शताब्दी के ग्रन्थ **मानसोल्लास**[7] मे रग, गध, आकार, पकने के समय के आधार पर आठ किस्म के चावलो का और सात प्रकार की फलियो का उल्लेख किया है।

इन फसलो के अतिरिक्त अधीतकाल मे गुजरात क्षेत्र मे कुछ नकद फसलो के पैदा होने का उल्लेख मिलता है। **प्रबन्धचिन्तामणि**[8] मे गन्ने के लिए इक्षु शब्द का प्रयोग मिलता है। **देशीनाममाला** मे इगाली, अगालियम्,

---

1 देशीनाम० 1, 21, VIII-60, 111-59
2 अभिधानचि० पृ० 284-85
3 प्रबन्धचि०, मेरू० पृ० 37, टॉनी, 54
4 देशीनाम० 1 98
5 अभिधानचि० पृ० 285,236
6 वही० IV, 233
7 मानसोल्लास० 3, 1346, 48, 1358 है।
8 प्रबन्धचि० मेरू० पृ० 48; टॉनी, 70

गडीरी तथा वाऊ, पाऊ, उच्छू, छिषिआ[1] शब्द का प्रयोग मिलता है। गन्ने के बगीचे को उच्छुअरण[2]कहा जाता था। **त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित** मे हेमचन्द्र ने गन्ने का उल्लेख किया है।[3] राजशेखर ने उत्तर बगाल पुण्ड्रवर्धन में गन्ने का उत्पादन होना लिखा है।[4] गन्ने के अन्य नाम रसाल, असिपत्रक थे।[5]

कपास की उपज भी इस काल मे गुजरात के क्षेत्र मे बहुतायत होती थी। इसकी उपज के विषय में पेरीप्लस मार्कोपोलो-तथा मुस्लिम यात्रियो ने वर्णन किया है। गुजरात के कपास के पेड अपनी ऊचाई के लिए प्रसिद्ध थे।[6] रेशमी के लिए तूलिणी तथा सामरा शब्द मिलता है।[7]

इनके अतिरिक्त तिल, नील, सुपाड़ी, इत्यादि वस्तुओं का उत्पादन भी होता था। गुजरात मे इस काल तक तिल पैदा होती थी।[8] **त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित** मे हेमचन्द्र ने नील का रग उल्लिखित किया है।[9] मार्को-पोलो कहता है कि गुजरात मे बहुत मात्रा मे नील पैदा होती थी।[10] **प्रबन्धचिन्तामणि**[11] मे आम, केला, इत्यादि का भी उल्लेख मिलता है। वर्ष मे चार फसले बोई जाती थी—

(1) 'शारदा' जो फसल शरद ऋतु मे बोई जाती थी।

(2) 'हेमन्त' जो फसल हेमन्त ऋतु मे बोई जाती थी।

(3) 'ग्रैष्मक' जो फसल आश्विन मे बोई जाती थी।[12]

(4) अगहन मे पकने वाली फसल को 'अग्रहायणिक' कहते थे, वसन्त मे पकने वाली फसल 'वासन्त्य', शरद में पकने वाली फसल को 'शारदा', और शिशिर मे पकने वाली को 'शैशिरा' कहते थे।[13]

---

1 देशीनाम, 1, 28, 79, II 82, VII-53, VI-75, 1,85 111, 27
2 देशीनाम० 1-117
3 त्रिषष्ठि० अनुवाद IV, 14
4 काव्य-मिमासा, XII; रामचरित 111, 17
5 अभिधानचि० पृ० 286
6 मार्कोपोलो, ट्रैवेल्स, II, पृ० 393
7 देशीनाम V. 17 VIII, 23
8 पेरीप्लस, 39
9 त्रिषष्ठि०, अनुवाद 111, 30, 156
10 मार्कोपोलो ट्रैवेल्स, 375, 393, 398
11 प्रबन्धचि० मेरू० पृ० 3
12 अभिधानचि० पृ० 6.3.118
13 अभिधानचि०, 6 3.116, 6.3.117

देशीनाममाला मे कतिपय ऐसे धान्यो के नाम दिए है जिनकी पहचान सदिग्ध है। (वरइओ, मेअज्ज, पियमा, अगलिनी, इत्यादि।[1]

खाद—भूमि को उपजाऊ बनाए रखने के लिए खाद देने का ज्ञान होना आवश्यक होता है। **कृषि पराशर**[2] (तिथि अनिश्चित) मे फसल की वृद्धि के लिए खाद देने के महत्व को जानते हुए कहते है कि बिना खाद के धान साधारण रूप से उग तो आएगा परन्तु उसका फल नही प्राप्त होता। **प्रबन्धचिन्तामणि** मे खाद से सम्बन्धित कोई उल्लेख नही प्राप्त होता है। किन्तु कृषि सम्बन्धी अन्य तथ्यो के उल्लेख से स्पष्ट है कि खेतो मे खाद भी दिया जाता रहा होगा। इसके कुछ पूर्व के ग्रन्थ बाण के **हर्षचरित**[3] (सातवी श०) मे यह कहा गया है कि गाय का गोबर तथा कूडे का प्रयोग खाद के रूप मे किया जाता था। एक स्थान पर उन्होने बताया कि किस प्रकार एक कृषक अपनी बैलगाडी मे कूडा तथा गोबर रखकर खेतो मे ले जाता था जो अनुपजाऊ हो गए थे।

बीज—कृषि मे बीज की गुणवत्ता बहुत महत्वपूर्ण होती है। मेरुतुङ्ग आचार्य की **प्रबन्धचिन्तामणि**[4] मे भी एक स्थान पर यह कहा गया है कि जो बीज जल चुका है, वह उगता नही है। कृषि पराशर मे कहा गया है कि यदि बीज उपजाऊ नही है तो दूसरे कारक भी कृषि मे व्यर्थ हो जाते है। बीज ही फसल की जड होती है, इसलिए बीज पर ध्यान देना चाहिए।[5] मेधातिथि कहते है कि यदि बिना पका हुआ बीज बोया जाता है तो वह कृषक का अपराध होता है जो फसल को रोक देता है।[6] कृषि पराशर मे बीज एकत्र करने के तथा सरक्षित रखने के सभी प्रकारो का विस्तार पूर्वक वर्णन किया है।[7]

बीज के गुणो को जानने के साथ ही उसको बोने के तरीके पर भी ध्यान देना आवश्यक होता है।[8] बीज के निश्चित समय पर बोना भी चाहिए। मेधातिथि कहते हैं कि उचित समय पर बीज न बोने से पैदावार पर प्रभाव पडता है।[9] इसके साथ ही कृषक को यह भी जानकारी होनी चाहिए कि किस खेत में कौन सा बीज बोना चाहिए तथा बीज की मात्रा का ज्ञान भी आवश्यक है[10] **वैजयन्ती** मे किस खेत मे द्रोण, आधक, खारि

---

1 देशीनाम० VII, 49, VI, 138, VI, 49, 1, 32
2 कृषि पराशर विना सारेण यद्धान्य वर्धते फल--वर्जित
3 हर्षचरित-पृ० 202
4 प्रबन्धचि० पृ० 82, 1.21 दग्धानामिव बीजानां पुनर्जन्म न विद्यते
5 कृषि पराशर, 166-167, सर्वे ते बन्ध्यतां यान्ति बीजेबन्ध्यत्वभागते। बीजे यत्नमत कुर्याद् बीजमूला· फर्लाश्रय ॥
6 मेधातिथि आन मनु, निदान-अयोग्य-बीज-वाप। VIII, 243-
7 कृषि पराशर, वैशाखे वपनं- - - - - - -जायते कृषि; पृ० 168-81
8 कृषि पराशर, पृ० VI, 126
9 आन मनु, VIII, 243 अकाले वपन
10 वही० इदं बीजमस्मिन् क्षेत्र प्ररोहरतिदमन IX, 330,

इत्यादि बीज की मात्रा बोनी चाहिए इसके सबधित नाम प्राप्त होते है।[1] लल्लन जी गोपाल लिखते हैं कि पहले बीज छीट दिया जाता था फिर हल चलाया जाता था।[2]

खेतो की माप 'काण्ड' के रूप मे की जाती थी। एक काण्ड का क्षेत्रफल 24 x 24 वर्गफुट होता था। जोतने का 'कर्ष' कहते थे। कभी-कभी दो--तीन बार खेत जोते जाते थे।[3] इस प्रकार यह भी निश्चित किया जा सकता था, कि कुछ प्रमुख खेत, कुछ निश्चित फसलो के लिए ही, उपयुक्त होते थे जिनका नाम फसल बोने के बाद रखा जाता था। **देशीनामाला** मे क्षेत्र के लिए वप्पो शब्द आया है।[4]

कृषि-उपकरण—प्रबन्धचिन्तामणि मे कृषि उपकरणो के विषय मे अल्प जानकारी ही प्राप्त होती है। इसमें एक स्थान पर कुदाल का प्रयोग खेत मे बाध बनाने के लिए किया है।[5]हेमचन्द्र के **द्वयाश्रयकाव्य** में लोहे के फाल वाले हल का उल्लेख मिलता है।[6]शब्दकोशो मे हमे कृषि उपकरण के सबध मे विभिन्न शब्द प्राप्त होते है।[7]इनमे मत्य उपकरण का प्रयोग बोए हुए खेत के स्तर को बराबर करने के लिए होता था। कोटिश का प्रयोग पृथ्वी के ढेलो को तोडने मे होता था। खनित्र या अवदारण का प्रयोग साफ करने जोडने मे होता था। मिट्टी हटाने मे गोदारण या कुदाल का प्रयोग मिट्टी हटाने के काम मे होता था जिसका मुख्य भाग अभ्रि या क्षु तथा क्षात्र कहा जाता था। लवित्र या असिद का प्रयोग जिसका (हैडिल) बेंट या बंटक कहलाता था। यह हँसिए की भाँति होता था। हेमचन्द्र के **अभिधानचिन्तामणि** शब्दकोश मे भी कुछ उपकरण सबधी शब्द प्राप्त होते हैं जैसे- हल के फाल के लिए फाल, कृषक फलम् शब्द मिलते है। हँसिया के दात्रम तथा लवित्र कहते थे, हल के नीचे वह काष्ठ जिसमे फार गाडा जाता था। निरीषम्, कुटकम् कहते थे। हँसिए के बेट को वण्टु कहा है।[8]**कृषि पराशर**[9]मे हल के विभिन्न भागो का उल्लेख मिलता है—

ईशा (हलका डण्डा), युग (जुआ), हलस्थाणु (हल), निर्योल (लगान), पाशिकाए (वार) अड्डचल्ल (कील) शौल (मूँठ) पचनी (लगा) दो प्रमुख उपकरण हल और मेदिका बताए है। हल बैलो द्वारा खीचा जाता था। लोहे

1 वैजयन्ती—पृ० 124, 11. 42-43
2 इ० ला०ऑफ ना० ई०, पृ० ३०३
3 शब्दानुशासन 7.2.135
4 देशीनाम० VII, 83
5 प्रबन्धचि०, मेरू० पृ० 108; टॉनी 172
6 द्वयाश्रय XIX. 37.
7 वैजयन्ती, पृ० 125 11.56-60 अभिधानरत्नमाला 577.
8 अभिधानाचिन्तामणि 111 553.-556, पृ० 222
9 कृषि पराशर, ईशायुगहलस्थाणुर्निर्योलस्तस्य पाशिका। अड्डचलश्च शौलश्च पचनी च हलाष्टकम्॥V.112

के फल लगे हल को "शम्ब" कहते थे। इससे गहरी जोताई होती थी।[1] भूमि के विस्तार और आधिक्य के अनुसार खेत जोतने के लिए एक हल, दो हल और तीन हल या इससे अधिक हल भी चलते थे। "परमहल, उत्तम हल, या बहु-हल भी होते थे। एक हल भूमि 1-2/3 एकड के बराबर होती थी। दो हलो की 2-2/3, और तीन हलो की चार एकड के बराबर होती थी।[2] हल मे जोता बैल 'हालिक' या 'सारिक' कहा जाता था।[3] किसान या कर्षक को अहल जिसके पास अपना हल न हो या एक हल की जोत बराबर भूमि न हो,। सुहल- जिनके पास अच्छा हल होता था। (जिनके पास जोतने के लिए पर्याप्त भूमि हो) और 'दुर्हल' जिनका हल पुराना, खराब होता था। कहा जाता था। हालिक हलवाहो के लिए प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार निम्न वर्गीय कर्षको तथा कृषको में भी अनुक्रमनिष्ठता की सूचना मिलती है।

अकाल

प्रबन्धचिन्तामणि मे चौलुक्यराज भीम के काल मे अकाल पडने का उल्लेख है। थेरवली मे भी अकाल का उल्लेख मिलता है। प्रबन्धचिन्तामणि, पुरातन-प्रबन्ध सग्रह[4] मे भी दुर्भिक्ष का वर्णन है। वृहन्नारदीय पुराण (11हवीं श०)[5] मे लिखा है कि दुर्भिक्ष के कारण मनुष्य अपने प्रदेशो को छोडकर उन स्थानो मे चले गये जहाँ गेहूँ और जौ बहुतायत से होते थे। **त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित**[6] मे लिखा है कि दुर्भिक्ष के कराण प्रजा का सर्वनाश हुआ। धनपाल की **तिलकमंजरी**[7] मे भी अकाल का उल्लेख आया है। **अपराजितपृच्छा** मे यह कहा गया है कि राजा को अकाल तथा सूखे से बचने के लिए सिचाई के प्रबन्ध को और सुधारना चाहिए।[8] इसी ग्रन्थ मे यह भी वर्णन मिलता है कि अकाल पीडित क्षेत्र मे धर्म का पतन हो जाता था। कभी-कभी कतिपय शासक अकाल वाले सम्वत्सर का कर माफ कर देते थे। **लेखपद्धति**[9] मे भी दुर्भिक्ष के कारण जो दशा होती है उसका सजीव चित्र विवृत है फिरिश्ता[10] ने लिखा है कि 1033 ई० मे उत्तर भारत मे ऐसा दुर्भिक्ष हुआ कि वहाँ के अनेक निवासी भूख के कारण मर गए।

---

1 शब्दानुशासन 7.2.135
2 वही० 7.2 135
3 वही०, हले वहतीति हालिक,, सैरिक, 7.1 6
4 पु० प्र० स० - पृ० 12,17
5 वृहन्नारदीय, 38,87
6 त्रि०रा०पु०च०, अनुवाद 1, पृ० 33
7 तिलकमंजरी सार पृ० 18
8 अपराजित पृच्छा पृ० 187 श्लोक 24
9 लेख पद्धति पृ० 30 के आगे
10 ब्रिग्स, हिस्ट्री ऑफ द राष्ट्रकूटाज ऑफ मुहम्मडन पावर, 1 पृ० 103

दुर्भिक्ष पडने के अनेक कारण बाताए गए है। वर्षा न होना (सूखा), बाढ तो थे ही किन्तु लालची व्यापारियों तथा निर्दयी शासको के कारण भी खाद्यान्न दुर्लभ हो जाते थे[1]

सामन्तीय व्यवस्था मे अत्यधिक करा-भार की स्थिति मे अकाल या दुर्भिक्ष की स्थिति ने कर्षकों, कृषको एव अन्य निम्नवर्गीय लोगो को अत्यन्त विपन्न बना दिया । इस काल की स्थिति के विपरीत प्रभाव-निवारण के लिए अत्यधिक जलाशयो, सरोवरो, वापी एव कूपो का निर्माण कराना आवश्यक था। एतत् कालीन शासको द्वारा इन जलाशयो के निर्माण के बहुश प्रमाणो का उल्लेख है।[2]

कृषि कर्मकर तथा कर्षक

प्रबन्धचिन्तामणि मे खेतो मे काम करने के लिए कृषि-कर्मकर रखने के उल्लेख मिलते हैं।[3]इस ग्रन्थ में इनके विवरण खेतो की पक्षियो तथा अन्य परेशानियो से सुरक्षा करने, खेतो मे बाँध बनाने तथा सिंचाई करने के सम्बन्ध में प्राप्त होते है।

मनु के अनुसार कृषि वैश्यो का कार्य था। लेकिन ग्यारहवी-बारहवीं शताब्दी मे बहुत से वैश्येतर जातियों के लोग भी यह कार्य करने लगे थे। ब्राह्मणो ने भी अपनी जीविका का साधन कृषि को बनाया था और शूद्र भी कृषि करने लगे थे। जिससे उनके लौकिक सामाजिक स्तर मे वृद्धि हुई मेघातिथि के अनुसार कुओं से पानी निकालकर जलाशय मे एकत्र करते थे तथा फिर खेतो मे मेड बनाकर एक खेत से दूसरे खेत मे पानी भरने का कार्य यही कर्मकर करते थे। खेतो मे सुरक्षा के लिए कटीले पेड (झाड) लगाने के कार्य भी यही कर्मकर करते थे। इस प्रकार खेतो मे काम करने के लिए अनेक कृषि कर्मकरो को रखा जाता था। **देशीनाममाला** में हल चलाने वाले को माइल्लो और दोअणो कहा जाता था। किराए के कर्मकरो को पडिअतओ गन्ने के लिए काम करने को तूओ (इक्षुकर्मकर) कहते थे।[4]

इसके अतिरिक्त किसान के लिए अनेक शब्द व्यवहरित थे जैसे- (कदुम्बी) कर्षक, क्षेत्री, हली, कृषिबल अथवा 'क्षेत्रजीव , सीरस्त आदि।[5]कर्मकर ही बीज को प्राय क्षेत्र में छीटकर बोते थे। फसल पक जाने पर वे

1 अपराजित, पृ० 187,27
2 उपरोक्त, पृ० सं०
3 प्रबन्धचिन्तामणि, मेरु पृ० 77,56,108,टॉनी 117. 82,172,
4 देशीनाम, vi-104, v-50,vi,32,v16
5 शब्दानुशासन, 7.3.76.,अभिधानचि० - - -

कटनी, लवणी करते थे। फसल काटने वाले को वे लोग 'लूनक' कहते थे। खलिहान मे लाने के बाद फसल की मडनी करते थे और तत्पश्चात 'निकार' करते थे।[1]इस काल मे साधारण कृषक के स्तर मे गिरावट देखने को मिलती है। इस समय राजाओं के अधिकार मे वृद्धि, सामतवाद को बढावा, भूमि पर कुलीन व्यक्तियो के अधिकार बढने से किसानो के अधिकारो मे कमी हुई थी। चौलुक्य राजा भीमदेव के अभिलेख मे तीन व्यक्तियो (कृषको) को दान देने का उल्लेख मिलता है।[2]कुछ क्षेत्रो मे राजाओं तथा अधिकारियो का दबाव बढ रहा था। अकाल के कारण आर्थिक स्थिति विगड रही थी तथा कभी सैनिको के द्वारा खेतो की फसले नष्ट हो जाती थीं। इस काल के विधिवेत्ताओं ने लिखा है कि भूमि कभी-कभी पट्टे पर भी दी जाती थी।[3]**आख्यानक मणिकोश** में बारहवी शताब्दी मे गुजरात राजस्थान मे पाए जाने वाले कृषि-कर्मकरो के प्रकार को गिनाया गया है। जो अरघट्ट खीचने का कार्य करते थे, उन्हे अरहट्टीय नर कहा जाता था।[4]

बी० एन० एस० यादव[5]ने कर्षक का अर्थ हलवाहा बताया है जो कि छोटे किसानो के लिए एक जातिगत शब्द बन गया, जिसमे न केवल शूद्र, आश्रित किसान तथा कृषि-कर्मकर, आते थे बल्कि उसमे वे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य भी आते थे जो हल चलाते थे[6]इस प्रकार कर्षको मे सभी वर्णों के लोग सम्मिलित होने लगे थे, जिससे उनके लौकिक समाजार्थिक स्तर बहुत निम्न नही रहा होगा। यद्यपि कर्षक वर्ग मे चारो वर्णों के लोग थे तथापि इसको किसी वर्ण मे सम्मिलित करना असंभव था। इसलिए वर्ण- व्यवस्था मे कुछ शूद्रो की सामाजिक-आर्थिक स्थिति मे ऊर्ध्वमुखी प्रगति तो हुई परन्तु कर्षको को शूद्रो से भी निम्न स्तर का माना गया। लेकिन समाजार्थिक रूप से उनका एक स्थान बन गया था। अधीतकाल मे खेतो मे कृषि कार्य करने वालों को वेतन के रुप, में उपज का कुछ भाग, दिया जाता था। देवणभट्ट ने अपनी कृति **स्मृतिचंद्रिका** मे यह स्पष्ट किया है कि उपज का दसवाँ भाग साधारण रुप से बिना श्रम के फसल होने पर देना चाहिए तथा उसे अपने स्वामी से भोजन और कपडा मिलना चाहिए। उक्त स्थिति के अभाव मे उसे उपज का तीसरा हिस्सा देना चाहिए।[7]मेधातिथि का यह कथन है कि प्रतिमास अनाज के सार का एक द्रोण और प्रत्येक छ महीने पर वस्त्र, एक साधारण श्रमिक को पारिश्रमिक के रूप मे प्रदान किया जाना चाहिए। सम्मार्जन, शोधक, इत्यादि कार्य मे नियोजित करने पर भक्तार्थ एक पण प्रतिमाह होना चाहिए।

---

1 शब्दानुशासन 7 2 136; सेकार
2 इंडि. एंटी० XI, पृ० 337
3 द आर्टीकल ऑफ द आथर इन लैड सिस्टम एण्ड फ्यूडलिज्म इन इंडिया- डी० सी० सरकार
4 वही०
5 यादव, प्रावलम ऑफ इन्टेरेक्शन- 'आई० सी० एच० आर० IIIन० 1, पृ० 77
6 यादव, सोसाइटी एण्ड कल्चर-पृ० 260
7 स्मृति चंदिका, 2.20

कृषक - सामान्यत अधीतकाल मे कृषको के कई वर्ग हो गए थे। जिनके पास अपने खेत होते थे व बडे कृषक होते थे। कुछ लोग दूसरो से खेती करवाते थे या जमीदारी प्रथा जैसी व्यवस्था के अन्तर्गत आते थे खेती करने के बदले मे उन्हे कुछ परिश्रमिक दिया जाता था। एक वर्ग साधरण किसानो का भी होता था, जिनके पास कुछ अपनी भूमि होती थी और जिसपर वे स्वय खेती करते थे। एक अन्य वर्ग कर्षको का था, जिनके पास एक हल की जोत बराबर भूमि होती थी, उन्हे अहल का जाता था, जिनके पास ज्यादा भूमि होती थी उन्हे सुहल और, जिनके पास बिल्कुल भूमि नही थी उन्हे दुर्हल कहा जाता था।

बेगार - प्राचीन काल से ही बेगार की प्रथा का प्रचलन रहा है, जिसमे श्रमिक न तो दासो की भाति पूर्णतया परतन्त्र होता है और न स्वतन्त्र श्रमिको की तरह पूर्णतया स्वतन्त्रता विभिन्न स्रोतो मे इसके लिए विष्टि शब्द का प्रयोग किया गया है। ए० एस० अल्तेकर[1] के अनुसार प्रत्येक नागरिक को राज्य द्वारा सुरक्षा प्रदान करने के बदले मे कुछ कर, नकद या जिन्स के रूप मे देना होता था। गरीब व्यक्ति जो कर नही दे सकते थे उन्हें राज्य के लिए श्रम के रूप मे कुछ कार्य करना होता था।[2] मनु के अनुसार शिल्पियो तथा दासो को राज्य के लिए महीने मे एक दिन कार्य करना चाहिए। इन श्रमिको से कार्य लेने के लिए राज्य अधिकारी होते थे, जो कभी-कभी इन पर अत्याचार भी करते थे। कुल्लूकभट्ट ने कहा है कि शासक को अपने बुरे दिनों मे भी शूद्रों पर कर नही लगाना चाहिए।[3] शासक ही विष्टि का उपभोग नही करता था, बल्कि सामन्त तथा दानग्रहीता भी इसका उपभोग किया करते थे। क्योकि दानग्रहीता को अन्य करो के साथ-साथ कर्मकारो तथा शिल्पियों से 'विष्टि' लेने का भी अधिकार दिया गया । प्राय बेगार या विष्टि का प्रयोग कृषि-कार्य मे होता था।, किन्तु विवेच्य काल मे यह स्थिति परोक्ष रूप से इस युग की आर्थिक सम्पन्नता, विशेषत., मौद्रिक स्थिति, का द्योतन करती है। पूर्वमध्यकाल एव अधीतकाल मे बेगार श्रम का उपयोग कृषि कार्यों के लिए अधिक दिखाई देता है। क्यों कि दानग्रहीताओं को जो भूमि दान दी जाती थी उन पर तथा राजकीय क्षेत्रो मे फसले उगाने के लिए इस श्रम का उपयोग किया जाता था। इस प्रकार बेगार श्रम की परम्परा अधीतकाल मे अनवरत चल रही थी, उसका स्वरूप परिस्थितयो के अनुसार अवश्य बदलता रहा।[4]

---

1 अल्तेकर ए० एस०, राष्ट्रकूटाज एण्ड देअर टाइम्स पृ० 321

2 मनु शिल्पमात्रोपजीविनस्तान्मासं मासमेकमहः कर्म कारयेत्8.138

3 कुल्लूक, मनु. शूदाः, कारव. सूपकारादथ', शिल्पिवनः तदादयः, कर्मणैवोपकुर्वन्ति न तु तेम्य आपद्यपि करों ग्राह्य:। 10,120

4 शुक्ल० डी० एन०, उत्तर भारत की राजस्व-व्यवस्था, पृ० 155

इस प्रकार **प्रबन्धचिन्तामणि** के काल मे अथवा ग्यारहवी-बारहवी शताब्दी मे कृषको एव अन्य कर्मकरो की स्थिति मे सुधारात्मक दृष्टिकोण दिखाई पडता है। इस काल मे वेतनभोगी कर्मकर ही अधिक प्राप्त होते हैं। शिल्प-उद्योग-धधो एव व्यापार मे उत्तरोत्तर वृद्धि के कारण इस युग मे कर्मकरो की स्थिति अपेक्षाकृत सुधरी थी।

पचम अध्याय

व्यापार तथा वाणिज्य

व्यापार तथा वाणिज्य

किसी देश की उन्नति तथा अवनति का अनुमान वहा की आर्थिक स्थिति के आधार पर लगाया जाता है। आर्थिक स्थिति के विभिन्न पहलुओं मे कृषि, उद्योग के अतिरिक्त व्यापार तथा वाणिज्य भी है परिगणित किया जाता है।

गुप्तकाल के बाद से पूर्वमध्यकाल के पूर्वार्द्ध (600-900 A D) मे व्यापारिक स्थिति मे गिरावट परिलक्षित होती है। इसी काल मे पश्चिम भारत मे हूणो तथा अरबो के आक्रमण, समुद्री-लुटेरो का उपद्रवजन्य भय, राजनीतिक अस्थिरता, केन्द्रीय सत्ता का दुर्बल होना, सामंतीय युद्धो मे वृद्धि, सिक्कों की कमी, नगरो का पतन, इत्यादि के कारण आन्तरिक तथा विदेशी, दोनो ही व्यापार-वाणिज्य प्रभावित हुए।[1] किन्तु ग्यारहवी-बारहवी शताब्दी ईस्वी मे व्यापार तथा वाणिज्य के स्तर मे अपेक्षाकृत वृद्धि हुई। इस कथन की पुष्टि तत्कालीन विभिन्न साहित्यिक तथा अभिलेखिक स्रोतो से होती है।

प्रबन्धचिन्तामणि तथा अन्य समकालीन साहित्यिक ग्रन्थो एव अभिलेखो मे व्यापार सम्बन्धी विभिन्न प्रकार के प्रसग उपलब्ध होते है यथा व्यापारिक-मार्ग, यातायात के साधन, बाजार, नगर, बन्दरगाह, वजन, माप, प्रणाली, सघटित जीवन, व्यापारिक कर, व्यापारियो की विभिन्न कोटि, विनिमय, इत्यादि।

आन्तरिक व्यापार—प्रबन्धचिन्तामणि मे विवृत विभिन्न सन्दर्भों से यह ज्ञात होता है कि इस समय आन्तरिक व्यापार की स्थिति सन्तोषजनक थी। अन्य साहित्यिक तथा अभिलेखिक साक्ष्य भी यही द्योतित करते है कि ग्यारहवीं बारहवी शताब्दी मे अन्तर्राज्यीय व्यापार का स्वरूप व्यापक था। **प्रबन्धचिन्तामणि** मे एक स्थान पर यह प्रसगित है कि विक्रमार्क (विक्रमादित्य) के राज्यकाल मे दूसरे राज्यो से व्यापारी एव यात्री आकर अवन्ति-देश के अतिथि-गृहों मे ठहरते थे।[2] व्यापारी राजा को उपहार भी भेट करते थे।[3] एक अन्य स्थल पर यह भी विवृत है कि व्यापारियों की सुविधा हेतु मार्ग मे सत्रागारों इत्यादि भी निर्मित कराये जाते थे। वीरधवल के मन्त्री तेजपाल ने बहुत से जल सभर (Watersheds) बनवाये थे। सुदूर देशो के व्यापार मे अधिक धनार्जन की सभावना होती थी। हेमचन्द्र की **त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित**[4] मे विवृत्त है कि दो व्यापारी मित्र अधिक धन अर्जित करने की इच्छा से बैलगाडियो मे

---

1 यादव बी० एन० एस० सोसाइटी एण्ड कल्चर पृ० 270 भारतीय सामन्तवाद, इत्यादि
2 प्रबन्धचि० मेरू पृ० 106; टॉनी पृ० 169
3 वही० पृ० 5
4 त्रि० श० पु० च० III, पृ० 280

विभिन्न प्रकार का सौदा भरकर अनेक ग्रामो, नगरो, प्रधान-ग्रामो इत्यादि स्थानो पर भ्रमण करते थे। **प्रबन्धकोश** मे गौड देश से धवलक्कड (धोलक) आने वाले हरिहर नामक एक व्यक्ति का उल्लेख है जो अपने साथ 50 ऊँट, 200 घोडे और 500 व्यक्ति लाया था।[1]

सुदूर स्थानो के व्यापारी वहा के राजा को बहुमूल्य उपहार देते थे तथा राज्य मे व्यापार करने की अनुमति प्राप्त करते थे। नाडोल शिलालेख (1141 ई०) के अनुसार नाडोल तथा अणहिलपुर के व्यापारियो के पारस्परिक सम्पर्क थे।

राजमार्ग या सडके—व्यापारिक मार्ग एक राज्य को दूसरे राज्यो से जोडने का प्रमुख साधन थे। **प्रबन्धचिन्तामणि** मे भी ऐसे मार्गों का उल्लेख हुआ है। राजा सिद्धराज ने जूनागढ के चूडासम के साथ युद्ध के लिए जाते हुए वधवन से जूनागढ तक के लिए एक मार्ग निर्मित करवाया था।[2] आलोच्य ग्रन्थ मे मार्गों की दूरी मापने के लिए योजन[3] शब्द प्रस्तुत किया गया है।[4] **द्वयाश्रयकाव्य के** अनुसार राजा सिद्धराज ने मालवा जाते समय बहुत से पर्वतो के शीर्ष को तोडकर समतल सडक बनवाई[5] जो बाद मे गुजरात तथा मध्य भारत के लिए प्रमुख मार्ग बन गयी। कुमारपाल ने शत्रुञ्जय की तीर्थयात्रा पर आते समय अपने मन्त्री वाग्भट्ट के निवेदन पर अणहिलपुर से लेकर शत्रुञ्जय पर्वत तक रथ्या बनवाने मे प्रभूत धन व्यय किया।[6] **समराङ्गणसूत्रधार धार**[7] में नगर-विन्यास अध्याय मे विभिन्न प्रकार की रथ्याओं का उल्लेख मिलता है। इसमे सदेह नही कि गॉवो मे नगरो की अपेक्षा सुनियोजित सडके बहुत कम थी।

तत्कालीन शब्दकोशो मे सडक, अर्धगामी रथ्या, वृहद्रथ्या, लघुरथ्या, तिग्ग, चौग्ग, दुग्ग इत्यादि **बहुश** शब्द मिलते है।[8] हेमचन्द्र के **देशीनाममाला** मे रथ्या भारवाही-यान (a carriage-street) या लघुरथ्या, लघु भार-वाहीयान (a small-carriage street) शब्द प्राप्त होते है।[9] समकालीन अभिलेखो मे ग्राम की सडकों तथा

---

1 प्रबन्धकोश, पृ० 58
2 प्रबन्धचि० टॉनी पृ० 95
3 दशकुमारचरित-चार कोस या आठ मील का एक योजन होता है। पृ० 10
4 प्रबन्धचि० मेरू० पृ० 33, 58, 59; टॉनी 48, 83, 85
5 द्वयाश्रय (अनु०) इंडियन एंटी IV पृ० 266
6 रासमाला पृ० 152-53
7 समरांगण 1 6-14 पृ० 39
8 वैजयन्ती पृ० 160. 11. 31-33, अभिधानरत्नमाला 289
9 देशीनाम० 1 145; 111 31; IV 8; VI 39; VII 55, VIII. 6.

राजमार्गों से उनके सम्पर्क के विषय मे उल्लेख है। विदेशी विवरणो मे अल्बेरुनी तथा अल-इदरीसी लिखते हैं कि उस समय (11हवी-12हवीशताब्दी) मे देश के विभिन्न राजनीतिक तथा व्यापारिक केन्द्र (सडकों) व्यापारिक मार्गों से परस्पर जुडे थे। अलबेरूनी[1] ने पन्द्रह मार्गों का उल्लेख किया है जो कि कनौज, मथुरा, अणहिलवाड, धारा, बदि तथा बयाना से प्रारम्भ होते थे। बयाना से अणहिलवाड होकर दक्षिण पश्चिम को एक मार्ग जाता था। जो बयाना से 60 मील दूर पडता था, एक मार्ग बयाना से सोमनाथ समुद्र-तट तक जाता था। अणहिलवाड से दक्षिण की ओर लाटदेश (Latrdesh) दक्षिण गुजरात होते हुए बिरोज (Bihroj) तथा रिजूर (Rihanjur) तक एक मार्ग जाता था।

बयाना से पश्चिम की ओर मुल्तान तक एक अन्य मार्ग[2] जाता था। बयाना से शुरू होने वाला मार्ग मारवाड के मरुस्थल से होकर भाटी होते हुए लाहोरी पोर्ट या आधुनिक कराची तक जाता था। एक और मार्ग बयाना से धारा, उज्जैन होते हुए जाता था।[3]

एक मार्ग धारा से प्रारम्भ होकर भूमिहर जाता था। यही से एक मार्ग दक्षिण की ओर नम्मया, घाटी, (नर्मदा घाटी) तथा मरट्ठदेश होते हुए सुदूर दक्षिण तक जाता था।[4] एक मार्ग कश्मीर से प्रारंभ होकर मथुरा, कन्नौज, प्रयाग, बनारस, धारा, अणहिलवाड और सोमनाथ तक जाता था। इसी मार्ग से होकर कश्मीर का विद्वान बिल्हण रामेश्वरम् तक गया था।

सडको की स्थिति उस युग मे बहुत अच्छी नही थी। वर्षा ऋतु मे ये मार्ग दुर्गम हो जाते थे। **त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित**[5] मे उल्लिखित 'धन' नामक व्यापारी के सार्थ को ऐसी ही समस्या का सामना करना पड था। वर्षा के कारण चारो तरफ सडके कीचडयुक्त हो गयी और आवागमन बहुत कठिन हो गया था।

व्यापारियो को दुर्गम मार्ग की कठिनाईयो के अतिरिक्त, डाकुओं, लुटेरों तथा जगली जातियो एवं हिंसक पशुओं का भी सामना करना पडता था। मेरुतुङ्गकृत **प्रबन्धचिन्तामणि** मे यह प्रसगित है कि एक बार चौलुक्यराज सिद्धराज मालवा से लौट रहा था तो मार्ग म भीलो की सेना ने उसे रोक लिया। येन-केन प्रकारेण वह सुरक्षित वापस आया।[6] इससे यह प्रतीत होता है कि कुछ शक्तिशाली जगली जातियां मार्ग मे सार्थ को लूट लेती थीं।[7]

1 साचऊ भाग I, पृ० 200
2 वही० पृ० 316-17
3 सार्थवाह पृ० 25
4 साचऊ पृ० 203
5 त्रि० श० पु० च० 1, पृ० 13-15
6 प्रबन्धचि० टॉनी पृ० 114
7 राजस्थान थ्रू द एजेज-दशरथ शर्मा, पृ० 401-2 ए

पेशेवर डाकुओं के अतिरिक्त कुछ सामन्त और ग्रामपति भी थे। वस्तुपालचरित मे एक माण्डलिक सामत घुघुल (Ghughul) द्वारा व्यापारियो के एक सार्थ को जो गुजरात से मालवा जा रहा था, को लूटने का उल्लेख मिलता है।[1] **त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित** मे रात्रि मे एक नदी के किनारे पर ग्राम प्रमुख द्वारा सार्थवाह को लूटना विवृत्त है।[2] **द्वयाश्रयकाव्य** मे गृहरिपु, जो सौराष्ट्र देश का स्वामी था, मूलराज प्रथम द्वारा हटाए जाने के बाद वामनास्थली मे रहता था। वह प्रभासपत्तन (सोमनाथ) जाने वाले तीर्थयात्रियो तथा अन्य व्यक्तियो को भी लूटता था।[3] वनराज जो अणहिलपुर का सस्थापक था, डाकुओं का सरदार माना जाता था तथा सौराष्ट उत्तर गुजरात से जाने वाले कल्याण के व्यापारियो को लूटता था।[4] दशरथ शर्मा[5] के अनुसार **पुरातनप्रबन्धसंग्रह मे** तथा **नैन्सी-ख्यात मे** लक्ष्मण द्वारा कुछ सार्थों के लुटने का आख्यान है। उसकी इस क्रिया का प्रसार मेवाड तथा गुजरात तक बढना भी प्रसगित है। **स्थविरावलीचरित** (ग्यारहवी-बारहवी शताब्दी)[6] मे भी एक व्यापारी तथा सार्थ को लूटने का उल्लेख मिलता है।

इस प्रकार लूट के भय से तथा मार्ग के सकटो से व्यापारी भयभीत एव त्रस्त थे। परिणाम स्वरूप पश्चिम भारत के कतिपय राजाओं ने सुरक्षा-व्यवस्था के नवीन कार्यक्रम अपनाए जिससे व्यापारियो की इन समस्याओं का निदान हो सका। **लेखपद्धति**[7] मे प्राप्त 'जलपथ-करण शब्द से यह ज्ञात होता है कि चौलुक्य राजाओं ने राज्य मे एक पृथक जल परिवहन विभाग की व्यवस्था की थी। यशोवर्मन के मालवा अभिलेख[8] मे 'मार्गपति' (जो सीमा शुल्क वसूल करता) तथा **मानसोल्लास** मे 'मार्गाधिकरण[9] नामक अधिकारी (जो राजमार्गों के कार्यालय का प्रमुख होता था) का उल्लेख यह इगित करता है कि चौलुक्य राजाओं ने राज्य मे सडको के रख रखाव के लिये विभिन्न अधिकारियो की नियुक्ति की थी। इनके अतिरिक्त स्थानीय निवासियो तथा भूमि अनुदान देने वाले लोगों को भी चौलुक्य राजाओं ने यह आदेश दिया था कि उनके क्षेत्र से गुजरने वाले यात्रियों तथा व्यापारियों को उनकी आवश्यकतानुसार धन तथा जनशक्ति उपलब्ध कराए। इस तथ्य की पुष्टि अभिलेखिक साक्ष्यो से भी होती है।[10]

---

1 वस्तुपालचरित पृ० 100
2 त्रि० श० पु० च० पृ० 111
3 द्वयाश्रय०, इडि, एंटी, VI पृ० 73-74
4 रासमाला पृ० 29
5 अर्ली चौहान डाइनेस्टीज पृ० 121
6 स्थविरावली 11, 191, 92, 93, पृ० 62
7 ले० प० पृ० 48
8 एपि इंडि० XX. पृ० 41
9 मानसो० II, (श्लो० 1213 पृ० 104,
10 एपि० इंडि० XI, पृ० 37; इंडि० एंटी; VI नं० 10 पृ० 210; पूना ओरिएंटल, VIII पृ० 69

इस प्रकार पश्चिमी भारत मे 11हवी तथा 13हवी शताब्दी मे चौलुक्य राजाओं ने कतिपय विशेष व्यापारिक सुविधाए प्रदान की।

यातायात के साधन—'**युक्तिकल्पतरू**' मे भोज परमार ने विभिन्न श्रेणियो मे यातायात के साधनो को वर्गीकृत किया है, जैसे चतुष्पद (हाथी, घोडे, खच्चर, बैल, भैसे इत्यादि), द्विपद (मनुष्य) तथा छोटी बैलगाडिया, रथ, नाव इत्यादि।[1] पश्चिम भारत से प्राप्त समकालीन अभिलेखो मे राज्य द्वारा भारवाही गाडियो, ऊँटो, बैलो, मनुष्यो पर करारोपण भी यातायात के साधनो पर परोक्ष रूप से प्रकाश डालते है। **लेखपद्धति** मे विभिन्न प्रकार की गाडियों लागडि, चकडा तथा पाटगहा इत्यादि नाम मिलते है।[2] **त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित** के अनुसार 'धन नामक व्यापारी के काफिले मे ऊँटो, बैलो, भैसो, खच्चर तथा गधो पर भारवहन करना विवृत्त है।[3]

अधीतकाल मे पश्चिमी भारत मे यातायात के साधनों के रूप मे बैल, भैस ऊँट तथा गाडियो के अतिरिक्त नावो का प्रयोग भी बहुतायत से होने लाया था। नावो के माध्यम से सामान एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजने की सुविधा थी, जिनका प्रयोग जलमार्ग द्वारा आन्तरिक व्यापार हेतु होता था। **पृथ्वीराज रासो** से ज्ञात होता है कि चौलुक्य राजा भीम द्वितीय के पास बहुत बडी सख्या मे नावे थी। जो सिन्ध से तटीय व्यापार करने में प्रयुक्त होती थी।[4]

व्यापारी अपने भार-वहन हेतु भृत्यकर्मकरो को नियोजित करते थे। व्यापारिक कार्यों के लिए सवारियों, भृतिजीविनकर्मकरो, भृतको, भृति सम्बन्धी नियमो का उल्लेख विज्ञानेश्वर, कुल्लूक, अपरार्क देवण्णभट्ट आदि के विधिग्रन्थो मे मिलता है। यदि कोई व्यापारी व्यापार हेतु किसी श्रमिक या जानवर को किराए पर लेता था और किसी कारण से उनका प्रयोग नही करता था तो उसे उसके मालिक को एक चौथाई भाग, तय किए गए भाडे का, देना पडता था।[5] इसी प्रकार यदि आधे मार्ग मे ही यदि वह उन सवारियो को छोड देता था तो भी उसे पूरा भाडा भुगतान करना पडता था।[6] यदि किसी भारवाहक से व्यापारिक सामान को कोई क्षति होती थी या किसी कारण वह अपनी कार्य पूर्ण नही करता था तो उसकी क्षतिपूर्ति भारवाहक को करनी पडती थी।

---

1 एश्येट एकाउन्ट्स आफ इंडिया एण्ड चाइना बाई टू मोहम्मडन ट्रैवेलर्स, पृ० 87
2 ले० प०, पृ० 48
3 त्रि० श० पु० च०, I पृ० 12
4 रासमाला, पृ० 161
5 याज्ञ-स्मृ० II, 97
6 कुल्लूक आन मनु० चक्रवृद्धिशब्देनात्र चक्रवच्छकटादिभार-रूपा वृद्धिरभिमता VIII, 156

हट्ट या पण्यशाला—(बाजार एवं दुकानें)

अधीतकाल मे जीवनोपयोगी आवश्यक पण्यो के क्रय-विक्रय हेतु बाजार होते थे। यद्यपि **प्रबन्धचिन्तामणि** मे बाजारो से सम्बन्धित सजीव चित्रण नही उपलब्ध होता तथापि उनका सकेत अवश्य है। एततकालीन अन्य साहित्यिक ग्रन्थो तथा अभिलेखो से क्रयाण-स्थल विषयक प्रभूत साक्ष्य मिलते है। **प्रबन्धचिन्तामणि**[1] के उस विवरण से बाजारो के होने का सकेत मिलता है, जिसमे राजा भोज के नगर के बाजारो को दीपमान करने की आज्ञा की पूर्ति मे तुन्नवाय तथा एक तैलिक द्वारा अप्रसन्नता वश बाधाएँ उत्पन्न किया जाना प्रसगित है। **अभिधानचिन्तामणि** मे दूकानो के लिए पण्यशाला, निषद्या, अट्ट, हट्ट, विपणि, आपण शब्द बताए है।[2] उक्त ग्रन्थ में ही बाजार के अधिकारी को हट्टाध्यक्ष तथा अधिकर्मिक बताया गया है।[3] **कथासरित्सागर** मे पुण्ड्रवर्धन स्थान के बाजार में पक्तिबद्ध पण्यशाला का उल्लेख है।[4] **लेखपद्धति** में 'नाडियक' या अनाडियक शब्द का उल्लेख हुआ है जिसका तात्पर्य उस स्थान से है जहाँ पर बैलगाडियो से सामान उतारा जाता था।[5]

तिमैन अनुदान पत्र (1207 ई०) मे काम्बलौलि तथा फूलसार ग्राम्रो के प्रत्येक दूकानों से एक-एक द्रम्म मन्दिरो को देय था।[6] वीसलदेव के कडि अनुदान लेख (1260 ई०) के अनुसार मण्डली ग्राम में बारह दूकानों के आठ नए (अपूर्व) ब्राह्मणो को खिलाने के लिए पथक प्राप्त होता था।।[7] परमार नरेश यशोवर्मन के कालवन ताम्रपत्र से यह ज्ञात होता है कि औद्रहादि विषय मे चौदह दुकाने (वणिक हट्ट) थीं।[8] इसी प्रकार नगरों के बाजारों के विवरण भी प्राप्त होते है। जिनमडन के **कुमारपालचरित** में अणहिलवाड नगर के 84 प्रकार के बाजारो का उल्लेख मिलता है।[9] वहा विभिन्न पण्यो के लिए पृथक-पृथक पण्य वीथियाँ होती थीं। हाथीदात, सिल्क, हीरे, जवाहरात इत्यादि तथा सोने के सिक्के बनाने की टकसाल भी थी। एक स्थान पर नाविकों द्वारा लाई वस्तुओं का व्यापार होता था। इनके अतिरिक्त चिकित्सको शिल्पियो, स्वर्णकार की पृथक-पृथक वीथिया थीं। प्रत्येक विक्रेय

1 प्रबन्धचि० मेरू पृ० 45
2 अभिधानचि० पृ० 247, 68
3 वही० पृ० 178
4 कथासरि II. पृ० 86
5 ले० प० पृ० 16
6 इंडि० एंटी० XI, पृ० 338, II, II-16
7 वही० VI न : II पृ० 211 प्ले II, 1:2; I, 1.14 (अपूर्व जिनको पहले न खिलाया गया हो।
8 एपि० इंडि० XIX, नं० 10, 11. 22.23
9 ट्रैवेल इन वेस्टर्न इंडिया, टॉप, पृ० 156; रासमाला पृ० 191

की पृथक मण्डवी होती थी, वहाँ प्रावेश्य निष्काम्य (आयात-निर्यात) देय होता था। यह सार्वजनिक वाणिज्य का स्थान था। **कथाकोशप्रकरण** मे भी मिष्ठान्न, मदिरा, वस्त्र, इत्यादि के अलग-अलग बाजार होने का विवरण मिलता है।[1] **कीर्तिकौमुदी** मे यह उल्लेख है कि वस्तुपाल कैम्बे के बाजार मे मिलावट की जाच करता है।[2] मिलावट की प्रक्रिया प्राचीनकाल से ही प्रचलित थी। बेईमान व्यापारी लाभ के लिए मिलावट करते थे। **अर्थशास्त्र** तथा धर्मशास्त्रकारो ने मिलावट के लिए दण्ड का विधान किया था वस्तुपाल ने भी वस्तुओं मे मिलावट रोकने का प्रयास किया इस आधार पर वी० के० जैन ने यह कहा है कि सभवत भिन्न-भिन्न वस्तुओं के लिए पृथक-पृथक दूकाने बनायी गई थी। दसवी शताब्दी के सियादोणि अभिलेख से ज्ञात होता है कि दोसीहट्ट (वस्त्र-बाजार), प्रसन्न हट्ट (मदिरा बाजार) चतुष्क हट्ट (चौराहे की दूकाने) महत्तकहट्ट (प्रमुख बाजार) इत्यादि बहुत से बाजार होते थे।[3]

ग्रामो की दूकानो पर स्थानीय उत्पादित वस्तुओं की बिक्री होती थी। अधिकाश अभिलेखो मे प्राय व्यापारियो द्वारा ग्रामीण क्षेत्र मे अनुदान देने के प्रसग मिलते है यह उनकी बेहतर स्थिति का परिचायक है। इसी प्रकार नगरो मे सुव्यवस्थित बाजार तथा आकर्षक दूकानो के कारण नगरो के पृष्ठ प्रदेशो (Hinterland) से भी व्यापारी व्यापार के लिए आते थे। ग्राम तथा नगर के बाजारो के अतिरिक्त मदिरों की सीमा या प्राङ्गण मे स्थित बाजारों मे भी क्रय-विक्रय होता था। धार्मिक तिथियो पर आयोजित होने वाले मेलो मे भी दूर-दूर से व्यापारी अपने-अपने विक्रेय के साथ वस्तु-विनिमय किया करते थे।[4]

प्रशासन भी बाजारो की उचित व्यवस्था तथा व्यापारियो की सुख-सुविधा का ध्यान रखते थे। नवीं शताब्दी के एक अभिलेख मे यह उल्लेख मिलता है कि राजा कक्कुक ने जोधपुर के घटियाल मे हट्ट निर्मित कराया तथा उसे विभिन्न पण्यवीथियो से अलङ्कृत करवाया।[5] गुजरात के शासक मूलराज प्रथम (दसवीं शताब्दी) ने अपने राजा के बाजारो तथा अधिष्ठानो एवं ग्रामो के निर्माण कार्य की देखरेख करने के लिए भ्रातृत्रय माधव, लूल तथा भीम को नियुक्त किया था।[6] ग्यारहवी शताब्दी के राजा भोज ने अपनी नव-निर्मित राजधानी मे बहुत से क्रयाण स्थल भी निर्मित करवाए। **उपमितिभव प्रपञ्चकथा** मे रात मे बाजारो की देखरेख के लिए सुरक्षाकर्मियो को नियुक्त करना भी प्रसगित है।[7]

---

1 कथा, इंट्रोडक्शन पृ० 87
2 कीर्ति० पृ० IV 17 स्पृष्टापृष्टनिषेधाय
3 एपि० इडि० I न० 21, पृ० 162.
4 द किरात-इ-अहमदी (अनु, एम० एफ० लेखन्दवाला, जी० ओ० एस० नं० 146 बड़ौदा, 1965 पृ० 378
5 एपि० इंडि० IX, पृ० 277
6 वही० पृ० 440-41 9-10
7 उपमिति भव पृ० 851

राजाओं द्वारा बाजारो की व्यवस्था के लिए जो कार्य किए गए थे उनका ज्ञान हट्टकरण[1] (बाजार के विभाग) हट्टाध्यक्ष [2] या हट्टपति [3] इत्यादि विभिन्न शब्दावलियो से भी होता है। प्रत्येक प्रमुख व्यापारिक केन्द्र का एक अध्यक्ष होता था तथा उसकी सहायता के लिए मूल्याधिकारिण, तुलाधिकारिण (माप-तौल कारक), भाराधिकारिण (वजन) इत्यादि होते थे।[4] भार ले जाने में असफल होने पर भारवाहक को उस नुकसान को चुकाना पडता था।[5] इस प्रकार जो बडे व्यापारी होते थे वे अपने साधन रखते थे तथा अपने साथी व्यापारियो को उन्हे किराए पर या बिना किराए लिए भी भारवहन हेतु देते थे।[6]

विदेशी व्यापार—ग्यारहवी-बारहवी शताब्दी मे पश्चिमी भारत व्यापार तथा वाणिज्य का प्रमुख केन्द्र था। शोध-आधृत ग्रन्थ के कतिपय प्रसगो से ज्ञात होता है कि जहा एक ओर आन्तरिक व्यापार मे वृद्धि हो रही थी वही दूसरी ओर पडोसी देशो से भी विभिन्न सामग्रिया आयातित एव निर्यातित की जाती थी। अनेकों साहित्यिक तथा अभिलेखिक साक्ष्यो तथा विदेशी यात्रियो के विवरणो से भी इस क्षेत्र से होने वाले विदेशी-व्यापार की पुष्टि होती है। उत्तर-पश्चिम भारत से जिन देशो का व्यापारिक सम्बन्ध प्रसगित है उनमे अरब, चीन, पश्चिमी तथा मध्य-एशिया प्रमुख है। **प्रवन्धचिन्तामणि** मे विदेशो से व्यापार को द्योतित करने वाली कुछ शब्दावलियों जैसे सॉयत्रिक (समुद्री-व्यापारी), पत्तन, जलदस्यु इत्यादि प्राप्त होती है। इनके अतिरिक्त कतिपय ऐसे स्थल मिलते है—जिनसे सामान से लदे हुए विदेशी पोतो के आने व सामान चढाने उतारने के प्रसंग भी मिलते हैं। एक स्थल पर विवृत्त है कि विदेश से चलने वाला एक जहाज समुद्री तूफान की वजह से उसके क्षेत्र से बाहर सोमेश्वर पत्तन पर आ गया। उसमे दस-हजार घोडे, एक सौ पचास हॉथी और दस हजार अन्य सामग्रियों की सख्या थी। चावडा राजवश के राजा योगराज के पुत्र क्षेमराज तथा अन्य पुत्र उसे रोकने के लिए राजा की आज्ञा लेने आए।[7]

एक अन्य स्थल पर यह विवरण प्राप्त होता है कि राजा भोज के दरबार में एक ऐसा व्यापारी मिलने आया जिसका यानपात्र (जहाज) अचानक समुद्र के बीच मे रूक गया था।[8] एक स्थान पर जलदस्युओं से सम्बद्ध

---

1 कदि ग्राट भीभदेव II (1230 ई०), इंडि एंटी, VI पृ० 202, 1.8
2 अभिधान चि० III, 389
3 कुट्टनीमत (दामोद गुप्त 540
4 मानसोल्लास II 104-5 1208-22
5 नारद स्मृ० भाण्ड व्यसन्न गच्छेद्यादि वाहकदोषत,।सा दाप्यो यत् प्रणष्टं स्याद्दैवराज कृताद्ते। VI,9
6 वी० के० जैन, पृ० 55-56
7 प्रबुन्धचि० मेरू० पृ० 14; टॉनी पृ० 19
8 वही मेरू० पृ० 40, टॉनी पृ० 59

उद्धरण है कि आभड नामक व्यापारी कुछ मञ्जीष्ठा के बोरे विक्रयार्थ ले जा रहा था। उसमे कुछ स्वर्ण कम्बिकाए (सोने की चम्मचे) भी थी जिन्हे जलदस्युओं के भय से उसने बोरे मे छिपा दिया था। उस काल मे विदेशी-व्यापार की अभिवृद्धि इतनी अधिक थी कि विदेशो से व्यापारी बहुश इस क्षेत्र मे आते रहते थे। कुछ व्यापारी तो यहाँ आकर बस भी गए थे और वे इतने अधिक शक्तिशाली हो गए थे कि वे यहा के स्थानीय शासको एव राज्याधिकारियों से भी लोहा लेने लगे थे। इस प्रकार का प्रसग **प्रबन्धचिन्तामणि** मे मिलता है[1] बाद मे उक्त दो उद्धरण **पुरातन प्रबन्ध सग्रह**[2] मे भी प्राप्त होते है। इस तथ्य की पुष्टि अभिलेखिक साक्ष्यो से भी होती है। अर्जुनदेव के वेरावल अभिलेख[3] (वि० स० 1320) से यह पता चलता है कि अरब देश का एक व्यापारी (जहाज-मालिक) अमीर रुक्नुद्दीन अपना जहाजी बेडा लेकर सोमनाथपत्तन आया। उस क्षेत्र को उसने अपना निवास बना लिया। उसने श्रीसोमनाथदेव मदिर के एक भूमिखड को वहा के एक स्थानीय शासक पदाधिकारी एव मदिर के प्रमुख आचार्य की सहमति से खरीद लिया और वहा एक मस्जिद का निर्माण करवाया तथा उस मस्जिद के खर्च चलाने के लिए उसने एक मुश्त बडी धनराशि दान मे दी। उक्त लेख मे यह भी कहा गया है कि अवशिष्ट धनराशि मक्का-मदीना भेजी जायेगी।

जामि 'उल-हिकायत[4] (1211 ई०) मे मुहम्मद ऊफी यह कहता है कि गुजरात का प्रधान व्यापारी वसा-अभीर ने गजनी मे अपने अभिकर्ता (Agent) को कुछ व्यापारिक सामान लेकर बेचने को भेजा। बहुत से मुस्लिम व्यापारी उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र से होकर भारत के अन्य भागो मे गए तथा वहा पर व्यापारिक सपर्क स्थापित किया, जो कि विदेशी व्यापार की वृद्धि का परिचायक है।[5]

उत्तर-पश्चिमी भारत के अनेक व्यापारी ईरान तक जाते थे किन्तु अरबो ने सिन्ध पर अधिकार के बाद विवेच्यकाल मे बगदाद के खलीफाओं से घनिष्ट सास्कृतिक सम्बन्ध स्थापित हो गया था।[6] इब्न खुर्ददबाह,[7] अल मसूदी[8], अल इद्रीसी[9], और अलबेरुनी[10] ने इस मार्ग का उल्लेख अपने-अपने विवरणो मे किया है। अलबेरुनी

---

1 वही० पृ० 102; टॉनी पृ० 16
2 पु० प्र० सं०, पृ० 132, पृ० 56
3 इंडि० एंटी० XI, पृ० 242; डी० सी०, सरकार सेलेक्टेड, इंसक्रिप्शन्स जि० 2 पृ० 406
4 इलियट एण्ड डॉसन भाग II पृ० 201 उद्धृत यादव, वही पृ० 279
5 मो० हबीब, इलि० एण्ड डॉसन भाग II पृ० 46, यादव वही० पृ० 279
6 एज ऑफ इम्पीरियल कन्नौज पृ० 448-452
7 इलि० एण्ड डाउसन I,14
8 वही० I, 21
9 वही I, 92
10 अलबेरुनी I, 198

का यह उल्लेख है कि मै अपने देश (तुर्किस्तान) निमरोज (सिजिस्तान) होकर जाता हूँ।" वह फिर कहता है कि केवल एक यह मार्ग ही नही था जिससे हर क्षेत्र से भारत पहुचा जा सके "जब मार्ग खुले रहते है तो रूकावट समाप्त हो जाती है।"[1] अल इदरीसी से भी हमे कुछ व्यापारिक मार्गों के विषय मे पता चलता है।[2] उसके अनुसार देबल तथा कैम्बे व्यापार के लिए ऐसे व्यापारिक स्थल थे जहां पर प्रत्येक देश मे उत्पन्न होने वाला पण्य विकता था।

समुद्री मार्ग से होने वाला व्यापार

प्रबन्धचिन्तामणि मे प्राप्त विवरणो मे योगराज के शासन काल मे एक दूसरे देश के एक जहाज का सोमेश्वरपत्तन पर आना[3], सईद नामक अरबी व्यापारी का भारत मे आना तथा वस्तुपाल से युद्ध[4] तथा भडौच, कैम्बे इत्यादि बन्दरगाहो के व्यापारिक गतिविधियो से सम्बन्धित मुस्लिम यात्रियो के विवरणो से यह अनुमान किया जा सकता है कि विवेच्यकाल मे विदेशो के साथ गुजरात के माध्यम से समुद्री-मार्ग द्वारा व्यापार की प्रक्रिया प्रगति पर थी। इस काल मे सबसे अधिक व्यापार गुजरात के माध्यम से होता था। पूर्वमध्यकालीन तथा परवर्ती जैन-ग्रन्थो मे बहुत से ऐसे विवरण प्राप्त होते है जिनसे भी उन्नत व्यापारिक अवस्था की पुष्टि होती है। **पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह** मे यह प्रसग मिलता है कि जगदु नामक व्यापारी जलमार्ग से घोडे लाता था।[5] **जगदूचरित** मे जगदू नामक व्यापारी हरमुज मे अपने भारतीय व्यापारिक प्रतिनिधि या अभिकर्ता (Agent) रखता था। तथा जिनके माध्यम से अपने जहाज मे सामान भरकर फारस भेजता और व्यापार करता था।[6] धनपातिक नामक व्यापारी का जहाज (देवताडतिशयात्) टूट गया था ऐसा उल्लेख प्रबन्धग्रन्थो मे प्राप्त होता है।[7] कान्तिपुर के व्यापारी का समुद्रीमार्ग से व्यापार करने का उल्लेख भी **पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह** में प्राप्त होता है।[8] धनपालकृत **तिलकमञ्जरी**[9] मे सायात्रिक तथा यानपात्र के कतिपय उल्लेख प्राप्त होते है। वेरावल से प्राप्त अर्जुनदेव के अभिलेख से भी सामुद्रिक मार्ग द्वारा विदेशो से व्यापार की पुष्टि होती है।[10] **मोहराजपराजय** मे भी यह वर्णन मिलता है कि

---

1 इण्डिका भाग I, अध्याय XVII पृ० 198
2 इलियट एण्ड डॉसन I, पृ० 77
3 प्रबन्धचि० 14, टॉनी, 77
4 वही, पृ० 102 (टानी)
5 पु० प्र० स०, पृ० 80
6 ए० के० मजूमदार, चौलुक्य पृ० 267
7 पु० प्र० सं० पृ० 91; प्रबन्धकोश पृ० 85
8 पु० प्र० सं० पृ० 95
9 तिलकमंजरी पृ० 19-20 श्लो 130, पृ० 21 श्लो 151 पृ० 59 श्लो 108
10 इंडि० एंटी० XI, पृ० 242; डी० सी० सरकार, सेलेक्टेड इन्स्क्रि० भाग-II, 402

अणहिलवाड का कुबेर नाम का व्यापारी विदेश जाते समय अपने साथ भृगुकच्छपतन से (भडौच) 55 व्यापारी तथा 500 जहाज ले गया था।[1]

इन साहित्यिक तथा अभिलेखिक साक्ष्यो के अतिरिक्त विदेशी यात्रियो के विवरणो मे भी व्यापारिक उल्लेख प्राप्त होते है। चाऊ-जू-कुआ[2] (12हवी श० ई०) के अनुसार चीन के साथ भारत का व्यापार चीनी शासक के लिए गभीर चिता का विषय बन गया था। वह लिखता है कि भारतीयो की विलासिता की वस्तुओं की चीन में भारी खपत के कारण चीनी मुद्रा तथा कीमती धातुऐं भारत जा रही थी। चीनी शासक ने इस मुद्राप्रवाह को रोकने के लिए भारत के मालाबार तथा क्विलन से होने वाले व्यापार पर रोक लगाया था। जिसके फलस्वरूप 12हवी श० के अन्त मे यह सुदूर पश्चिमी देशो से भी सामान वहा आता था।[3] इसी स्रोत के आधार पर यह जानकारी मिलती है कि अरब मे क्विलन तक छोटे जहाजो के माध्यम से सामान पहुचाया जाता था। उसके बाद उसे बडे जहाज पर लादा जाता था और वहा से प्लेम्बग होता हुआ चीन पहुचता था पूर्वमध्यकाल के पूर्वार्द्ध में भारत का व्यापारिक सम्बन्ध, चीन, दक्षिण पूर्व एशिया तथा श्रीलका से पूर्वी देशो के समुद्रतटीय मार्ग से होता था। परन्तु ग्यारहवी-बारहवी शताब्दी मे व्यापार के क्षेत्र मे अरबो के प्रभुत्व की अभिवृद्धि के फलस्वरूप पश्चिमी देशो (मुस्लिम देशो) से होने वाले व्यापार मे भी अभिवृद्धि मिलती है।

अबू जैद लिखता है कि भारतीय व्यापारी बड़ी सख्या मे सिराफ जाते थे और वहां के मुसलमान व्यापारियों से मित्रतापूर्ण व्यवहार रखते थे। मार्कोपोलो (13 वीं श०) कहता है कि भारतीय व्यापारी सोकोत्रा द्वीप जाते थे।, वहा वे अपने . वस्तुओं का विक्रय करते थे।[4]

पत्तन—विदेशी व्यापार का अध्ययन बन्दरगारो के विवरण के अभाव मे अनुचित होगा। **प्रबन्धचिन्तामणि** में भृगुकच्छ, स्तम्भतीर्थ तथा सोमेश्वरपत्तन का उल्लेख प्राप्त होता है। चौलुक्य राज्यकाल में कैम्बे, भडौच तथा सोमनाथ के बन्दरगाहो से पश्चिमी देशो के साथ व्यापार से बहुत लाभ होता था।[5]

अरब लेखको ने भी भारत के बहुत से पतनो का उल्लेख किया है। पश्चिमी भारत के प्रमुख पत्तनों में देबल (कराची तथा थाट्टा), लोहरानी या लाहोरी बंदर जो कि संभवत. कराची में था, सोमनाथ पत्तन- वेरावल

1 मोहराज पराजय, III, पृ० 61
2 चाऊ-जू० कुआ पृ० 18
3 वही० मसूदीज एनसाइक्लोपीडिया, I, पृ० 328
4 युले, II. 389
5 प्रबन्ध० चि० पृ० 102, पं० 10 के आगे

(सामानथ के निकट) घोघा, कैम्बे (गुजरात का प्रमुख पत्तन जो स्तभतीर्थ कहलाता था), सिन्दन तथा सुबारा (अल इदरीसी के अनुसार यह कैम्बे के दक्षिण मे स्थित सोपार था भडौच (भृगुकच्छ या भरुकच्छ) सिन्दबूर (नर्मदा के मुहाने के समीप) थे। गुजरात का समुद्रीतट अतर्राष्ट्रीय व्यापार की दृष्टि से विवेच्यकाल मे बहुत महत्त्वपूर्ण था। कतिपय साहित्यिक ग्रन्थो मे ताम्रलिप्ति को पूर्वी भारत का एक प्रमुख बन्दरगाह विवृत्त किया गया है। अधीतकाल मे यह सप्तग्राम द्वारा ग्रहण कर लिया गया था।[1]

पश्चिमी भारत के कुछ अन्य पत्तनो का उल्लेख अरब लेखको ने किया है, जो कुछ कम महत्व के थे —कूदाफरीद (अलीमुकम) सिजिली मालाबार के पास (बलभी) (कोदगल्लुर), तदियूर (कदलुडि), शालियात (चलियक) फदरीन (पतलापिनी कोल्लम्) दहफत्तान (धर्मदम, श्रावस्ती, सहेत सहित-माहेत का ग्राम) बुद्फतान (बलियापतम् बलभी), जुर्बतम (श्रीकदपुरम्), फूफल (बेकल), हर्किल्या (कसरगोद), खुर्नल (कुम्बाला), फाकनूर (बार्कूट), बासरूर (बेसरूर), बरकली (भत्कल) हन्नूर (हनोवर), हबार (कारवार)[2]

भृगुकच्छ प्रथम शताब्दी से ही अन्तर्राष्ट्रीय पतन के रूप मे पश्चिमी भारत मे प्रसिद्ध था। **प्रबन्धचिन्तामणि** के समकालीन उसी क्षेत्र मे रचित **रासमाला**[3] मे भी इसका वर्णन 'भृगुपुर' के रूप मे हुआ है। भृगुकच्छ, बन्दरगाह से अणहिलवाड का प्रमुख व्यापारी कुबेर व्यापार के लिए विदेशो को जाता था।[4] अलइदरीसी[5] कहता है कि बरुह (भडौच) चीन और सिध से आने वाले जहाजो के लिए पत्तन था। मार्कोपोलो[6] के विवरण से हमे पता चलता है कि गुजरात के उत्पादनो का नियमित निर्यात भी यही से चीन एव अरब तथा अन्य देशो को होता था। प्राचीनकाल मे इसे भृगुकच्छ या भरुकच्छ के आधार पर विदेशियो ने बेरीगाजा कहा है। अरब, मिस्र तथा अफ्रीका के पूर्वी तट को निर्यात करने के लिए कश्मीर और काबुल से भी यहा पर सौदा लाया जाता था।[7] अल मसूदी (दसवी शताब्दी) बरुस (भडौच) के लिए कहता है कि यहा के बल्लम तथा बरछी प्रसिद्ध थे जिन्हे बरुसि कहा जाता था।[8]

---

1 यादव, सोसायटी एण्ड कल्चर पृ० 313, पाद टिप्पणी 324
2 नयनार, अरब ज्यौग्राफर्स, इन्डेक्सएस० , इ० ला० ना० इं० द्वारा ल० गोपाल, पृ० 148
3 फोर्ब्स, रासमाला पृ० 189
4 मोहराजपराजय III, पृ० 61
5 इलि० डासन, I, 87
6 मार्कोपोलो II, 393
7 पेरीप्लस (डब्ल्यू० एच० स्काफ 14, 21, 27, 32, 36, 48-49)
8 बाम्बे गजेटियर I, pt. I पृ० 513

कैम्बे—गुजरात के प्रमुख पत्तनो मे से कैम्बे एक था। अरबी यात्री सुलेमान[1] के अनुसार इसका एक अन्य नाम स्तम्भतीर्थ भी था। कैम्बे पत्तन मरुकच्छ के बहुत बाद मे महत्व मे आया। सभवत इसकी उन्नति गुर्जर-प्रतिहारो द्वारा भडौच की प्रतिस्पर्धा स्वरूप हुई थी, जो राष्ट्रकूटो के प्रभुत्व मे था। प्रबन्धचिन्तामणि के अनुसार उदयन नामक व्यापारी खम्भात का निवासी था। उसने चौलुक्य शासक कुमारपाल को उसके प्रारभिक जीवन मे शरण दिया था। अन्य साहित्यिक ग्रन्थो मे भी इसे गुजरात का प्रमुख पत्तन माना गया है। जहा व्यापारियो की घनी बस्ती थी तथा व्यापारिक क्रिया-कलापो का प्रमुख केन्द्र था।[2] **मार्कोपोलो**[3] के अनुसार व्यापारी सामान से लदे हुए जहाजो के साथ यहा आते थे। कैम्बे निश्चय ही विदेशी आक्रमणो से दूसरे बन्दरगाहो की अपेक्षा अधिक सुरक्षित था। दसवी शताब्दी से समुद्री-व्यापार मे अभिवृद्धि होने से कैम्बे शहर तथा पत्तन की समृद्धि और भी बढ गयी थी। वासफ (1300-1328 ई०) के इस कथन से कि गुजरात को वास्तव मे खम्भात कहा जाता था, इसका महत्व और भी बढ जाता है।[4] विभिन्न स्रोतो से ज्ञात होता है कि कैम्बे मे बहुत से बाजार थे जहा व्यापारी भी रहते थे।[5] जिसमे बहुत से मुस्लिम व्यापारी थे जिन्हे व्यापार करने की पूरी स्वतन्त्रता थी।[6] पश्चिमी भारत मे यही एक प्रमुख पत्तन था जहा अरब देशो से घोडे जहाजो मे लादकर लाए जाते थे।[7]

सोमानाथ पत्तन—दसवी शताब्दी मे भृगुकच्छ और कैम्बे के अतिरिक्त सोमनाथ पत्तन भी प्रमुख बन्दरगाह था तथा यह एक प्रसिद्ध धार्मिक स्थल भी था। **प्रबन्धचिन्तामणि** में यह उल्लेख है कि सोमेश्वर या सोमनाथ पर एक पश्चिमी देश का जहाज समुद्री तूफान के कारण आ लगा था जिसे चावड (चावडा) वंश के राजा योगराज के पुत्रो ने पकड लिया था।[8] एक अभिलेख से भी यह ज्ञात होता है कि कैम्बे की भाति यहा पर भी बडी सख्या मे मुस्लिम व्यापारी तथा समुद्री यात्री बारहवी-तेरहवीं शताब्दी मे यहां आया करते थे।[9] अलबेरूनी इसके महत्व को बताते हुए लिखता है कि यह जञ्ज (जञ्जीबार दक्षिण अफ्रीका) देश मे सुफला और चीन देशो के बीच जहाज रानी करने वालो के लिए अवस्थान था।[10] **रासमाला** मे सुराष्ट्र में स्थित वेरावल तथा सोमनाथ पत्तन का उल्लेख

---

1 अल्तेकर ए० एस० एहिस्ट्री ऑफ इम्पार्टेन्ट टाउन्स इन गुजरात, इंडि० एटी० ठक्ष्फक्र पृ० 47
2 बसन्त विलास, पृ० VI
3 मार्कोपोलो II, 398
4 इलियट एण्ड डासन, III, पृ० 31
5 फेक, III, 8, सी पी एस आई पृ० 227
6 इलि० एण्ड डासन, ऊफी, II, पृ० 162
7 वही III पृ० 33
8 प्रबुन्धचिन्तामणि मेरू० पृ० 14, II,3
9 वेरावल अभि० (1264 ई०), इंडि० एंटी XI, पृ० 241
10 अल्बेरूनीज इंडिया II 104

है।[1] कुछ विद्वान एक ही स्थान के ये दो नाम मानते है। मार्कोपोलो (तेरहवी श० ई०) सोमनाथ के विषय मे कहता है कि यह व्यापार का बहुत बडा स्थान था तथा यहा के लोग जलदस्यु नही थे बल्कि ईमानदार लोगो की भॉति व्यापार तथा उद्योग के माध्यम से जीवन व्यतीत करते थे।[2]

देबल—

इन पत्तनो के अतिरिक्त देबल भी यहा इस क्षेत्र का प्रमुख पत्तन था। यह सिधु के मुहाने पर स्थित था अल इदरीसी कहता है कि ओमान के उत्पादो से भरे जहाज इस पत्तन पर आते थे। वह यहा के महत्व को इस प्रकार बताता है कि 'प्रत्येक देश मे पैदा होने वाली व्यापारिक वस्तुए यहा पायी जाती थी। यह खाडी के किनारे पर स्थित था, जहा जहाज प्रवेश करके लगर डाल सकते थे। यहा पर मिस्र द्वीप के निवासियो के आक्रमण से बचने के लिए तत्कालीन शासक ने एक दुर्ग निर्मित कराया था।[3] यह पत्तन बारहवी शताब्दी के अन्त तक उन्नत अवस्था मे था। अलबेरूनी[4] तथा इब्न बतूता[5] ने एक बन्दरगाह लोहरानी या लहरी का उल्लेख किया है जो एक ही स्थान के दो नाम प्रतीत होते है किन्तु यह स्थान देबल की भॉति महत्वपूर्ण नही था।

गुजरात के पत्तन विभिन्न व्यापारिक क्षेत्रो की प्रमुख कडी का कार्य करते थे। यहा के पत्तन देशी तथा अन्तर्देशीय व्यापार के प्रमुख केन्द्र थे। दूरस्थ स्थानो से व्यापारिक सामग्री यहा के पत्तनो पर एकत्रित की जाती थी तथा पुन वहा से स्थानीय व्यापारियो द्वारा उचित लाभ लेकर बेची जाती थी। स्थानीय राजा भी यहा पर समुद्री मार्ग से आने वाले व्यापारियो से राजस्व तथा अन्य कर लाभ रूप मे प्राप्त करते थे। अधीतकाल मे बढ़ते हुए समुद्री व्यापार तथा उनसे होने वाले लाभ के कारण राजा विदेशी व्यापारियो को सुरक्षा तथा सुविधाएं प्रदान करते थे जिससे कि इनके राज्य से व्यापारिक सम्बन्ध बनाए रखे।[6] **लेखपद्धति**[7] से ज्ञात होता है कि पत्तनों से सम्बन्धित कार्यों की देखभाल के लिए एक अलग कार्यालय होता था, जिसे वेलाकुलकरण कहा जाता था। चौलुक्य राजा पत्तनो के प्रशासन एव व्यापारिक क्रियाओं मे विशेष रुचि लेते थे तथा इनके प्रशासन हेतु विशेष अधिकारियो की नियुक्ति भी करते थे।

---

1 रासमाला पृ० 56, 189
2 मार्कोपोलो II, पृ० 398-99
3 इलि० एण्ड डा०, 84; नयनार पृ० 52 मि० 87-88
4 इण्डिका I, पृ० 208
5 आर० आई० बी० पृ० 10
6 वी० के० जैन, ट्रेड एण्ड ट्रेडर्स पृ० 136
7 ले० प० पृ० 1

समुद्री परिवहन एवं जलदस्युओं का संकट

प्रबन्धचिन्तामणि मे यह विवृत्त है कि राजा योगराज के पुत्र ने सोमेश्वरपत्तन पर आए एक विदेशी जहाज को लूटने के उद्देश्य से पकडा, जिसके सम्बन्ध मे राजा योगराज कहता है कि उसके अपने पूर्वजों के आचरण के कारण इस क्षेत्र को गुर्जर डाकुओं का क्षेत्र कहा जाता है।[1] एक अन्य स्थल पर यह कथा मिलती है कि व्यापारियो ने जलदस्युओं को भय से सोने की चम्मचे (स्वर्णकम्बिक) मञ्जीष्ठ के बोरे मे छिपा दी थी।[2]

अधीतकाल मे गुजरात के तटीय क्षेत्र मे जलदस्युओं का प्रकोप बहुत बढ गया था। पूर्वकाल मे भी जल दस्यु होते थे परन्तु उनका कार्यक्षेत्र अपेक्षाकृत सीमित था। लूट के भय से व्यापारी समुद्री-यात्रा करने से डरते थे। अधीतकाल मे वृद्धिगत सामन्तवादी प्रवृत्ति के फलस्वरूप समुद्री डकैती की घटनाए अधिक होने लगी थीं। छोटे-छोटे राज्य होने के कारण उनके लिए यह काम और आसान हो गया था। इब्न बतूता[3] की जलदस्युओं से बचाव के लिए राजकीय सरक्षण दिए जाने की बात करता है। इस सदर्भ मे यह कह सकते हैं कि दसवीं शताब्दी तक सर्वथा यह नियम व्यवहार मे था कि सामान से लदे हुए जहाजो के किसी भी शासक के बन्दरगाह तक पहुचने या छूटने पर उन वस्तुओं को अपहृत कर लिया जाता था। किन्तु यह स्थिति सर्वथा नहीं थी। चौलुक्य नरेश कुमारपाल ने यह दावा किया है कि इस पूर्वकालिक कुप्रथा पद्धति को समाप्त कर दिया। अब वस्तुओं के अपहरण के बजाय उनसे सम्बद्ध सामग्री का दसवा अश कर के रूप मे लिया जाएगा। इसी प्रकार का उल्लेख काकतीय वश के मोतुपल्ली स्तंभ अभिलेख[4] मे भी मिलता है। इसके अनुसार उसने इस प्रकार के पोतवणिको को अभय शासन प्रदान किया। इसी प्रकार का उल्लेख **मानसोल्लास**[5] मे प्राप्त होता है कि जिसमें राज्य तटीय सुरक्षा के लिए अनुज्ञापत्र (Licence) व्यवस्था का निर्धारण करते हैं तथा उसे कडाई से लागू करते है। इस सम्बन्ध मे **प्रबन्धचिन्तामणि** (पृ० 14) मे जो योगराज के पुत्रों द्वारा दूसरे देश के जहाज को जो समुद्री-तूफान मे फसकर आ गया था, योगराज द्वारा उसे मुक्त करना समुद्री व्यापार के प्रोत्साहन की पूर्व पीठिका प्रतीत होती है।

---

1 प्रबन्धचि० मेरू० पृ० 14
2 वही, पृ० 69; टॉनी पृ० 104
3 ए० के० मजूमदार, चौलुक्य आफ गुजरात पृ० 479
4 एपि० इंडि० XII, पृ० 195
5 मानसो० II, पृ० 62; 374-76

आयात—अधीतकाल मे विभिन्न वस्तुओं के आयात-निर्यात मे भी अभिवृद्धि मिलती है। **प्रवन्धचिन्तामणि**[1] में सोमेश्वर-पत्तन पर योगराज के शासन काल मे जो समुद्री पोत बन्दरगार के तट पर आ पहुचा था उसमे दस हजार अश्व, एक सौ पचास हस्ति तथा दस करोड की कीमत की अन्य सामग्रिया भी थी। **प्रबन्धकोश** मे राजशेखर ा कैम्बे पत्तन पर घोडो को उतारने का उल्लेख किया है।[2] हेमचन्द्र ने भी लिखा है कि अरबी घोडो का निर्यात किया जाता था।[3] बहुश प्रमाणो से यह स्पष्ट होता है कि भारत मे पश्चिम देशो से घोडो के आयात पर प्रभूत धन व्यय होता था। सामतीयुग मे अनवरत चलने वाले युद्ध मे अश्वो का भारी सख्या मे प्रयोग होना स्वाभाविक था। फलस्वरूप अश्वो की माग भी बढ गयी थी। अरबीनस्ल वाले घोडो की कीमत भी अधिक थी। घोडो की सही ढग से रख-रखाव की जानकारी न होने के कारण वे जल्दी हो रोगग्रस्त हो मर जाते थे। भारत मे घोडो का सही इलाज करने वाले भी नही थे तथा विदेशी लोग अपने व्यापार की उन्नति बनाये रखने के लिए घोडो के जाचकर्ता को आने से रोकते थे।[4] फलस्वरूप प्रतिवर्ष यहा के शासको को हजारो की सख्या मे घोडे खरीदने पडते थे।

वासफ (1300-1328 A D) कहता है कि अब तक अबू वक्र के शासन काल मे प्रतिवर्ष 10,000 अश्व, कलिफ, लासा, बहरीन, हरमुज तथा कुल्हूत स्थानो जो अरब समुद्र तथा फारस की खाडी पर स्थित थे, से मालाबार खभात तथा अन्य पडोसी पतनो को निर्यात किया जाता।[5] इब्न बतूता (14हवीं श०) कहता है कि दोफल (Zafar) क्रीमिया (Qiram) तथा अझोव से घोडे भारत मे भेजे जाते थे। घोड़े के व्यापारी सिन्ध मे प्रवेश करते समय प्रति घोडे पर सात चादी का टड्ढ कर देते थे।[6]

भारत मे चीन का कौशेय वस्त्र (सिल्क) बहुत पहले से आयात किया जाता था, जिसे चीनाशुक कहते थे। कालान्तर मे भारत मे ही बनने वाले रेशमी वस्त्र या सिल्क को भी चीनांशुक कहा जाने लगा। पूर्वमध्ययुग मे भी भारतीय लोग चीन के रेशमी वस्त्र उपयोग मे लाते थे।[7] मार्कोपोलो यह बताता है कि मालाबार तट पर पूरब से जो जहाज आते थे उनमे अन्य सामग्री के अतिरिक्त सिल्क के वस्त्र, सोना तथा चन्दन लदा होता था।[8]

---

1 प्रबन्धचि० मेरू० पृ० 14; टॉनी पृ० 19
2 प्रबन्धकोश, पृ० 121
3 द्वयाश्रय, पृ० 439
4 वासफ, इलि० एण्ड डा०, III, 33-34; मार्को, II, 340, 345, 450
5 इलि एण्ड डासन III, 23
6 आर० आई० बी०, पृ० X/IV
7 कुट्टनीमतम्, श्लोक 66, 324; नैषधीयचरित, 21 21

राजाओं के द्वारा विभिन्न देशो के सिल्क (रेशम) प्रयोग किए जाते थे। परन्तु **मानसोल्लास** मे विशेषकर चीन तथा श्रीलका के वस्त्रो का ही उल्लेख किया गया है।[1] भारतीय साहित्य मे हमे प्राय सिल्क (रेशम) के लिए चीनांशुक शब्द का ही प्रयोग मिलता है।[2]

चीन से वस्त्र के अतिरिक्त कुछ धातुए भी भारत आती थी। चीन से आने वाले टीन को 'चीनपट्ट' तथा लोहे को 'चीन' कहा जाता था।[3] इनके अतिरिक्त स्वर्ण और रजत जैसी धातुए भी चीन से भारत आती थी।[4] मार्कोपोलो के अनुसार थाना तथा कैम्बे पत्तन पर आने वाले जहाजो मे प्राय· स्वर्ण, रजत, तूतिया, कसीस (सल्फ्यूरिक अम्ल) होता था।[5] उसके अतिरिक्त अन्य आयातित सामग्रियो मे धूप (Incense) के लिए **वैजयन्तीकोश**[6] मे तुरुष्क शब्द का प्रयोग किया गया है। यह मध्य-पूर्व एशिया (सभवत· अरब) से आयात किया जाता था।[7] ताम्र के लिए म्लेच्छ[8] तथा शीसा के लिए यवनेष्ट[9] शब्दो का प्रयोग किया है। ये धातुएँ भारत मे पश्चिम से आयात की जाने वाली वस्तुओं मे थी। सुमात्रा, जावा, बोर्नियो आदि द्वीपसमूहो से अन्यान्य मसालो के अतिरिक्त कालीमिर्च, सुगधित लकडी, लौंग, तमाल, मन्दार आदि आयात किये जाते थे।[10] कपिसा से शराब आयात होती थी।[11]

अरब लेखक अलमसूदी का कथन है कि हाथी दॉत जञ्ज या जञ्जीबार (द० अफ्रीका का पूर्वी तटीय प्रदेश) से ओमान लाया जाता था और वहा से भारत तथा चीन भेजा जाता था।[12] पर्सिया से भारत के लिए रग (कृमिरग या किरमदान) लाया जाता था। नवी सदी के एक अरब यात्री ने लिखा है कि सिराफ के जहाज लालसागर होकर मिस्र नही जाते बल्कि वे जेद्दा से लौटकर भारत चले जाते थे क्योकि भारत और चीन के समुद्र मे मोती, अम्बर होते थे, पहाडों मे रत्नो और सोने की खाने थी, हाथीदात पाये जाते थ। अन्य पैदावार

11 मार्कोपोलो II, पृ० 389-90
1 मानसो० II, पृ० 88, 1018-20
2 कुट्टनीमतम् 66, 344, नैषधीयचरित, XXI, 21.2
3 वैजयन्ती, 3.2 33
4 चाऊ जू० कुआ पृ० 101
5 मार्कोपोलो II, पृ० 395, 398
6 वैजयन्ती 3 8.111
7 द स्ट्रगल फार एम्पायर, पृ० 522
8 वैजयन्ती 3.2 24-25
9 वही 3.2.29-30
10 समरइच्चकहा 6 पृ० 41; तिलकमञ्जरी पृ० 133, 135, 137
11 अभिधानरत्नमाला II, 174
12 फरेन्ड, पृ० 48

मे आबनूस, बेत, जैत, कपूर, लौग जायफल, बक्कम, चन्दन, अनेकानेक सुगधित द्रव्य होते थे, तोते और मयूर जैसे पक्षी थे तथा वहॉ ˉ ˋˋ से कस्तूरी मिलती थी।[1]

निर्यात—आयात के अतिरिक्त बहुत सी व्यापारिक वस्तुए निर्यात भी की जाती थी। विदेशी विवरणो से हमे भारत के विभिन्न बन्दरगाहो से निर्यात किए जाने वाले सामानो मे बकरम, चमडा, चमडे से बने सामान तथा वस्त्र आदि की जानकारी होती है। चाऊ-जू-कुआ[2] के अनुसार 'गुजरात से अरब निर्यात किए जाने वाले सामानो मे नील, लालकत्था (Red kino), आवला, हरड तथा सभी रग के सूती वस्त्र इत्यादि थे।[3] मार्कोपोलो[4] लिखता है कि कालीमिर्च, अदरक तथा नील, गुजरात के प्रमुख उत्पादन थे तथा सुन्दर बकरम और सूत भी गुजरात राज्य से निर्यात किए जाते थे।[5] बल्हरराज्य (Banglore) के प्रमुख उत्पादन सुन्दर तलवारे, सूती वस्त्र थे।[6] तथा सुदर फूलदार तथा लाईनदार सूती-वस्त्र (अणहिल-दाड) का उत्पादन थे। वास्तव मे ये वस्तुए गुजरात के तट से बाहर भेजी जाती थी। गुजरात से फारस को नियमित रूप से दास भेजे जाते थे। यह तथ्य कि वीरधवल के मन्त्री तेजपाल के द्वारा दास-व्यापार को रोकने के प्रयास से सुस्पष्ट था। अल इदरीसी कहता है कि व्यापार की बहुत सी वस्तुए देवल ले आयी जाती थी।[7] बाद मे बाहर से निर्यात किया जाता था। कैम्बे तथा सिंदान के विषय मे कहा जाता है कि "कैम्बे मे अन्त देशो से व्यापारिक सामग्रिया लाई जाती थी तथा वहा से फिर दूसरे देशों को भेजी जाती थी। तथा सिंदन से आयात तथा निर्यात दोनो होता था।[8] वह यह भी कहता है कि सिमर (Chaul) पत्तन पर बहुत से सुगधित पौधे के निर्यात किए जाते थे[9]/लेकिन किन बन्दरगाहो से इनका निर्यात होता था, यह स्पष्ट नही होता। एक अन्य विवरण मे यह उल्लेख है कि प्रत्येक वर्ष दो हजार या इससे अधिक बैलो पर लादकर स्थलमार्ग से वस्तु विनिमय के लिए भेजी जाती थी।

व्यापारियों का वर्गीकरण—किसी भी देश अथवा काल मे छोटे-बडे सभी प्रकार के व्यापारी होना तत्कालीन विकसित व्यापारिक क्रिया-कलाप का परिचायक है विवेच्यकाल मे ऐसी ही स्थिति का सज्ञान हमे **प्रबन्धचिन्तामणि** से होता है। इस ग्रन्थ मे व्यापारियो के लिए विभिन्न शब्दावलिया मिलती है। इनमे वाणिज, श्रेष्ठि, सार्थवाह इत्यादि

1 अबू जैद सैराफी पृ० 135
2 चाऊ जू कुआ पृ० 92
3 जे० एन० बी० आर० ए० एफ०, XXXII (1959) पृ० 61
4 मार्को II, 383
5 वही 379, 85, 88.
6 चाऊ जू० कुआ पृ० 9
7 इलि० डा० I पृ० 77
8 वही
9 वही 145 जाऊ० जू० कुआ० पृ० 93

प्रमुख है। समसामयिक कोश ग्रन्थ **अभिधान-चिन्तामणि**[1] मे व्यापारियो के अनेक पर्यायवाची वाणिज्य, वणिक, क्रयविक्रयिक, पण्यजीव, आपणिक, नैगम, वैदेह, सार्थवाह प्राप्त होते है। **हलायुधकोश**—(अभिधान रत्नमाला)[2] मे भी व्यापारियो के लिए अनेक शब्द बताए गए है। **अमरकोश पर क्षीरस्वामी की टीका मे** भी इन नामो को परिभाषित किया गया है।[3] इसमे वैदेहक के लिए विदेहह उपचये भवो वैदेहक, निगम के लिए आपणे भवो नैगम, परिभाषाए दी है। वणिक शब्द को पणते वणिक तथा वणिज की वाणिगेव वणिज परिभाषित किया है।[4] **पुरातनप्रबन्ध संग्रह** मे विभिन्न स्थलो पर वणिक् का प्रसग आया है।[5] भोजकृत **समरांगणसूत्रधार** में वणिक् द्वारा व्यापार करने का उल्लेख प्रसगित है।[6] इन्ही प्रसंग एवं सदर्भ मे देखने एवं इनकी ज्ञात विभिन्न परिभाषाओं से यह प्रतीत होता है कि ये शब्दावलिया व्यापारियो के विभिन्न कोटियो महत्तक, मध्यम एवं लघु व्यापारियो का द्योतन करती है। ये वणिक व्यापारिक श्रेणी समूह के रूप मे होते थे। मिताक्षरा[7] मे विभिन्न जातियो का समूह जो एक ही व्यवसाय से सम्बद्ध होते थे श्रेणी कहा गया था, यथा हेडाबुकादीना (घोडो का विक्रेता) तथा ताम्बोलिक का उल्लेख मिलता है। विज्ञानेश्वर ने **मिताक्षरा** मे ही एक ही वस्तु बनाने वाले शिल्पियो के समूह को श्रेणी कहा है। वस्तुत ये व्यापारिक श्रेणिया होती थी। इन्हे हम उत्तम (श्रेष्ठ्याधिपति या अध्यक्ष इत्यादि। एव मध्यम वणिको को कोटि मे परिभाषित कर सकते ह।अन्य श्रेणियो का विस्तृत वर्णन आगे के अध्याय मे है।

विभिन्न पण्यो के क्रय-विक्रय के आधार पर भी वणिको का वर्गीकरण होता था। इन्हे हम उत्तम, मध्यम एव निम्न कोटि मे वर्गीकृत कर सकते है। उत्कृष्ट कोटि के बहुमूल्य पण्यो के विक्रेता तथा थोक-विक्रेता व्यापारी उच्चकोटि मे आते थे यथा- सार्थवाह, नैमिक एव अन्य। मध्यम वर्ग के अन्तर्गत वस्त्र, व्यापारी, वर्तन, मसालो,

कर्पूर, अगरु इत्यादि को फुटकर विक्रेता दैनिक आवश्यकताओं की वस्तुओं के विक्रेता यथा- फल फूल-पान, सब्जी इत्यादि बेचने वाले निम्नवर्ग के अन्तर्गत आते थे। शोधग्रन्थ मे एक स्थल पर यह विवरण मिलता है कि आम्ड नामक वणिक् कास्यकारो के बाजार मे घटी बजाता हुआ पाच विंशोपक कमा लेता था।[8] इस वणिक्

1 अभिधानचिन्तामणि, श्लोक न०531पृ० 214,
2 हलायुध,पण्याजीवा वणिज प्रापणिका नैगमाश्च वैदेहा श्लोक 157 पृ० 64
3 क्षीरस्वामी की अमरकोश पर टीका II, 9 78 (भूमिकाड) वैदेहक सार्थवाहो नैगमो वाणिजो वणिक। पण्याजीवो आपणिक क्रय-विक्रयिकश चस
4 क्षीरस्वामी,पृ० II. 9 87
5 पु० प्र० सं० 43, 54, 56, 95, 111, 132
6 समरांगण, 7, पृ० 28-29
7 मिताक्षरा II, 30 8 6
8 प्रबन्धचिन्तामणि मेरू पृ० 69-70, टॉनी पृ० 104

शब्द का प्रयोग स्थानीय व्यापारी के लिए प्रसंगित है। आलोच्य ग्रन्थ में ही मेरूतुङ्ग आचार्य ने चना बेचने वाले (चणक-विक्रयकार) साधारण व्यापारी का उल्लेख किया है।[1] हेमचन्द्र ने भी चणक-व्यापारी (पेडइओ) का उल्लेख किया है।[2] **कथाकोशप्रकरण** (1051 ई०) में हमें घी, तेल, सब्जी, फल, दही, अनाज इत्यादि बेचने वाले अनेक व्यापारियों की जानकारी उपलब्ध होती है।[3] **समरांगणसूत्रधार**[4] में घृत तथा फल विक्रेता का प्रसंग मिलता है। इसी प्रकार विभिन्न अभिलेखों सियादोनि अभिलेख (दसवीं शताब्दी)[5] में नेमक वणिक, कल्लपाल, दोसिक, कुम्भकार, मोचिक, ताम्बोलिक इत्यादि, ग्वालियर अभिलेख में तैलिक इत्यादि व्यापारी संदर्भित है। विभिन्न पण्यों के विक्रेताओं का अलग-अलग समूह होता था। ये वाणिक व्यापारिक श्रेणी समूह के रुप में होते थे। **कुमारपालचरित** में विवृत्त अणहिलपाटन के हट्ट में विभिन्न **पण्यवीथियों** से भी इस बात की पुष्ट होती है कि पृथक-पृथक पण्यों के विक्रयार्थ पृथक-पृथक विथियां थीं। एक वीथी में एक ही तरह का सामान विकता था। जैन कथाओं में देशीयवणिक **स्मेलियव** का उल्लेख आया है जो व्यापार के लिए देश के विभिन्न स्थानों पर जाते थे तथा आयात-निर्यात का कार्य करते थे और अपनी यात्रा से लौटने पर उन्हें सुगन्ध ताम्बूल तथा माला से सम्मानित किया जाता था।[6]

व्यापारियों का एक वर्गीकरण श्रेष्ठि, साधु तथा सार्थवाह के रुप में भी प्राप्त होता है। श्रेष्ठि शब्द का प्रयोग चौलुक्य अभिलेखों में भी हुआ है।[7] श्रेष्ठि स्थानीय श्रेणियों का प्रमुख होता था। जैसाकि शब्द सही स्पष्ट है कि यह उत्कृष्ट कोटि का तथा बहुमूल्य वस्तुओं का थोक-व्यापारी रहा होगा। वेरावल लेख (1246 ई०) में हमे श्रेष्ठि मूलजोग के पुत्र जोजा का उल्लेख एक सुगंधित द्रव विक्रेता के रूप में मिलता है।[8] श्रेष्ठि व्यापारी नगरों तथा देशों में सामान का आदान-प्रदान करते थे तथा दूसरों को धन उधार देते थे।[9] इन्हें थोक विक्रेता भी कहा जाता था। ये लोग एक साथ जहाज का सामान खरीदकर विभिन्न व्यापारियों के माध्यम से आढ़त या बट्टे (Commission) के आधार पर पण्य विक्रय करते थे। जगडु नामक व्यापारी पर्सिया में स्थित हरमुज में भारतीय व्यापारियों की मदद से व्यापार करता था।[10] **प्रबन्धचिन्तामणि** में वसा आभीर नामक ऐसे व्यापारी का उल्लेख आया है जिसके

---

1 वही मेरू० पृ० 70; टॉनी पृ० 106
2 देशीनाम पृ० VI. 59; VII. 57
3 कथा० पृ० 165
4 समरांगण 95, पृ० 38
5 एपि० इंडि० I न 21, II. 27-28, 30-31
6 वनमाल मघोलकर, सोशियो इकोनोमिक स्टडी ऑफ द जैन कथा-लिट्रेचर, पृ० 113
7 एपि० इंडि० VIII, पृ० 220-21
8 वही III नं० 41, पृ० 304, 1.3
9 आर्किव ओरिएंटलियीन XXII, पृ० 238-65
10 चौलुक्य ऑफ गुजरात पृ० 267

अभिकर्ता गजनी मे व्यापार हेतु निवास करते थे। **देशीनाममाला** मे विभिन्न सहायक व्यापारियो के लिए अभिकर्ता (Agents) नेशत्थि या वणिकसचिव, मेधो या वणिक सहाय वाधी या सहायक शब्द प्राप्त होते है।[1] **पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह**[2] मे श्रेष्ठी का प्रसग विभिन्न स्थलो पर आया है। **समरागण-सूत्रधार** मे भी एक स्थल पर श्रेष्ठी द्वारा व्यापार करने का उल्लेख है।[3]

लेखपद्धति[4] से श्रेष्ठि, वणिको मे भी महाश्रेष्ठ, इभ्यश्रेष्ठि तथा राजश्रेष्ठि होते थे। राजश्रेष्ठि सबसे अधिक धनवान होते थे, वे राजा तथा व्यापारिक समुदाय के बीच मध्यस्थता का कार्य करते थे। राजपरिवार का व्यक्ति ही राजश्रेष्ठि के पद पर आसीन होता था। इभ्य श्रेष्ठि भी अन्य श्रेणियो की अपेक्षाकृत अधिक समृद्ध होते थे। ग्रामो पर इनकी प्रभुता होती थी।[5] मे साहु, साधु, पारि (पारिख), वा (वाणिज्यिक या वाणिज्यारक), श्रे (श्रेष्ठि) का (व्यवहारिक) महाजन इत्यादि शब्द प्राप्त होते है जो व्यापारियो के लिए प्रयुक्त है। इनमे से बहुत से शब्दो का प्रयोग चौलुक्य अभिलेखो मे हुआ है।[6]

साहित्यिक दृष्टि से साधु का अर्थ शुद्ध तथा सदाचारी होता है। इसका प्रयोग विशेषकर उन व्यापारियो के लिए होता था जिन्होने साधुओं द्वारा (विशेषकर जैन) चलाए गए सुधारात्मक धर्म के अपना लिया था।[7] **सुकृतकीर्ति कल्लोलिनी**[8] मे एक स्थल पर साहु शब्द का उल्लेख हुआ है तथा उनका सघपति होने का भी प्रसग मिलता है।

व्यापारियो की विभिन्न कोटियो में से सार्थवाह एक था। सार्थवाह उन व्यापारियो को कहते थे जो अन्त देशीय या वाह्य व्यापार हेतु एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने वाले व्यापारियो के समूह का नेता होता था। अमरकोश की टीका मे क्षीरस्वामी ने सार्थवाह को सार्थान्सर्धान्परतो या पान्थान्वहति सार्थवाह' परिभाषित किया है।[9] विश्वरूप[10] ने व्यापारियो तथा अन्य लोगो के समूह को नैगम (व्यापारियो का समूह) कहा है। अपरार्क[11] कहते

---

1 देशीनाम IV 44, VI 138, VII, 53
2 पु० प्र० स० पृ० 2, 46, 92, 95, 109
3 समरांगण 97 पृ० 38
4 वनमाला मधोलकर, वही, पृ० ११३
5 ले० प० पृ० 8, 9, 10, 11, 12, 17
6 एच० जी० ई० जी० अंपेडिक्स IV पृ० 205-45
7 जैन० वी० के०, वही पृ० 219, फु० नो० 78
8 सधपति साहु सुकृत० पृ० 68
9 क्षीरस्वामी, II, 9, 78, पृ० 217
10 आन्न याज्ञ, ~~ऑन~~
सार्थवाहादि समूहो नैगम II, 192
11 वही, सह देशान्तर वाणिज्यर्थम् ये नानाजातीय अधिगच्छति ते नैगमः पृ० 796-

है कि विभिन्न जातियो के व्यापारियो का समूह जो दूसरे देशो मे व्यापार करने के उद्देश्य से जाता था। नैगम कहलाता था। एक जैन ग्रन्थ मे सार्थवाह की विभिन्न श्रेणिया बताई गयी है—(1) वे जो सामान बैलगाडियों पर ले जाते थे, (2) वे जो सामान को ऊँट, खच्चर या बैल पर ले जाते थे, (3) वे जो अपना भार स्वय उठाते थे, (4) वे व्यक्ति जो अपनी जीविका कमाने के लिए साथ जाते थे तथा (5) वह, जिनमे जैन सन्त भी सम्मिलित होते थे।[1] **पुरातन प्रबन्ध-संग्रह** मे भी सार्थवाह का प्रसग प्राप्त होता है।[2]

उनका एक नेता होता था जो समूह के लोगो की सुरक्षा का ध्यान रखता था। तथा सुरक्षित मार्गों से उनके गन्तव्य तक पहुचाता था, और मार्ग मे उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करता था। **प्रबन्धचिन्तामणि**[3] मे एक कथानक विवृत एक से ज्ञात होता है कि एक काफिला योगराज के समय मे सोमेश्वर पर अचानक आ पहुँचा था एक अन्य स्थल पर ऐसे ही सार्थ का उल्लेख [4]बृहत्कथाकोश[5] मे सार्थवाह का सन्दर्भ मिलता है। धनपालकृत **तिलकमञ्जरी**[6] (12हवी श० ई०) मे भी सार्थ स्थल सार्थ एव जलसार्थ (समुद्री व्यापारियो) का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। के ठहरने का उल्लेख मिलता है। **त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित**[7] मे यह विवरण प्राप्त होता है कि एक श्रेष्ठ व्यापारी 'धन' के नेतृत्व मे एक सार्थ वसन्तपुर नगर को प्रमाण करता है। वह एक नगाडे के ध्वनि के माध्यम से सब निवासियो को सूचना देता है कि यदि कोई उसके साथ व्यापार हेतु चलना चाहता है तो वह चल सकता है। इस प्रकार विभिन्न लोगो के साथ वह सार्थवाह के रूप मे यात्रा प्रारभ करता है। उसमे महिलाए भी होती थीं।

प्राय सार्थ दो प्रकार के होते थे प्रथम, वह सार्थ जिसमे व्यापार करने की इच्छा से व्यापारी व्यापारिक केन्द्रो को जाते थे तथा दूसरे वे सार्थ जिनमे धार्मिक उद्देश्य से सघपति के नेतृत्व मे लोग तीर्थस्थानो को जाते थे। इन समूहो के नेतृत्व मे लोग तीर्थस्थानो को जाते थे। इन समूहो मे विभिन्न सम्प्रदाय, जाति तथा स्थान के लोग रास्ते मे डाकुओं से बचने तथा अन्य प्रकार की सुरक्षा प्राप्त करने के लिए सार्थ के रूप मे यात्रा करते थे।

---

1 बृहत्कल्पसूत्रभाष्य, I, 3066 उद्धृत जे० सी० जैन **लाईफ इन एश्येट इंडिया ऐज डिपिक्टेड इन जैन कैनक्स एण्ड कमेन्ट्रीड** पृ० 153
2 पु० प्र० सं० पृ० 110
3 प्रबन्धचि० मेरू पृ० 14; टॉनी 19
4 वही, ता· प्रपा कारितास्तेन यदीयं पिबतां पय तृष्यन्त्यास्यानि पान्थानां न रूप पश्यता दृश पृ० 99
5 बृहत्कथाकोश LV 200
6 तिलकमञ्जरी, पृ० 117
7 त्रि० श० पु० च०, I पृ० 8

इस प्रकार पश्चिम भारत मे ग्यारहवी-बारहवी शताब्दी मे व्यापार तथा वाणिज्य के लिए विभिन्न स्तर पर विभिन्न प्रकार के व्यापारी के होने का ज्ञान होता है। जिनमे श्रेष्ठि तथा सार्थवाह महत्वपूर्ण स्तम्भ थे। श्रेष्ठि स्थानीय सामानो को एकत्रित करता था तथा व्यापारियो को अपेक्षित धनराशि ब्याज पर देता था तथा सार्थवाह सुदूर स्थानो पर जाकर वहां से सामानो का विनिमय एव अच्छी धनराशि अर्जित करने का कार्य करते थे जिससे प्रशासनिक एवं सामाजिक गतिविधियों में वे महत्वपूर्ण स्थान रखते थे।[1]

संघटित जीवन (श्रेणी)

प्राचीनकाल में व्यवसायियो और शिल्पकारो ने अपने-अपने व्यवसाय और शिल्प को एक निश्चित दिशा मे विकसित और सुगठित किया तथा उसकी सुरक्षा और उन्नति के लिए अपने-अपने संगठन बनाए।[2] इन्ही व्यवसायियो तथा शिल्पियों के समुदाय या समूह को श्रेणी कहा गया। भिन्न-भिन्न श्रेणियॉ पृथक-पृथक व्यवसायगत समूहो का प्रतिनिधित्व करती हैं। भारत के आर्थिक जीवन को समुन्नत प्रवर्धित और सुसम्पन्न करने में श्रेणी सस्था का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

मनु पर भाष्य करते हुए मेधातिथि का कथन है कि वणिक, शिल्पकार, साहूकार, तथा कोचवान आदि के सघ ही श्रेणी होते थे।[3] **मिताक्षरा** के अनुसार विभिन्न जातियो का समूह जो एक ही व्यवसाय से सम्बद्ध होते थे श्रेणी कहा गया था[4] यथा हेडाबुकादीनां (घोडों के विक्रेता) तथा ताम्बोलिकाना (ताम्बोलिक)। याज्ञवल्क्य स्मृति के टीकाकार **विज्ञानेश्वर** ने **मिताक्षरा** मे एक ही वस्तु को व्यापारियो अथवा एक ही वस्तु के बनाने वाले शिल्पियो के समूह को श्रेणी कहा है।[5] इसके अतिरिक्त इसी ग्रन्थ मे मनुष्यो का व्यवहार देखने के कार्य मे राजा द्वारा नियुक्त व्यक्ति 'पूग' (समूह), एक कार्य करने वालो की बिरादरी और जाति तथा सम्बन्धियो का समूह (कुल), एक ही वेद को पढ़ने वाले 'नेगम' तथा शस्त्रादि विषयक एक ही कार्य द्वारा जीविका चलाने वालो को 'गण' कहा गया है। (याज्ञ० II-30, 192) हेमचन्द्र के अनुसार श्रेणी शिल्पियो का समूह था।[6] **त्रिषष्ठिशलाकापुरुष**

---

1 जैन वी० के, वही पृ० 221-222

2 जयशंकर मिश्र, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास पृ० 615

3 मनु स्मृ०मेघातिथि की टीका वणिक कारू कुसीदि चातुरिकादय. श्रेणय. श्रेष्याः समान व्यवहार जिविनो वणिक प्रभृत्य VIII, 41, 2.41

4 याज्ञ० श्रेणियों नानाजातीनामेकजातीनामप्येककर्मोपजीविनां संघाताः-यथा हेडाषुकादीनां 11.30

5 मिताक्षरा II 192
एकपण्यशिल्पोपजीविनः श्रेणय· पृ० 234

6 अभिधान III, 316

चरित[1] मे हेमचन्द्र ने अठारह प्रकार के शिल्पियो का उल्लेख किय है। जैनग्रन्थ जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति[2] मे विवृत्त सूची निम्नलिखित है-- (1) कुम्भकार (2) पट्टइला (शिलाकूट) (3) सुवर्णकार (4) सूवकार (बावर्ची) (5) गन्धव (6) कासवग (7) मालाकार (8) काच्छकार (पुष्पविक्रेता) (9) ताम्बोलिआ (तमोली) (10) चम्मयरू (चर्मकार) (11) जन्तुपिल्लक (तैलिक) (12) गच्छिआ (वस्त्र-छापनेवाला) (13) कान्स्यकार (14) छिम्पाय (वस्त्र रगने वाले) (15) सीवग (दर्जी (16) ग्वार (चरवाहा) (17) भिल्ल (शिकारी) 18 धीवर (मछुवारा)

जिनेश्वरसूरि ने **कथाकोशप्रकरण** मे भी 'शिल्पकर्मकारसमुदाय' के रूप मे सुवर्णकार, लौहकार, कुम्भकार, रजक तथा अन्य शिल्पियो के समूह को श्रेणी माना है।[3] इस प्रकार गयारहवी से तेरहवी शताब्दी मे पश्चिमी भारत मे शिल्पियो के समूह के लिए श्रेणी शब्द ही प्रयुक्त होता था जो एक कर्म प्रवृत्त एक जातीय या नानाजातीय का समूह होता था।

इन विभिन्न श्रेणी सगठनो के उल्लेख तत्कालीन विभिन्न चौलुक्य अभिलेखो मे प्राप्त होते है। किराडु अभिलेख (1153 ईस्वी), मारवाड के रतनपुर अभिलेख[4] मे महाजन (Bankers), ताम्बूलविक्रेता तथा कुम्भकार का आनावाड शिलालेख मे नाविक तथा कान्स्यकार[5] का, अर्थुण अभिलेख बासवाडा[6] (1080 ई०) काठियावाड के तिम्बानक अनुदान (1207 ई०) मे[7] तथा कैम्बे अभिलेख (1295 ई०)[8] मे व्यापारियो का उल्लेख आया है। **लेखपद्धति**[9] में ''श्रेणीकरण' का उल्लेख यह बताता है कि चौलुक्यो के काल मे श्रेणी का कार्य देखने के लिए अलग विभाग था।

जिनेश्वर सूरि ने शिल्पियो के लिए श्रेणिगत शब्द का प्रयोग किया है, जिसके अनुसार ये श्रेणी के सदस्य होते थे। इस कथन की पुष्टि अल्बेरुनी के विवरण से होती है।[10] अलबेरुनी[11] ने मास खाने वाले (fowler) चर्मकार, जादूगर, वेशकार नाविक, धीवर, व्याध तथा बुनकरो का आठ व्यवसाय करने वाले लोगो को सगठनो को

1 त्रि० श० पु० च० 1 पृ० 258 अनुवाद III 316
2 वही 1 पृ० 258
3 कथाकोश प्रकरण, पृ० 116-17, पृ० 115
4 सी पी एस आई, पृ० 172, एपि इंडि० XI, पृ० 45
5 इडि एटी० XLI न० 21
6 एपि० इडि० XIV पृ० 302
7 इडि एटी, XI, पृ० 337
8 सी पी एस आई० पृ० 227
9 ले० प० पृ० I,
10 साचउ, भाग-I, पृ० 101
11 वही 101

श्रेणी माना है। वह श्रेणी को शिल्पियो का सगठन न मानकर अन्त्यजो का सगठन मानता है। इन प्रमाणो से यह स्पष्ट होता है कि ग्यारहवी शताब्दी मे इन निम्न वर्गीय शिल्पियो की आर्थिक स्थिति मे श्रेणी के सदस्य होने के कारण पूर्वकाल की तुलना से सुधार हुआ होगा।

श्रेणी के निवास-स्थान—श्रेणी से सबधित उक्त तथ्यो के अतिरिक्त यह भी विचारणीय है कि इनके निवास की व्यवस्था कैसी थी। प्राचीन काल मे श्रेणियो के अलग-अलग ग्राम भी होने के विवरण प्राप्त होते है। यथा अभिलेखिक साक्ष्य भी यह प्रकट करते है कि कुछ प्रमुख जाति के शिल्पियो तथा कारीगरो सहित अष्टादश प्रकृतियो (श्रेणियो) के बडे ग्राम थे।[1] कुछ लेख यह प्रकट करते है कि जाति समूह विभिन्न कलाओं तथा शिल्प को अपनाने वाले विभिन्न खेमो मे रहते थे।[2] प्राचीनकाल मे नगर-योजना के अन्तर्गत भी शिल्पी और कारीगरो के आवास का होते थे।[3] लेकिन अभिलेखो मे यह प्रमाण प्राप्त होते है कि गॉवो मे मिश्रित जाति के लोग निवास करते थे।

लेखपद्धति मे पाच प्रकार के शिल्पी थे (पञ्चकारुकं)[4] इनमे वर्धकी, लौहकार, कुम्भकार, नापित तथा रजक जो सम्भवत ग्राम से सम्बद्ध थे। लक्ष्मीधर के अनुसार खर्वट मे के शिल्पी तथा कृषक दोनो का निवास होता था।[5] बारहवी शताब्दी के भोज की पुस्तक **युक्तिकल्पतरू**[6] मे यह उल्लेख आया है कि स्पृश्य शिल्पी लोग गॉंव या शहर मे ऊॅंची जाति के लोगो के साथ विभिन्न क्षेत्र मे रह सकते थे। किन्तु जिन्हे अन्त्यज या म्लेच्छ माना जाता था, वे आबादी से बाहर क्षेत्रो मे रहते थे। भोज के अनुसार उन्हे शहर की सीमा पर रहना चाहिए। **अपराजितपृच्छा**[7] मे भी यही प्रसग है कि प्रत्येक शहर मे जो लोग चार जातियो से अलग है तथा जो मिस्त्री है उन्हे प्रमुख आबादी वाले क्षेत्रो से अलग रहना चाहिए। **राजतरगिणी**[8] मे चर्मकार को गॉव से बाहर रहने को बताया है। अल्बेरूनी[9] का कथन है कि न केवल चाण्डाल बल्कि बुनकर बेशकार तथा चर्मकार इत्यादि जो अन्त्यज

1 यादव, वही पृ० 42 पादपाठ 464-66
2 वही महोबा प्लेट आफ परमार्द्दिदेव (एपि इडि XVI पृ० 9)
3 एन० सी० बन्दोपाध्याय, इकोनोमिक लाईफ एण्ड प्रोग्रेस इन एश्ये इ० भाग I, पृ० 231
4 ले० प० पृ० 19 (सूत्रधार, लौहकार, कुम्भकार प्रभृति)
5 व्यवहार काण्ड, खवट बहुकरकृषिवतो ग्राम -पृ० 461
6 युक्तिककल्पतरू, पृ० 24
7 अपराजितपृच्छा, पुरे च विप्राश्च क्षत्रियावैश्य शूद्रका तद्‌बाह्यस्तथा चान्यस्तथा स्थापतिसंकुला पृ० 179 V. 42,
8 राज० IV.55
9 यादव वही पृ० 45, 2056 सो० क० न० ई० पृ० 269

के अन्तर्गत आते थे, वे गॉव या शहर के बाहर रहते थे। बी० एम० एस० यादव ने ठीक ही लिखा है कि सभी क्षेत्रो मे यही स्थिति नही पायी जाती थी।[1] लेकिन इन प्रमाणो से यह स्पष्ट है कि जो शिल्पी अन्त्यज के अन्तर्गत वे उन्हे आबादी से दूर, शहर के बाहर सीमावर्ती क्षेत्र मे रहते थे।[2] कृत्यकल्पतरू मे वणिक प्रतिबद्ध शिल्पियो का उल्लेख है कि यही स्थिति नारद के टीकाकार असहाय ने भी बताया है। ऐसे शिल्पी नगरो मे अधिक सख्या मे निवास करतेरहे होगे।

श्रेणी संगठन—

प्राचीन कालीन साहित्य तथा अभिलेखो मे प्रत्येक श्रेणी सगठन के एक प्रतिनिधि के होने का उल्लेख प्राप्त होता है। जेष्ठक, सेदि, प्रमुख, श्रेणीमुख्य, महत्तर, महर, प्रधान, महाश्रेष्ठ महागणस्थ, राजा, पट्टकिल इत्यादि नाम से श्रेणी के नेता होते थे।[3] इनके अतिरिक्त श्रेणी अधिप तथा श्रेणीवश्वर शब्द भी श्रेणी प्रमुख के लिए प्रयुक्त होते थे[4] अभिलेखो मे भी श्रेणी प्रमुख के लिए राजा एव महत्त उपाधियॉ भी मिलती है। यह स्थिति वृद्धिगत सामन्तीय व्यवस्था का द्योतन करती है। अधीतकाल के भाष्यो मे तथा धर्मग्रन्थो मे श्रेणी द्वारा अपने नियम-कानून बनाने के उल्लेख प्राप्त होते है,[5] जिनका उल्लघन करने वाले को दण्डित किया जाता था।[6] इस युग तक आते-आते श्रेणी सगठनो मे श्रेणी प्रमुखो की महत्ता बढी थी। याज्ञवल्क्य स्मृति के टीकाकार अपरार्क[7] ने वृहस्पति का अनुमोदन करते हुए श्रेणी प्रमुख को श्रेणी के सदस्यो द्वारा गलत काम करने पर उनको दण्डित करने के लिए अधिकार दिया है। इस काल के प्राप्त अभिलेखो मे भी श्रेणी प्रमुखो के प्रसग प्राप्त होते है। ए० के० मजूमदार ने यह उल्लेख किया है कि चौलुक्यो के काल मे श्रेणी का कार्य राजकीय विभाग द्वारा चलाई जाती थी जिसको श्रेणी-करण कहते थे।[8] तत्कालीन प्राप्त अभिलेखो से ज्ञात होता है कि श्रेणी अपने सदस्यो पर सावधि कर भी लगाती थी, जो कि एक राशि के रूप मे भुगतान किया जाता था, या उनमे जमा किया जाता था।[9]

---

1 सौं० क० ना० इं० पृ० 269
2 व्यवहार काण्ड, वाणिन्मध्ये वासिभि; कारुप्रभृतिभि पृ० 23
3 गिल्ड आर्गनाइजेशन, पृ० 98
4 दृष्टव्य बी० एन० एस० यादव का प्राचीन इतिहास अनुभाग का अध्यक्षीय भाषण, पो० इ० हि० का० जि० XLI, बाम्बे 1980 पृ० 50 आगे
5 स्मृतिचंद्रिका 111, पृ० 520-33. अपरार्क तथा विज्ञानेश्वर आन याज्ञ० II, 185-9
6 मेघातिथि आन मनु० VII 41. तत्रपदि कश्चिद्वयतिक्रामति स एवं श्रेणीधर्मन्यतिक्रामन्दण्डय।
7 अपरार्क पृ० 794 ल० गोपाल, इकोनोमिक पृ० 85
8 ए० के० मजूमदार, चौलुक्य ऑफ गुजरात पृ० 263
9 वही. पृ २६३

झालरपत्तन के अभिलेख (1086 ई०)[1] मे तैलिक श्रेणी प्रमुख (तैलिक पट्टकिल) का उल्लेख मिलता है। जिसने उदयादित्य के राज्य मे एक शिव मदिर तथा वापी बनवाया था। शेरगढ[2] से प्राप्त एक अभिलेख मे भी तैलिक श्रेणी प्रमुख (तैलिकराज) द्वारा तेल मिल से मदिर के दीपो को तेल देने का उल्लेख प्राप्त होता है। ग्वालियर अभिलेख[3] मे बहुत से तैलिक श्रेणी प्रमुखो (तैलिक महत्तक) का नाम आया है। इसी प्रकार मालियो के प्रमुख (मालिक महर)[4] का उल्लेख तथा मदिरा-विक्रेता (कल्लपाल-महत्तक)[5] एव ताम्बूल विक्रेता (ताम्बूल महर) के प्रमुखो के नाम आते है। **स्मृति-चन्द्रिका** मे यह उल्लेख प्राप्त होता है कि श्रेणी के दो, तीन या पाच सदस्य (कार्यचिन्तक) मिलकर एक परिषद बनाते थे तथा अपने विवाद स्वय निबटाते थे।[6] विवाद बढने पर राजा भी उसमे हस्तक्षेप कर सकता था यह राजा के ऊपर निर्भर था कि वह सोचविचार कर निर्णय दे।

श्रेणी के कार्य—श्रेणी सगठन के कुछ अपने कानून भी थे जिनके अनुसार श्रेणी के सदस्यो को कार्य करना पडता था। ये कानून विभिन्न परपराओं एव रीति-रिवाजो पर आधारित थे। श्रेणी धर्म के अन्तर्गत रहकर ही इसके सदस्य व्यापारिक लेन-देन तथा सामान्य धर्म का पालन करते थे। इन कानूनो को सविद कहा जाता था। जिसमे संविधान के विविध नियम तथा उनका पालन भी सम्मिलित था झगडे निपटाना, लाभ का बटवारा, श्रम का विभाजन तथा विभिन्न अन्य कार्य श्रेणी को करने पडते थे। इसको 'समय' भी कहा जाता था।[7] **बृहस्पतिस्मृति** मे स्थिति पत्र[8] तथा **कात्यायनस्मृति** मे सविदापत्र[9] कहते थे।

इसी प्रकार **स्मृतिचंद्रिका** मे भी श्रेणीधर्म के अन्तर्गत फुटकर विक्रेताओं, शिल्पियो इत्यादि के अपने-अपने समूह के नियमो के अनुसार अमुक दिन सामान बेचना है।[10]

ग्यारहवी-बारहवी शताब्दी के प्राप्त कुछ अभिलेखो से इस बात पर प्रकाश पडता है कि धार्मिक संस्थाओं के रख रखाव का ध्यान भी श्रेणी सगठन रखते थे, जो कार्य वे अपने जमा धन द्वारा करते थे।

---

1 जे० ए० एस० बी० 1914 पृ० 241-43
2 एपि० इडि०, XXIII 131-138
3 वही 1. 159
4 वही 1 17
5 वही 1.75, 1 26
6 वही पृ० 174, II 8-10
7 नारद, X, I;आपस्तम्ब धर्मसूत्र 1,1,2,2
8 बृहस्पति VI,19
9 कात्यायन V, 254
10 स्मृति०,भाग 111 1 पृ० 65

लगभग प्रत्येक दुकान से सामूहिक रूप से भी दान दिया जाता था। 1207 ई० के एक चौलुक्य अनुदान मे ऐसा विवरण मिलता है कि व्यापारी (श्रेष्ठिन) वलहल तथा तिम्बनक के दूसरे व्यापारी (महाजन) लोगो ने भगवान के लिए दान दिया, जो मेहर राजा श्री जगमल्ल द्वारा वार्षिक एक रुपया एक दुकान पर निश्चित किया गया था।[1] इसी अभिलेख मे प्रत्येक व्यापारी तिम्बनक मे एक द्रम्भ वार्षिक, भगवान को देने मे गौरवान्वित महसूस करता था। इसी प्रकार तलझ तथा अन्य स्थानो पर भी एक द्रम्भ वार्षिक रूप से दिया जाता था।

एक स्थान पर ऐसा विवरण प्राप्त होता है, जिसमे श्रेणी प्रमुख द्वारा मन्दिर बनवाया गया तथा उसने अपने व्यवसाय के सदस्यो की ओर से उसके लिए दान किया।[2] ग्वालियर से प्राप्त अभिलेख मे यह उल्लेख है कि तैलिक श्रेणी के सदस्य मन्दिर के प्रत्येक दिन दीप के लिए एक पल तेल दान देते थे।[3] कल्हणदेव के सन्देरवशिलालेख (वि० स० 1221)[4] मे रथकारो के समूह द्वारा दान देने का वर्णन है।

श्रेणी प्रमुख दान भी प्राप्त करते थे। सीयदोणि अभिलेख मे कुम्भकारो द्वारा प्राप्त दान श्रेणी प्रमुख ने मदिरा देने वाले को दिया जो आधे विग्रहपालद्रम्भ के बदले भगवान विष्णु के लिए मदिरा देगा। इसी प्रकार इसी अभिलेख मे एक ताम्बूलिक महर भी अपने सदस्यो से भगवान विष्णु के लिए प्रत्येक पान के पत्ते पर एक विग्रहतुङ्गीयद्रम्म विशोपक लेता था तथा उसे मन्दिर निर्माण के लिए देता था।

विवेच्यकालीन श्रेणी सगठन आर्थिक दृष्टि से अत्यधिक सम्पन्न होते थे, इसलिए उनके द्वारा विभिन्न प्रकार के कार्य सम्पन्न किए जाते थे, जो समाज और देश दोनों के हित मे होते थे। जनकल्याणकारी धर्मिक, आर्थिक, वैधानिक, सैनिक आदि विभिन्न कार्य उनके द्वारा होते थे।

चौलुक्य शासन-काल मे अणहिलपुर के वणिको की स्थिति सुदृढ थी। **प्रबन्धचिन्तामणि** मे ऐसे वणिको का उल्लेख है जो कि कोटिश्वर (एक करोड या अधिक के मालिक) होते थे। उनके घरो पर बडे झडे तथा बजती हुई घटी लगाने की परम्परा थी। ये व्यापारी इतने धनी होते थे कि राजा और राजकुमार भी उनसे आर्थिक मदद ले सकते थे। चौलुक्य नरेश कुमारपाल ने जैनधर्म के प्रचार के लिए इन्ही व्यापारियो का विश्वास प्राप्त किया था, जिससे उन्हे आर्थिक मदद प्राप्त हो सके।

---

1 पुष्पा नियोगी, द कन्ट्रीब्यूशन टू द इकोनामिक हिस्ट्री आफ ना० इन पृ० 257
2 बी० एन० पुरी, हिस्ट्री आफ द गुर्जर प्रतिहार, पृ० 131
3 एपि० इंडि० I पृ० 154
4 वही XI, पृ० 46

श्रेष्ठी वर्ग, व्यापारियो का भी एक वर्ग था। मार्कोपोलो ने अब्रहमण्य (Abraiaman)[1] का उल्लेख किया है। जिसका तात्पर्य और बनिया[2] से लिया गया। मार्कोपोलो ने इनके सत्य भाषण की प्रशसा की है।[3]

इस काल के प्राप्त साक्ष्यो से यह प्रतीत होता है कि श्रेणी अपना सैन्यबल भी रखती थी। मानसोल्लास[4]में श्रेणीबल' का उल्लेख जाति और व्यवसाय (जन्म-कर्म) मे सबधित सेना के रूप मे हुआ है। प्राचीनकाल मे व्यापारिक श्रेणियाँ कभी-कभी अपनी मुद्राएँ भी चलाती थी।[5] किन्तु विवेच्य काल मे श्रेणियो द्वारा मुद्रा प्रवर्तन का कोई साक्ष्य उपलब्ध नही है।

श्रेणी सगठन अपनी आन्तरिक तथा बाह्य सुरक्षा हेतु जो श्रेणीबल रखते थे वे अस्त्र-शस्त्र भी रखते थे, परन्तु नारद ने इसे गैर कानूनी तथा समाज के लिए शाति मे बाधक बताया है।[6] विपत्ति के समय तथा आत्म रक्षा के लिए वे शस्त्र प्रयोग कर सकते थे। कत्यायन का यह कहना था कि जो चोर से बचाता या पानी और आग से बचाता, उसे इसका दसवा भाग देना चाहिए।[7] **मानसोल्लास** मे श्रेणीबल को विभिन्न जाति तथा व्यवसाय का समूह कहा है।[8] श्रेणीबल श्रेणीसदस्यो के अतिरिक्त राज्य के कार्यों मे भी मदद करती थी। यदि राज्य पर कोई विपत्ति आती थी तो ये श्रेणी अपनी सहायता देते थे।

मुद्रा

किसी भी देश या काल की अर्थव्यवस्था का मानदण्ड उस देश या काल की मौद्रिक स्थिति होती है। मुद्राशास्त्र-अर्थशास्त्र का एक अवयव होता है। अतएव शोध ग्रन्थ **प्रबन्धचिन्तामणि** के आधार पर विवेच्यकाल में प्रचलित विनिमय के माध्यमो पर विचार करना भी अभिप्रेत है। प्रस्तुत ग्रन्थ मे तथा उसमे वर्णित नरेशो के प्राप्त अभिलेखो से भी विभिन्न प्रकार के सिक्को की जानकारी होती है। **प्रबन्धचिन्तामणि**[9] मे दीनार,[10] निष्क[11] द्रम्म[12],

1 ट्रैवेल II, पृ० 363-365
2 अप्पादोराई, इकोनामिक कडीशन ऑफ साउदर्न इडिया, पृ० 382
3 ट्रैवेल, II, पृ० 363-365
4 मानसोल्लास 1, पृ० 79, 558
5 जयशकर मिश्र, वही पृ० 665
6 नारद; X,5 गिल्ड आर्गनाइजेशन पृ० 142
7 कात्यायन, V 631
8 मानसोल्लास, भाग I, V.558 पृ० 79; LAI पृ० 318
9 प्रबन्धचिन्तामणि, टॉनी, पृ० 8, 10
10 पृथ्वीराज विजय पर टिप्पणी मे V 90 रूपक ही दीनार का एक प्रकार था।
11 प्रबन्धचि० टॉनी पृ० 10
12 वही, 104, 121, 163, 167, 183-84

विशोपक[1] टङ्क[2] का भी उल्लेख मिलता है। चौलुक्यो के अभिलेखो मे द्रम्म विशोपक, रूपक तथा कार्षापण उल्लिखित है।[3] अभिलेखो मे वीसलप्रिय द्रम्म तथा भीमप्रिय विशोपक का भी प्रसग मिलता है।[4] चौलुक्यों के युग मे मुद्रा का प्रचलन अपेक्षाकृत बहुत अधिक नही था, मूलराज, सिद्धराज, अजय पाल कुमारपाल इत्यादि की लगभग 150/150 से अधिक मुद्राए मिलती है।[5] ए० के० मजूमदार के अनुसार वस्तु-विनिमय ग्रामीण क्षेत्रो मे अवश्य रहा होगा लेकिन भडौच, कैम्बे, धोलक, तथा अणहिल-पाटन जैसे व्यावसायिक नगरो मे सिक्को के अभाव की बात समीचीन नही प्रतीत होती। विभिन्न अभिलेखो मे सिक्को के उल्लिखित नाम एव प्रकार तथा उनकी उपलब्धि के आधार पर भी इसी निष्कर्ष पर पहुचा जा सकता है। कुमारपाल के मगरोल अभिलेख में भीमद्वितीय के कडि अभिलेख सख्या छ (1229 ईस्वी) मे अनावाड अभिलेख जिसमे करो का भुगतान द्रम्म मे किया जाना प्रसगित है। राजाओं द्वारा शुल्क-मण्डपिका से दिया जाने वाला दान जिनका अभिलेखो मे प्रसग आया है वे नकद दिए जाते थे। इन तथ्यो से यह स्पष्ट होता है कि विनिमय का माध्यम मुद्रा ही था। इसके अतिरिक्त सिद्धराज जयसिंह के सिक्के तथा भीमप्रिय एव वीसलप्रिय द्रम्म के अभिलेखिक प्रसग तथा सोमल देवी (पत्नी-भीम द्वितीय) द्वारा प्रचलित रजत एव ताम्र मुद्राओं का प्रचलन स्पष्ट है कि उस काल मे सिक्को का व्यापक प्रचलन था।

दीर्घ अन्तराल के बाद ग्यारहवी बारहवी शताब्दी मे स्वर्ण सिक्को का प्रचलन से उत्तर-भारत के व्यापार तथा वाणिज्य मे प्रगति होने का प्रमाण प्राप्त होता है। भारतवर्ष मे गुप्त-साम्राज्य के पतन के बाद जो स्वर्ण सिक्कों का प्रचलन लुप्त प्राय सा हो गया था। वह त्रिपुरी के कल्चुरि राजा गागेयदेव (1019-1040 ई०) द्वारा पुन· आरम्भ किया गया है।[6] कश्मीर के राजा हर्ष (1089-1101 ई०) ने स्वर्ण मुद्राओं को चलाया।[7] रत्नपुर के कल्चुरि, चन्देल राजा कीर्तिवर्मन, मदनवर्मन परमार्दि तथा त्रैलोक्यवर्मन; गहडवाल राजा गोविन्दचन्द्र, ग्यारहवीं, बारहवीं, शताब्दी के कुछ तोमर राजाओं, परमार, उदयादित्य (1060-1087 ईस्वी) गुजरात के सोलकी नरेश जयसिंह

1 वही, 104
2 प्रबन्धचि०, मेरु० 15; टॉनी पृ० 36
3 विशोपक एपि० इडि० I, 166; एपि० इंडि०, X पृ० 19, द्रम्म, इंडि० एंटी VI, पृ० 202, एपि० इंडि०, I. 272 इत्यादि कार्षापण भण्डारकर इंसक्रिपशन्स, 158 रूपक इडि, एंटी XLI, 202, 203, इंडि, एंटी XI, 337; जर्नल ओरिएन्टल इंस्टी० आफ बडौदा II, 368
4 वीसल प्रिय द्रम्भ एपि० इंडि० XI, पृ० 58; भीमप्रिय-वही 595 नाडोल प्लेट कर्ण
5 ए० के० मजूमदार, चौलुक्य आफ गुजरात पृ० 269; यह तथ्य हमें अपने निर्देशक ओ० पी० श्रीवास्तव जी से ज्ञात हुआ, मुद्राशास्त्र पर प्रकाशित विभिन्न कृतियो तथा जे० एन० एस० आई० तथा ए० एस० ई० रि० के बहुत से जिल्दो के अध्यन के पश्चात वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे है।
6 यादव, सोसाइटी एण्ड कल्चर पृ० 282
7 क्वाइन्स ऑफ मेडीवल इंडिया, कनिघम पृ० 35

सिद्धराज ने (1098-1143 ई०) ने सोने के सिक्के चलाए।[1] जयसिह सिद्धराज के दो सोने के सिक्के [2] उत्तर प्रदेश के झासी जिले के पण्डवहा नामक स्थान से प्राप्त किए गए इनका वजन क्रमश 65 तथा 66 ग्रेन है। [3] 65 ग्रेन के सिक्के का आकार गोल एव 8" है। दूसरे सिक्के का आकार अनिश्चित है तथा इसकी माप .8" से 9" है। इन सिक्को पर श्री सिद्धराज लिखा है तथा प्रत्येक पक्ति के बाद दो चिह्न प्रतीत होते है, परन्तु ये शब्द है या आकृति या जान पाना कठिन है।[4] इन सिक्को की विशेषता यह है कि इनमे किसी देवी का चित्र अकित नही है, जैसा कि पहले के सिक्को मे प्रचलन था।[5] रजत मुद्राओं पर भी किसी देवी का चित्र नही प्राप्त होता है। 13 रजत मुद्राओं पर भी श्रीमज्जयसिह अकित है। [6] अमृत पाण्डेय[7] कहते है कि यह सिक्के गुजरात के नरेश जयसिह सिद्धराज के थे, लेकिन यू० पी० शाह [8] ने इसे अजयपाल के बाद अल्प अवधि के लिए चौलुक्य राज को अपहृत करने वाले जयसिह के बताए है परन्तु यहाँ शाह इस नरेश के ताम्र पत्र को प्रमाण मानते है, जिसमे श्रीमज्जयसिह देवस्य अकित है। जिन्हे 1142-1173 ई० के बीच प्रवर्तित किया। किन्तु राय इस मत को उचित नही मानते है।[9] इन सिक्को के दूसरी ओर हाथी का चित्र है। अमृत पाण्डेय[10] के अनुसार वे या तो लक्ष्मी का प्रतीक है या फिर अवन्ति विजय की यादगार स्वरूप था। इनका वजन 1.715 ग्राम (लगभग 20 ग्रेन्स) तथा आकार एक इच का .3"है।[11]

जयसिंह के कुछ ताम्र सिक्के भी प्राप्त हुए है। ये हाडीवाला के सग्रहालय मे है। [12] जी० वी० आचार्य[13] के अनुसार ये आकार मे छोटे तथा वजन मे हल्के थे। इसी प्रकार कुमारपाल तथा अजयपाल द्वारा प्रचलित सिक्को के उल्लेख भी प्राप्त होते है। कुछ सोने के सिक्को, जो बैठी हुई देवी प्रकार के है, पर श्रीमत् कुमारपाल

---

1 कैटलाग ऑफ क्वाइंस इन द इंडियन म्यूजियम कलकता भाग I व गोपाल, वर्मा मेडीवल क्वाइन टाईप आफ नार्दन इडिया
2 जे० ए० एस० बी० (1907) पृ० 51
3 वही
4 वही पृ० 5
5 राय पी० सी० द कॉइनेज आफ नार्दन इडिया
6 जे० एन० एस० आई०, XV, पृ० 284-श्रीम ज्जयसि ड्ह
7 वही XVI, पृ० 283-284
8 वही गुप्ता पी० एल०, XVIII, पृ० 207
9 राय, द काइनेज-पृ० 82
10 जे० एन० एस० आई० XVI, पृ० 284
11 वही पृ० 283
12 अल्तेकर ए० एस०, वही, पृ० 284
13 वही

देव अकित है।[1] कुछ रजत सिक्को पर भी अजयपाल देव अकित है।[2] कनिघम[3] ने इन्हे तोमर वश के राजकुमारो का माना है परन्तु इन्हे गुजरात के ही कुमारपाल तथा अजयपाल का बताया गया है। कुमारपाल ने केवल स्वर्णमुद्रा ही प्रवर्तित की थी। दो सिक्के इसमे इडियन म्यूजियम, कलकत्ता मे और एक मथुरा म्यूजियम मे रखा है।[4] अजयपाल ने केवल रजत के ही सिक्को को प्रचलित किया, उसके सिक्के कुमारपाल की अपेक्षा घटिया थे। ब्रिटिश म्यूजियम[5] मे दो सिक्को है तथा कनिघम [6] ने इसे शासक के एक सिक्के को प्रमाणित किया है।

प्राचीनकाल मे सिक्को पर राजा लोग अपने नाम के साथ उपाधि भी लिखवाते थे। कुछ शासक ऐसे भी थे जो केवल श्री ही लिखवाते ते[7]—जैसे जेठदत, धनभूति, ज्येष्ठ मित्र इत्यादि। इसी प्रकार विवेच्यकालीन नरेश भी अपने नाम के साथ श्रीमत जोडते थे। इसके साथ ही प्राचीन परम्परानुसार सिक्के के दूसरी ओर जानवर, देवी, देवता इत्यादि के चित्र अकित होते थे, वैसे ही जयसिह के सिक्के पर हाथी का चित्र है।

अधीतकाल मे सिक्को के वजन मे कुछ अन्तर प्रतीत होता है। प्रारम्भिक युग की तुलना मे इस काल के सिक्को का वजन कुछ कम था। जो स्वर्ण सिक्के पूर्व के युगो मे 120 ग्रेन के होते थे तथा बढते हुए इनका वजन लगभग 146 ग्रेन हो गया था। वह इस काल मे केवल 60 ग्रेन ही रह गया।[8] इसी प्रकार का अवमूल्यन रजत तथा ताम्र सिक्को मे भी देखा जाता था। अधिकतर सिक्को का वजन स्तर यूनानी ड्रैकम 56 ग्रेन से 67.5 ग्रेन के बराबर था। केवल रजत का ही नही बल्कि तत्युगीन राजवशो के स्वर्ण एव ताम्र मुद्राओं के वजन-स्तर मे भी ग्रीक ड्रैकम वजन प्रणाली का ही अनुकरण मिलता है।

मध्य भारत, उत्तर-प्रदेश, मालवा, राजस्थान, पजाब तथा भारत के उत्तर पश्चिम मे भी सोने के अतिरिक्त अन्य धातुओं जैसे रजत, ताम्र, रजत, कास्य तथा ताम्र सिक्को के प्रचलन होने के प्रमाण प्राप्त होते है। इस प्रकार मौद्रिक प्रमाण यह स्पष्ट करते है कि सिक्को का प्रवर्तन चौलुक्य शासको द्वारा एव परवर्ती राष्ट्रकूटो द्वारा किया गया था जो तत्कालीन आर्थिक समृद्धि एव वृद्धिगत व्यापार एव वाणिज्य का द्योतन करते है।

---

1 सी० एम० आई०, पृ० 85 प्लेट IX, 3
2 वही पृ० 85 प्ले० IX, 2
3 वही पृ० 84-85
4 स्मिथ, वी० ए० सी० सी० आई० एम० I पृ० 259
5 म्यूजियम रिपोर्ट, जे० एन० एस० आई० XXIII, पृ० 486
6 प्लेट 16 नं० 20 तथा 21
7 के० के० थपलियाल, स्टडीज इन एन्स्यन्ट इण्डियन सील्स पृ० 84
8 जे० एन० एस० आई० II, पृ०2

ग्यारहवी-बारहवी शताब्दी की पुस्तको मे मुद्रा व्यवस्था का वर्णन तो किया है, परन्तु स्वर्ण-रजत तथा ताम्र के मूल्य का अनुपात नही बताया है।[1] भास्कराचार्य की लीलावती[2] के अनुसार 16 पण, एक द्रम्म के बराबर थे, तथा 16 द्रम्म एक निष्क के बराबर थे। मुद्रा का नाम पण, द्रम्म तथा निष्क क्रमश ताम्र, रजत एव स्वर्ण के लिए प्रयुक्त हुआ है। लेकिन इस पुस्तक मे द्रम्म तथा निष्क सिक्को के वजन का उल्लेख नही हुआ है। इसलिए स्वर्ण तथा रजत के मूल्यो के अनुपात के विषय मे कोई भी गणना केवल अनुमान हो सकती है। यदि यह माना जाय कि द्रम्म तथा निष्क पूर्वमध्यकाल के रजत एव स्वर्ण सिक्के थे, जो कि ड्रैकम के वजन पर आधारित थे। इस आधार पर स्वर्ण एव रजत के बीच 1 16 का अनुपात अनुमानित कर सकते है।

इसी युग के एक चादी के द्रम्म का वजन 50 ग्रेन (जिसमे मिलावट के 20% तथा वास्तविक चादी का मिश्रण 40 ग्रेन्स ही था) तथा एक ताम्र पण का वजन 140 ग्रेन्स था। ए० एस० अल्तेकर[3] ने रजत तथा ताम्र की बीच 1 56 का अनुपात अनुमानित किया है। तथापि **लीलावती** के एक पण को 20

माश[4] माने तो दोनो धातुओं का अनुपात 1 70 हो जायेगा। तत्कालीन प्रचलित सिक्को का विस्तृत वर्णन इस प्रकार है—

द्रम्म—अधीतकाल मे द्रम्म सर्वाधिक प्रचलित था। **प्रबन्धचिन्तामणि** मे कई स्थलों पर द्रम्म का प्रयोग क्रय-विक्रय दान, विनिमय इत्यादि के सदर्भ मे प्रसगित है। प्रस्तुत ग्रन्थ मे आभड नामक व्यापारी द्वारा तीन लाख द्रम्म तक सग्रह करने का उल्लेख है।[5] एक अन्य स्थल पर यह उल्लेख मिलता है कि सोलाक नामक सगीतकार ने अपनी सगीतकला से राजा कुमारपाल को प्रसन्न किया तथा (116) एक सौ सोलह द्रम्म पारितोषिक प्राप्त किया।[6] इसी प्रकार के अन्य सदर्भ भी है। कवितापाठ करने पर सोमेश्वर पडित को सोलह हजार द्रम्म से सम्मानित किय।[7] इसके अतिरिक्त चौलुक्य राजाओं के अभिलेखो मे भी द्रम्म प्रसगित है।[8] हेमचन्द्र ने **द्वयाश्रयकाव्य**[9]

1 शुक्रनीति, IV.2 181-182
2 लीलावती, वराटकाना दशकद्वयं यत् सा काकिणी, ताश्च पणश्चतस्त्रः। ते षोडश द्रम्भ इहावगम्यो द्रम्यैश्च तै षोडशमिश्च निष्क। पृ० 1 नं० 2
3 जे० एन० एस० आई० II, 13
4 यावोविशतितमो भाग पणस्य परिकीर्तित मिताक्षरा आन याज्ञ० 1 365; गृहस्थकाण्ड पृ० 218
5 प्रबन्धचि०, मेरू० पृ० 69, टॉनी पृ० 104
6 वही, पृ० ८०ऋ टॉनी पृ० 120
7 वही, पृ० १०३ऋ टॉनी पृ० 163
8 एपि० XI, पृ० 47-48; वही से० 1228 पृ० 48, इडि एंटी, XI, पृ० 337 इंडि० एंटी० VI, 202; वही, वि० स० 1317 पृ० 212, आर्केलाजिकल सर्वे आफ इंडिया 1937\6-37, पृ० 120 ए० बी० ओ० आर० आई० भाग XXIII, पृ० 314-15; एपि० इंडि० XXI, पृ० 171
9 द्वयाश्रयकाव्य XX, 10

मे द्रम्भ का प्रयोग विभिन्न सदर्भो मे किया है। **पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह**[1] मे भी दान, भिक्षा, पुरस्कार इत्यादि के लिए द्रम्म का ही प्रयोग होता था। **सुकृतकीर्ति-कल्लोलिनी** मे भी दान हेतु द्रम्म का प्रयोग किया गया है।[2] डी० आर० भण्डारकार[3] तथा वी०वी० मिराशी[4] के अनुसार द्रम्म केवल चादी का ही होता था। लेकिन अभिलेखिक तथा मौद्रिक साक्ष्य यह बताते है कि द्रम्म रजत के अतिरिक्त स्वर्ण तथा ताम्र के भी होते थे।[5] ए० के० मजूमदार[6] ने यह कहा है कि राष्ट्रकूट साम्राज्य[7] के उत्तरी क्षेत्र मे द्रुम्म रजत एव स्वर्ण दोनो के लिए प्रयुक्त किया जाता था। तथा चौलुक्यो के अभिलेखो मे चादी तथा सोने दोनो द्रम्म का उल्लेख हुआ है। बिमान अनुदान पत्र मे कि एक मदिर को एक रौप्य तथा एक द्रम्म देने की बात कही गयी है यह स्वर्ण सिक्का प्रतीत होता है।[8] इसी मे यह भी प्रसगित है कि मदिर को एक रौप्य प्रतिदिन तथा एक द्रम्म वार्षिक अनुदान दिया जाता था परन्तु इसमे यह सदेह है कि यह दो अलग-अलग अनुदान थे, या एक ही अनुदान मे प्रतिदिन तथा वार्षिक दान की बात कही गयी है।[9] इससे यह प्रतीत होता है कि यह स्वर्ण द्रम्म रहा होगा। लीलावती[10] भी द्रम्म को रजत मुद्रा ही कहा गया है। प्रसगित साहित्यिक एव अभिलेखिक साक्ष्यो मे भी द्रम्म के रजत एव स्वर्ण दोनो मुद्रा होने का ही आभास मिलता है।

कभी-कभी राजाओ द्वारा प्रचलित किए जाने पर सिक्के उन्ही के नाम से जाने जाते थे। **पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह** मे चौलुक्य नरेश भीम द्वारा प्रचलित द्रम्म 'भीमप्रिद्राम' का उल्लेख आया है।[11] अभिलेख मे भी गुजरात तथा मारवाड के महाराज वीसलदेव द्वारा प्रवर्तित वीसलप्रिय द्रम्म का उल्लेख आया है।[12] वि० स० 1345 के अभिलेख[13] मे 'रौक्म-वीसल प्री० द्र उल्लिखित है, इसमे वीसलप्री द्र०, वीसलप्रिय-द्रम्म वीस-द्र, तथा वीसलपुरी द्र[14]

---

1 पु० प्र० स० पृ० 17, 30, 34, 39, 43, 51, 52, 59, 62, 68, 75, 95, 100, 105
2 सुकृत पृ० 13
3 भण्डारकार, वही, पृ० 206
4 जे० एन० एस० आई०, III, पृ० 25
5 इडि० एटी, XIII,
136 (कचन-द्रम्म शतम्), जे० एन० एम० आई० VIII, पृ० 140
6 ए० के० मजूमदार, वही पृ० 273; जे० एन० एस० आई०, XVII, 77
7 ए० एस० अल्तेकर, राष्ट्रकूटाज.पृ० 364
8 इडि० एंटी० XI, 307
9 जे० एन० एस० आई०० XIX, 118
10 लीलावती, I 24
11 पु० प्र० स०, पृ० 33, 34
12 एपि० इडि०, XI, पृ० 57
13 बाम्बे गजेटियर I पृ० 488
14 जे० एन० एस० आई०, XVII 72

शब्दावलिया मिलती है।'' लेखपद्धति ने इसे विश्वमल्ल प्रिय तथा वीसलप्रिय द्रम्म कहा है।[1] चौलुक्यो के अतिरिक्त अन्य राजवशो के द्वारा भी द्रम्म का प्रवर्तन किया गया जो उनके नाम से जाने जाते ते। राजस्थान से प्राप्त एक सिक्के का उल्लेख धोड (मेवाड) 1171 ई० मे भी हुआ है वह चाहमान द्वारा जारी किया गया अजयदेव द्रम्म कहलाता था।[2] भोज-प्रतिहार वश के विनायकपाल द्वारा (914-33 ईस्वी० मे) द्रम्म जारी किया गया।[3] इससे यह प्रतीत होता है कि शासक अपने नाम से मुद्रा प्रवर्तित करते थे यह परम्परा सर्वथा नवीन नही है।

पचीयक-द्रम्म—सीयदोणि अभिलेख[4] मे पचीयक-द्रम्भ का उल्लेख मिलता है जिसका सही अर्थ स्पष्ट नही है। इस सम्बन्ध मे एक विचार यह है कि यह स्थानीय पचायत द्वारा चलाया गया होगा।[5] इसे पाच **बोड्डिक** भी कहा है/ एक बोड्डिक 11 2 ग्रेन के बराबर होती है। एक पचीयक द्रम्म 5 बोड्डिक का अर्थ 56 ग्रेन होता है। इसके वजन की समानता ओहिन्द के ब्राह्मणशाही शासको द्वारा प्रवर्तित रजत मुद्राओं से की जा सकती है।[6]

पारुत्थ-द्रम्म—**प्रबन्धचिन्तामणि**[7] मे यह उल्लेख मिलता है कि कान्यकुब्ज के पञ्चकुल ने महणिका के विवाह मे प्राप्त हुई भेट से होने वाली आमदनी, जो 24 लाख पारुत्थ द्रम्म थी वसूल कर उससे एक हजार घोडे मगवाये थे। इन पारुथ्थ द्रम्भ का उल्लेख **पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह**[8] मे भी आया है। इन्हे पारुथ्थक-द्रम्म या पारुथ्थ कहा गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ मे एक पारुथ्यक द्रम्म को आठ द्रम्म के बराबर बताया गया है। ये सिक्के शुद्ध चादी के होते थे। **खरतरपगच्छ वृहद्गुर्वावलि** (1010-1336 ई०) मे भी पारुथ्य द्रम्भ आया है।[9] **लेखपद्धति** में इसका नाम पारौपथ[10] या पारुपथक[11] द्रम्म मिलता है। इसका प्रचलन राजस्थान, मालवा, गुजरात, कोकण तथा मारवाड के क्षेत्रो मे था। कुछ विद्वानो ने इस सिक्के को विदेशी बताया है, चूकि इसका प्रचलन मारवाड तथा कोकण मे व्यापक रूप से हो रहा था, इसलिए इसे किसी विदेशी सिक्के का रूप बताना उचित नही है।[12] **लेखपद्धति** मे

---

1 ले० प०, 33, 37, 39, 55, 42
2 एपि० ईडि०, I पृ० 162
3 सी० सी० आई० एम० पृ० 239, ए० एस० आई० 1927-28 पृ० 108
4 एपि० इंडि० 1, पृ० 162
5 भडारकर, इडि० न्यूमिस्मैटिक्स पृ० 208
6 जे० आर० ए० एस० बी० XXVI, पृ० 33
7 प्रबन्धचि० मेरू० पृ० 13
8 पु० प्र० पृ० 51, 53, 78, 128
9 खरतरपगच्छ, पृ० 2, 13
10 ले०० प० पृ० 34, 41, 35, 36
11 वही पृ० 43
12 जे० एन०० एस० आई०, XV14, 75

यह कहा गया है कि यह सिक्का श्रीमाल से, जारी किया गया। वी० एस० अग्रवाल का विचार है कि यही भिल्लमाल या श्रीमालीय द्रम्म है।[1]

बहुत से राजवशो के अभिलेखो मे द्रम्म-मुद्रा का उल्लेख बिना किसी विशेष उपसर्ग आदि के हुआ है। उदाहरणार्थ चाहमान वश के हर्ष के अभिलेख (वि० स० 1030)[2] अश्वक के बालि अभिलेख (वि० स०० 1200)[3] मे अल्हणदेव के नडोल पत्र मे (वि० स० 1218)[4] कीर्तिपाल का 'नडोल (1218)[5] परमार यशोवर्मन का कलवन[6] अर्थुण अभिलेख[7] परनारायण शिलालेख[8] कन्नौज के प्रतिहारो के आहार[9] एव पेहोमा[10] अभिलेख इत्यादि। अत विभिन्न अभिलेखो मे उसके प्रयोग से यह स्पष्ट होता है कि विवेच्य काल मे द्रम्भ विनिमय का प्रमुख साधन था।

द्रम्म नवी शताब्दी के उत्तर भारत मे सर्वाधिक प्रचलित मुद्रा थी। यह केवल उत्तर-भारत तक ही नही सीमित थी बल्कि दक्षिण-भारत के अभिलेखो मे भी इसके प्रचलन के प्रमाण मिलते है।[11] सबसे पहले सियदोणि मे इसका प्रयोग मिलता है। बाद मे प्राय इसका प्रयोग हुआ है इससे ऐसा लगता है कि द्रम्भ के निम्नतम विभाजक अश के रूप मे विशोपक का उल्लेख मिलता है दसवी-बारहवी के बीच जो व्यापक रुप से प्रचलित हुआ।

विंशोपक—प्रबन्धचिन्तामणि मे विभिन्न मुद्राओं का उल्लेख आया है जिनमे विंशोपक भी एक है। इस ग्रन्थ मे एक कथा मिलती है जिसमे एक गरीब आदमी अपने पिता की मृत्यु के बाद एक दिन का वेतन पाच विंशोपक स्वीकार करता है।[12] ऐसा प्रतीत होता है कि एक द्रम्भ का यह सबसे निम्न अश था। यह द्रम्म का 20सवा भाग था।[13] **पुरातन-प्रबन्ध-सग्रह**[14] मे भी विशोपक, विसोपक, विसोपक, विसोपक, विशोपक, विसोपग तथा विसोवग

1 वही XVII, पृ० 75
2 एपि० इडि० II, पृ० 116
3 वही XI पृ० 32
4 वही IX, पृ० 63
5 इडि० एटी XL पृ० 144
6 एपि० इंडि० XIX, पृ० 69
7 वही XIV पृ० 295
8 इडि० एटी० XLV पृ० 77
9 इंडि० एंटी XVI पृ० 173
10 ए० बी० ओ० आर० आई० XXIII
11 एपि० इडि० XVI, पृ० 285. जे० एन० एस० आई०० III, पृ० 37
12 प्रबन्धचि० मेरू० पृ० 69, टॉनी पृ० 104
13 ए० के० मजूमदार, वही पृ० 274
14 पु० प्र० स० 132

कहा जाता था।[1] डी० आर० भडारकर[2] ने विशोपक को एक ताम्र का सिक्का बताया है और इसका मूल्य द्रम्म का 1/20वा बताया है। मेरुतुङ्ग के वर्णन के आधार पर एक व्यक्ति को सबसे कम वेतन, 150 विशोपक मासिक मिलता था, यदि विशोपक द्रम्म का बीसवा भाग था तो एक व्यक्ति को 7-1/2 द्रम्म प्राप्त होते थे।[3] विंशोपक ताम्र-मुद्रा थी यह तथ्य सियदोणि अभिलेख[4] से भी स्पष्ट है जिसमे मासिक कर विग्रहतुगीयद्रम्म, 10 विशोपक लगता था। भिनमल के अभिलेख (1182 ई०)[5] मे इसका मूल्य द्रम्म से बहुत कम आका गया है। इस अभिलेख मे प्रत्येक द्रम्भ पर एक वि० कर लगता था। ठक्कुर फेरू (13हवी श०)० के **द्रव्य-परीक्षा** मे भी द्रम्म का मूल्य 20 विंशोपक कहा जाता है।[6] कुछ अभिलेखो मे विशोपक को द्रम्म मे नही बदला गया है, अभिलेखो मे विंशोपक को विग्रह-द्रम्म, वराह, द्रम्म तथा भीमप्रिय-द्रम्भ से सम्बन्धित किया गया है।[7] अर्थुण अभिलेख (1079 ई०) मे इसे वृष-विशोपक से सम्बोधित किया है।[8] इन विशोपको को सम्भवत वृष या अश्व प्रकार की मुद्रा भी कहा जाता था।[9]

रूपक—तत्कालीन प्रचलित मुद्राओं मे रूपक भी उल्लिखित है। विभिन्न स्रोत यह प्रकट करते है कि रूपक कोई नवीन मुद्रा नही अपितु द्रम्म का ही अवमूल्यन है। **प्रबन्धचिन्तामणि**[10] मे अर्द्धरुपक का उल्लेख आया है। हेमचन्द्र का **द्वयाश्रयकाव्य** मे भागक तथा विशतिक शब्द आया है। प्रस्तुत ग्रन्थ के टीकाकार अभयतिलकमणि ने भागक को रुप्यकार्ध[11] रुपया का आधा बताया है। विशतिक से तात्पर्य है कि कोई वस्तु जो बीस रुपक मे खरीदी जाती थी।[12] **द्वयाश्रयकाव्य** मे ही रुप्य शब्द प्रयोग हुआ है जिसका तात्पर्य रुपक से है, यह चाँदी का सिक्का था (द्वया XVII-79) । **राजतरंगिणी** तथा **कथासरित्सागर**[13] मे सुवर्ण-रुपक का उल्लेख हुआ है लेकिन अधिकाशत रुप्य रूपक का प्रयोग चाँदी के सिक्को के लिए किया गया है।[14]

1 जे० एन० एस० आई० XVIII, 80
2 एपि० इडि० X, पृ० 19
3 ए० के० मजूमदार, पृ० 274
4 एपि० इडि० I, 173, 1-20
5 बाम्बे गर्जेटियर, तेषा प्रति द्र० वि० 1. लम्य 1, पृ० 47
6 द० शर्मा, अर्ली चौहान, डाइनेस्टीज पृ० 319
7 सी० आई० आई० IV, पृ० C/XXXIX पाद टिप्पणी 7
8 जे० एन० एस० आई० XVII 81
9 एपि० इंडि०, XIV 295
10 प्रबन्धचिन्तामणि, टॉनी पृ० 38
11 द्वयाश्रय, XVII 93-94
12 वही पृ० 81
13 जे० एन० एस० आई० XIV 116 राज० 1, VI, 45; पृ० 239 कथा० 78, 11, 13
14 वही पृ० 117

चौलुक्यो के एक अभिलेख मे भी रुपक शब्द प्रयुक्त हुआ है जिसमे एक द्रम्म वार्षिक तथा एक रूपक प्रतिदिन अनुदान देना प्रसगित है।[1] गुहिलराज अल्लट के आहार (मेवार) अभिलेख (953 ईस्वी) मे भी हाथी के विक्रय पर एक द्रम्म कर तथा घोडे के विक्रय पर दो रुपक का उल्लेख है[2] ऐसा प्रतीत होता है कि रुपक रजत तथा द्रम्म स्वर्ण मुद्रा के लिए प्रयुक्त हुआ होगा या रुपक द्रम्म का कोई एक अश रहा होगा।

यहा पर द्रम्म की कीमत रूपक की तुलना मे बहुत अधिक रही होगी। यहा पर प्रयुक्त द्रम्म पारुहथ द्रम्म हो सकता है जिसकी कीमत 8 चादी के सिक्के बताई गई है। कल्चुरि राजा कृष्ण राज ने भी (कृष्ण राज-रुपक)[3] परवर्तित किया था जिसका वजन 30 ग्रेन था।

रुपक वास्तव मे चादी का सिक्का था तथा इसके द्रम्म के समान माना गया है। बी० एन० पुरी[4] कहते है कि इसका मूल्य द्रम्म के 1/4 तथा 1/20 के बीच था। गणितसार की गुजराती टीका से यह ज्ञात होता है कि एक द्रम्म पाच रुपक के बराबर था।[5] इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि विवेच्यकाल में चादी के जो सिक्के प्राप्त हुए है जिनका वजन लगभग 13 5 ग्रेन्स था, वे सभी रुपक थे।[6]

दीनार—अधीतकालीन प्रचलित स्वर्ण मुद्राएँ निष्क, दीनार तथा टङ्क थी। दीनार मुद्रा का प्रसग **प्रबन्धचिन्तामणि**[7] मे आया है। दीनार का उल्लेख **प्रबन्धकोश**[8] तथा **पुरातन प्रबन्ध-संग्रह**[9] मे भी प्राप्त होता है। राज**तरंगिणी**[10] **मे** हमे सोने, चॉदी तथा ताबे की दीनारो का उल्लेख मिलता है। पृथ्वीराज(वि)जय महाकाव्य[11] **के** आलोचक जोनराज ने अपने भाष्य में अजयदेव के चादी के सिक्के को रुपक दीनार का एक विशेष भाग बताया है।

दीनार प्रथम शताब्दी ईस्वी में कुषाण राज्य मे रोमन डिनेरियस से लिया गया एक भारतीय सोने का सिक्का था[12]/ लल्लन जी गोपाल[13] के अनुसार पुराना दीनार लैटिन डिनेरियस शब्द से निर्मित है। **बृहत्कथाकोश**[14] में

1 इंडि० एंटी XI, पृ० 337
2 इंडि० एटी LVIII, पृ० 162
3 जे० एन० एस० आई०, III, पृ० 36
4 प्रतिहार, पृ० 136
5 जे० एन० एस० आई०, VIII, पृ० 144
6 ई० एल० एन० आई०, पृ० 206 (इकनोमिक लाइफ ल० गोपाल)
7 प्रबन्धचि०, मेरू पृ० 5, टॉनी पृ० 8
8 प्रबन्धकोश पृ० 78
9 पु० प्र० स० पृ० 5, 6, 22, 30, 33, 117
10 राज० VII 950
11 जे० एन० एस० आई०, XIX. 117
12 भण्डारकर, आर० जी० एंश्येट इंडियन न्यूमिस्मैटिक, पृ० 67
13 इकोनोमिक लाईफ आफ नार्दन इंडिया पृ० 209
14 बृहत्कथाकोश, 142-43 जे० यू० पी० एच० एस० 1446, भाग XIX भाग I-II

दीनार शब्द का प्रयोग स्वर्ण सिक्के के लिए हुआ है। सस्कृत शब्दकोश मे इसे स्वर्ण मुद्रा कहा है। डा० अल्तेकर के अनुसार सोने दीनार का वजन सभवत 3/4 तोला था।

टङ्क—प्रवन्धचिन्तामणि मे एक प्रसग है कि राजा भोज ने याचको को सोने के टङ्क (सुवर्णटङ्कान्)[1] दान दिया। **प्रवन्धकोश**[2] मे भी राजशेखर ने (हेमटङ्क तथा सुवर्णटङ्क) का प्रयोग कई स्थानो पर किया है। पुरातन-प्रबन्ध-सग्रह मे भी टङ्क का प्रयोग आया है।[3] (खरत्तरगच्छ-बृहदगुर्वावली)[4] मे हेमटङ्क तथा रौप्यटङ्क का उल्लेख हुआ है, दशरथ शर्मा ने इसे मुस्लिम सिक्का बताया है और जिसे राजस्थान तथा गुजरात के युद्ध के बाद खिलजियो ने चलाया था। किन्तु इसका उल्लेख कल्हण के **राजतरंगिणी**[5] मे भी है जिससे यह प्रमाणित होता है कि इसका प्रयोग भारत मे मुस्लिम आक्रमण के पहले से ही हो रहा था[6]/ टङ्क मूलत वजन मे साधारण 4 माश या 8 रत्ती या 14 64 ग्रेन के थे। गणितसार की टीका[7] मे ठक्कुर फेरू ने 50 द्रम्म को 1 टङ्क के बराबर बताया है। यहाँ पर यह स्पष्ट है कि टङ्क सिक्का सोने का था। वी० वी० मिराशी[8] इसे गागेयदेव के स्वर्णमुद्राओं के समकक्ष का बताया है जिसमे भगवती या लक्ष्मी का चित्र बना था। वह कहते है कि इस युग के सोने के सिक्को को टङ्क कहा जाता था। यद्यपि अन्य किसी भी अभिलेख मे सोने के सिक्को के लिए इसका उल्लेख नहीं हुआ है। बल्कि निष्क, सुवर्ण और दीनार का उल्लेख ही हुआ है जिनका वजन तकनीकी ढग से प्रयोज्य था। कनिघम[9] महोदय ने इसकी भारतीय उत्पत्ति बताई है तथा इसे ताबे का सिक्का भी कहा है।

निष्क—प्राचीनकाल मे निष्क, सिक्के के अतिरिक्त स्वर्णहार को भी कहा जाता था। **प्रबन्धचिन्तामणि**[10] मे भी इसका प्रयोग मौद्रिक प्रसग मे ही हुआ है। **द्वयाश्रयकाव्य**[11] मे निष्क को सोने का टुकडा बताया गया है तथा इसका वजन 108 पल बताया है। गणितसार पर गुजराती भाष्य मे एक पल को चार कर्ष के बराबर बताया है।[12] प्रत्येक कर्ष मे आठ रत्ती माना गया है। जिससे निष्क को एक बडे आकार का सोने का सिक्का बताया

1 प्रबन्धचि०, मेरू० पृ० 25
2 प्रबन्धकोश, पृ० 10, 29, 31, 37
3 पु० प्र० सं०, पृ० 117
4 जे० एन० एस० आई०, XXII, 119
5 राज० VIII, 142
6 एच० आई० ई० टी० III, पृ० 445; आर० आई० बी०, पृ० 357
7 दशरथ शर्मा, अर्ली चौहान डाइनेस्टीज, पृ० 356 पा० टि० 4
8 सी० आई० आई० पृ० (lxxxiii)
9 जे० आर० ए० एच० बी०, XXVI, पृ० 33
10 प्रबन्धचि० टॉनी पृ० 10
11 द्वयाश्रयकाव्य, XVII 83-84
12 जे० एन०० एस० आई०, VIII, पृ० 140-142

है। अधीतकाल मे इतने वजन का कोई सिक्का नही प्राप्त होता है। वास्तव मे निष्क का वजन एक सिक्के की अपेक्षा धात्विक अधिक है **लीलावती** के अनुसार एक निष्क सोलह द्रम्भ के बराबर था जो चादी का सिक्का था।[1]

कार्षापण—चौलुक्यो के अभिलेखो मे कार्षापण का उल्लेख आता है। इसके अतिरिक्त समकालीन अन्य साहित्यिक साक्ष्यो और अभिलेखो मे भी इसका वर्णन मिलता है।[2] कार्षापण को एक चादी का सिक्का माना गया है तथा इसका वजन एक कर्ष या 80 रत्ती या 146.4 ग्रेन बताया गया है। **लीलावती** मे सोलह पण को एक द्रम्भ के बराबर बताया गया है, जिससे पण और कार्षापण का सम्बन्ध जाना जा सकता था। एक अन्य संभावना यह भी है कि कार्षापण का वजन रजत पुराण के बराबर था। गणितसार[3] पर गुजराती भाष्य मे एक पुराण जो कि प्राचीन कार्षापण था उसे सोलह पण के बराबर विवृत्त किया गया है। भोजदेव के कामन शिलालेख में द्रम्भ के साथ पण का उल्लेख मिलता है।[4] 16 पण को एक पुराण, द्रम्भ तथा कार्षापण के बराबर बताया गया है। पण सिक्के का वजन एक कर्ष या 146.6 ग्रेन्स था।[5]

80 कौडी 16 पण=1 पुराण, गणितसार के अनुसार था, इस आधार पर ए० के० मजूमदार ने 1 पण को 5 कौडी के बराबर बताया है। सिक्को की सूची मे हमे 20 वराटक या कु० व =1 काकिणी या बोडी और 4 काकणी =1 पण[6] यह विवरण दिया है। इस प्रकार प्रचलित मूल्य मे 1 पण = 80 कौडी के बराबर था।

कौडी—कपर्दक, वराटक, श्वेतिका चूर्णि या, चूर्णिका इत्यादि कौडी के पर्याय है। **प्रबन्धचिन्तामणि**[7] मे यह उल्लेख प्राप्त होता है कि कौडी ही विनिमय का प्रचलित माध्यम थी। **प्रबन्धकोश** मे भी वराटक का उल्लेख मिलता है।[8] एक अन्य ग्रन्थ **पुरातन प्रबन्ध संग्रह** में भी कपर्दीना तथा वराटिकाणा उल्लिखित है।[9] **बृहत्कथाकोश** मे भी एक कथा मे प्रसगित होता है कि एक मिट्टी का जार जो कि घी से भरा था वह केवल कुछ ही कपर्दकों मे ही खरीदा जा सकता था।[10] जबकि कुछ प्रसगों मे इसकी कीमत सबसे कम बताई गई है। इसके आधार

---

1 लीलावती 1 2-4
2 द्वयाश्रय० XVII, पृ० 79, 84
3 जे० एन० एस० आई० VIII.141
4 एपि० इडि० XXIV, 329
5 वैजयन्ती कोश पृ० 189-179
6 लीलावती I. 2-4; गुजराती भाष्य गणितसार पर जे० एन० एस० आई० VIII, 141; बंगाली अर्थमैटिकल टेबल जे० यू० पी० एच० एस०, VIII. 196
7 प्रबन्धचि०, पृ० 46; एपि इंडि, I, पृ० 162; XX41 पृ० 131
8 प्रबन्धकोश, पृ० 54
9 पु० प्र० सं०, पृ० 100, 123
10 बृहत्कथाकोश, पृ० 182 घृतपूर्ण घट कृत्वा वणिक वीर्थोकपार्दकैः

पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कौडी की उन दिनो मे सबसे कम कीमत थी। कल्हण ने भी कौडी की कीमत सबसे कम बताते हुए लिखा है कि राजा सग्राम वर्मन्र (A D. 1003-1028), जिसने एक कौडी से प्रारभ करके करोडो ढेर लगाए।[1] क्षेमेन्द्र द्वारा वर्णित एक प्रसग मे एक कृपण वणिक था जो केवल तीन कौडिया ही घर खर्च के लिए देता था, यद्यपि यह सख्या गलत हो सकती है, परन्तु इससे कौडी के प्रचलन की अधिकता का पता चलता है, परन्तु इससे गहडवाल राज्य के साधिविग्रहिक लक्ष्मीधर के कृत्यकल्पतरू मे भी यह प्रसग मिलता है कि कपर्दक एक विशिष्ट वस्तु थी जिसे अर्थ गणना मे प्रयोग किया जाता है।[2]

सीयदोणी अभिलेख (दसवी शताब्दी) मे वराटक तथा कपर्दक का उल्लेख कौडी के पर्याय के रूप मे हुआ है।[3] चाऊ-जू-कुआ (बारहवी शताब्दी) भी कहता है कि भारत के लोग विनिमय के लिए कौडियो का प्रयोग करते थे।[4] विभिन्न साहित्यिक तथा आभिलेखिक साक्ष्य यह प्रमाणित करते है कि प्रतिदिन की खरीद-फरोख्त के लिए कौडी ही प्रमुख साधन थी। कौडी का प्रयोग भारतवर्ष मे प्राचीनयुग से लेकर उन्नीसवी शताब्दी तक प्राप्त होता रहा है। बाजार मे वस्तुओं के अनुपात मे उनकी उपलब्धता के आधार पर उनकी कीमत घटती या बढती रहती थी।[5] निम्नलिखित सूची से कौडी के विनिमय मूल्य का ज्ञान होता है जो इस प्रकार हैं-

20 कौडी = 1 काकणी

4 काकिणी =1 ताबे का पण = कार्षापण

16 कार्षापण = 1 चादी का द्रम्भ

इस प्रकार 20 x 4 x 16 =1280 कौडी एक चादी के द्रम्भ और 16 पण के बराबर थी।[6] गणितसार[7] तथा **लीलावती**[8] मे यह सूची कुछ अन्तर के साथ प्रस्तुत की गयी है।

1 राजतरगिणी, VII, 112
2 व्यवहारकाण्ड पृ० 124; द्वारा ल० गोपाल, इकोनोमिक पृ० 279
3 एपि० इडि० I पृ० 173
4 चाऊ जू० कुआ० प्र० 77, 111
5 जे० एन० एस० आई०, VII पृ० 82
6 जी० पाट, द इकोनोमिक प्रोडक्ट्स ऑफ इंडिया भाग I पृ० 429
7 जे० एन० एस० आई० VIII, 1946 पृ० 140 सूची 2
8 लीलावती 1.2

षष्ठम् अध्याय

उद्योग शिल्प एवं शिल्पी

उद्योग शिल्प एवं शिल्पी

आर्थिक व्यवस्था के अन्तर्गत कृषि के बाद व्यापार एव उद्योग का स्थान आता है। प्राचीनकाल से लेकर ग्यारहवी-बारहवी शताब्दी ईरवी तक उद्योग विषयक विभिन्न साहित्यिक तथा अभिलेखिक प्रमाण प्राप्त होते हैं। कुछ ऐसे व्यावसायिक समुदायो के भी प्रसग प्राप्त होते है, जिनसे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि तत्कालीन समाज मे बहुविध उद्योग प्रचलित थे। गुजरात-राजस्थान के क्षेत्र से भी आलोच्यकाल मे उद्योग-सम्बन्धी प्रमाण प्राप्त होते हैं। **प्रबन्धचिन्तामणि** में यद्यपि उद्योगों की व्यवस्था का स्पष्ट विवरण नहीं प्राप्त होता है परन्तु कुछ शिल्पियो इत्यादि का सदर्भ मिलता है, जिससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि अधीतकाल में हस्त-उद्योगों का भी अस्तित्व था।

ग्यारहवी बारहवी शताब्दी मे विदेशी लेखो तथा भारतीय ऐतिहासिक स्रोतो मे उद्योगो की उन्नति प्रकट होती है तथा आन्तरिक और विदेशी व्यापार में विकास से भी यही प्रमाणित होता है। भोज की **युक्तिकल्पतरु** (11हवीं शताब्दी) मे अनेक उद्योगो का परिचय प्राप्त होता है। **अभिधानचिन्तामणि** तथा **देशीनाममाला**, जिसका प्रणयन गुजरात काठियावाड क्षेत्र मे १२हवीं श० ई० मे हेमचन्द्रचार्य द्वारा हुआ था उसमे ग्यारहवी-बारहवीं शताब्दी के अनेक उद्योगो के प्रचलन का सकेत या परिचय प्राप्त होता है।

वस्त्र उद्योग

गुजरात तथा राजस्थान के क्षेत्र वस्त्र-निर्मित करने हेतु प्राचीनकाल से ही प्रसिद्ध थे। **प्रबन्धचिन्तामणि**[1] ग्रन्थ मे तन्तुवाय, सूचक, छिम्पिकया तथा वेशकार का उल्लेख प्राप्त होता है, इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि ग्यारहवी-बारहवीं शताब्दी मे भी इस क्षेत्र मे वस्त्र-बनाने का कार्य व्यापक रुप से प्रचलित था। प्रस्तुत आलोच्यग्रन्थ मे ही उत्तरीय, दुकूल, चणनक, कम्बल इत्यादि वस्त्रो का उल्लेख भी प्राप्त होता है। **पुरातन प्रबन्ध-संग्रह**[2] मे भी तन्तुवाय का प्रसग प्राप्त होता है। हेमचन्द्रकृत शब्दकोश **अभिधानचिन्तामणि**[3] **में बुनकर के लिए तन्त्रवायः (तन्तुवाय) एवं कुविद. शब्द प्राप्त होते हैं तथा दर्जी के लिए तुन्नवायः तथा सौचिकः शब्द मिलता है। हेमचन्द्र के ही तत्कालीन एक अन्य शब्दकोश देशीनाममाला**[4] मे वस्त्र उद्योग से सम्बन्धित जो शब्द प्राप्त

---

1 प्रबन्धचिन्तामणि, मेरु. छिम्पिकया पृ० 56, 32, 73, टॉनी 32
2 पु० प्र० सं० पृ० 48, 77, 100
3 अभिधानचिन्तामणि, VII 574 श्लोक पृ० 227
4 देशीनाम, पृ० VII-45, VI-56, V-28, I-69, VIII29, II-65.

होते (वस्त्राश्रय), पूरी तथा थूरी (तन्तुवायोपकरण), आसीओ (सूची-जीवक), सिव्विणी (सूची), कोलिओं (तन्तुवाय) है, उनसे वस्त्र-उद्योग के विकसित स्वरूप का स्पष्ट सकेत प्राप्त होता है।

साहित्यिक साक्ष्यो के अतिरिक्त अभिलेखो मे भी इस उद्योग सम्बन्धी साक्ष्य प्राप्त होते है। सीयदोणि अभिलेख[1] मे दोसीहट्ट (वस्त्र-बाजार) का उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त अन्य अभिलेखो मे भी[2] वस्त्र-व्यापार पर लगने वाले करो का प्रसग आया है। **लेखपद्धति** मे अशुक करण का सदर्भ आया है जिसे ए० के० मजुमदार ने अच्छे वस्त्र बुनने का विभाग बताया है।[3]

प्राय सूती, रेशमी एव ऊनी वस्त्रो का प्रयोग वेश-भूषा के रूप मे होता था। वस्त्र बुनने की प्रक्रिया से लेकर उनकी रंगाई तथा सिलाई इत्यादि शिल्प-कार्य इस क्षेत्र मे प्रचलित था।

मानसोल्लास में[4] सोमेश्वर ने बारहवी शताब्दी मे वस्त्र-उद्योग के प्रमुख केन्द्रो को गिनाया है उनमें से जो इस प्रकार है—(1)मूलस्थान (Multan) (2) अणहिलवाड (अमहिलपतन) (3) वग (बंगाल), (4) पोद्दालपुर (पैठन), (5) सीरपल्ली (6) नागपतन (नागपटनम्) (7) चोलदेश (8) तोडीदेश (तोडीमण्डल), (9) पचपट्टन (10) कलिंगदेश, तथा (11) अल्लिकाकुल (शिकाकोल)

मानसोल्लास मे उल्लिखित ये स्थान वस्त्रो के व्यापार के केन्द्र थे। उत्तर-भारत के सम्बन्ध में विदेशी यात्रियो के विवरण से स्पष्ट होता है कि बंगाल इस क्षेत्र मे अधिक प्रसिद्ध था। बगाल, गुजरात तथा पैठन वस्त्र-उद्योग के प्रमुख केन्द्र के रुप मे प्रसिद्ध थे। जैन साहित्य भी यह बताते है कि (गौड) बगाल रेशमी वस्त्र के लिए प्रसिद्ध था तथा पूर्व से वस्त्र लाकर पश्चिम (लाट-दक्षिणी गुजारत) मे अधिक मूल्य पर बेचे जाते थे।[5]

वस्त्र- निर्माण का कार्य गुजरात में पूर्व के युग से ही होता आ रहा था, प्रथम शताब्दी ईस्वी के लेखक पेरीप्लस ने गुजरात मे वस्त्रो के सम्बन्ध मे यह उल्लेख किया है कि उस समय गुजरात में मोटे प्रकार के वस्त्रों का निर्माण होता था।[6] वेनिस का यात्री मार्को पोलो (13हवी शता०) के अनुसार कैम्बे मे बकरम तैयार की जाती

1 एपि० इंडि० I,पृ० 166.
2 एपि० इंडि० XIV पृ० 302, 72; इडि० एंटी० VI. न० 6 पृ० 202 II 18-19, सी० पी० एवं आई० पृ० 229.1.41.
3 ले० प्र० पृ० I.; चौलुक्य ऑफ गुजरात पृ० 215.
4 मानसो- III. 6. 1017-20 II पृ० 88.
5 जगदीश चन्द्र जैन, पृ० 115
6 पैरीप्लस,39

थी तथा कैम्बे और भडौच से ही भारत के अन्य प्रदेशो मे भेजी जाती थी[1] गुजरात मे वस्त्रो के विभिन्न प्रकार बनाए जाने लगे थे, जिनमे गरीबो एव अमीरो दोनो के लिए ही वस्त्र होते थे।[2]

धातु-उद्योग:-

प्राचीन काल से ही भारत वर्ष मे विभिन्न प्रकार की धातुओं के होने का उल्लेख प्राप्त होता है। **प्रबन्धचिन्तामणि** मे तथा समसामयिक साहित्य मे भी कुछ अस्त्र-शस्त्र-क्षुरिका, तलवार, भाले, तीर तथा कृषि-उपयोगी उपकरण इत्यादि के प्रसग प्राप्त होते है। सभी धातुओं मे लोहे का उपयोग औद्योगिक, कृषि तथा घरेलू उपयोगी वस्तुओं के निर्माण हेतु सर्वाधिक होता था। भोज के **युक्तिकल्पतरु** से उदघृत **रासेन्द्रसार संग्रह** में लोहे का वर्गीकरण पिण्ड (Pig), ढला हुआ (Cast) तथा पिटवा लोहा (Wrought) एव उसके भी उपविभाजन प्राप्त होते है। राजशेखर के प्रबन्धकोश, मे खड्ग, कृपाण, कुद्दाल का उल्लेख है।[3] एक अन्य प्रबन्ध ग्रन्थ **पुरातन प्रबन्ध संग्रह** में भी धातुओं से सबंधित उल्लेख खनित्र, कुद्दालक, पल्यड्ड, खड्ग, क्षुरिका, कृपाण इत्यादि तथा लौहकार, का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[4] हेमचन्द्रकृत समकालीन शब्दकोश **अभिधानचिन्तामणि**[5] मे विभिन्न धातुओं के अनेक पर्याय प्राप्त होते हैं- लोहे के ग्यारह नाम लोहम्, कालायसम् शस्त्रम् , पिण्डम्, पारशवम्, वनम्, गिरिसारम्, शिलासारम्, तीक्ष्णं, कृष्णाभिषम्, अय· प्राप्त होते हैं। तॉबे के भी बारह पर्याय ताम्रम्, म्लेच्छमुख्म्, शुल्वम्, रक्तम्, द्वयष्टम् उदुम्बरम्, म्लेच्छम्, शावरम्, मर्कटास्यम्, कनीयसम् ब्रह्मवर्धनम्, वरिष्ठम्, प्राप्त होते है। एक अन्य शब्दकोश **देशीनाममाला**[6] मे भी विभिन्न धातुओं एवं शिल्पकारों के नाम प्राप्त होते है जिनसे उस युग के धातु उद्योग के प्रचलन की पुष्टि होती है ये इस प्रकार हैं- पेंडधवो (खह·), फूओं (लौहकार), पवद्धो (लौहकुटनोपकरण), टको (खड्ग) छुरहत्थो क्षुरहस्त:) अमप्पो (खड्ग), उडिडाहरणम् (क्षुरिकाग्रयुक्तम्) आसिअओं (लोहमय) संयग्धी (घरट्टी, A hind of Weapon) कट्टारी (क्षुरिका) हैं। तेरहवीं शताब्दी के ग्रन्थ **रासरत्नसमुच्चय**[7] मे लोहे से बनने वाले विभिन्न सामानों के विषय मे **विस्तृत जानकारी** प्राप्त होती है। अलदरीसी[8] ने भारतीय लोहे की प्रशसा करते हुए लिखा है कि भारतीय लोहे की पैनापन (Sharpness)

---

1 मार्को पोलो,334
2 देशीनाम्,1.24 II 33 59
3 प्रबन्धकोश, पृ० 63 62,24.
4 पु० प्र० सं० प्र० 1.3.10.39.48.52.59
5 अभिधानचिन्तामणि 103-105 श्लोक, पृ० 255-256
6 देशीनाम्,पृ० VI 59, VI 85, VI II IV 4, III, 31, I-12, 1-121, 1.67, VII 5.11-4
7 रासरत्नसमुच्च्य,X 5-6. प्र० 43-44.
8 अल इदरीसी, पृ० 23, नं०3

की तुलना मे कोई लोहा नही है तथा इसकी श्रेष्ठता से कोई इकार नही कर सकता लौह उद्योग के अन्तर्गत तलवार बनाने का काम प्रमुख रुप से होता था। **प्रबन्धचिन्तामणि** तथा अन्य ग्रन्थो मे प्राप्त खड्ग के उल्लेखों से भी इस बात की पुष्टि होती है। तत्कालीन सामन्तवादी युग मे इसकी माग देश विदेश मे और भी बढ गयी।[1] तेरहवी-चौदहवी शताब्दी के शार्ङ्गधर ने कुछ तलवार बनाने के केन्द्रो खटि खट्टर, ऋषि, बग, शूर्पारक, विदेह, मध्यमग्राम, वेदिदेश, शहग्राम तथा कालिजर का उल्लेख किया है।[2] उत्वी ने भी भारतीय तलवारो की आक्रामक शक्ति की प्रशसा की है।[3] अल-मसूदी (915 शताब्दी) भी ब्रोच के बल्लभ (Lances) तथा बरछी (Shaft) की प्रसशा करता है।[4] भोज के **युक्तिकल्पतरू**[5] मे सौराष्ट्र को तलवार बनाने का प्रमुख केन्द्र बताया है। **अभिधानचिन्तामणि** में तलवार के अनेक नाम प्राप्त होते हैं चन्द्रहास, करवाल, निस्त्रिश- कृपाण, खड्ग, तरवारि, कौक्षेषका, मण्डलाग्र, असि, ऋष्टि·,। यहाँ कहा जा सकता है कि पश्चिमी क्षेत्र से ही विदेश तथा भारत के अन्य भागो मे भी तलवारे भेजी जाती थी। समकालीन साहित्यिक ग्रन्थो में लौहकार[6] शिल्पियो के नाम प्राप्त होते है।

लोहे के अतिरिक्त पीतल तथा ताबे के बर्तनो का भी उल्लेख मिलता है। स्वर्णकार का भी समाज में महत्वपूर्ण स्थान था। **प्रबन्धचिन्तामणि** मे विभिन्न आभूषणो का प्रसग आया है, जिससे यह अनुमान किया जा सकता है कि सोने-चाँदी के आभूषण इत्यादि भी बनाये जाते थे।[7] **अभिधानचिन्तामणि**[8] में सोने के लिए सुवर्णम्, स्वर्णम् हेम, हिरम्यम् हाटकम्, वसु, काञ्चनम्, अष्टापदम्, कल्याणम्, कनकम्, महारजतम्, [illegible], गाङ्गेयम्, रुम्यम्, कलधौतम्, लोहोत्तमम्, वहिनबीजम्, गारुडम्, गैरिकम्, जातरुपम्, तपनीयम्, चामीकरम्, चन्द्रम्, अर्जुनम्, निष्क·, कार्तस्वरम्, कर्बुरम्, जाम्बूनदम्, शातकुम्भम् राजतम्, भूरि, भूत्तमम् शब्द प्राप्त होते है तथा चादी के रुप्यम्, कलधौतम्, तारम्, रजतम् खेतम्, दुर्वर्णकम्, खजूरम्, हिमाशु, हंस·, कुमुद नाम प्राप्त होते है। **देशीनाममाला**[9] मे स्वर्णकार के लिए

---

1 बी० के जैन, ट्रेड एण्ड ट्रेडर्स..........पृ० 69.
2 शांरगधर पद्धति संपादित-पीटर्सन 1888-4672-79.
3 इलि० एण्ड डाउसन, II, पृ० 33, 227
4 बाम्बे गजेटियर I. Pt. I पृ० 513
5 युक्ति-पृ० 170VI, 24-29.
6 प्रबन्धचिन्तामणि, पृ० 123
7 जायसवाल उमा, "प्राचीन एवं पूर्व मध्याकालीन भारत में सुवर्णकारो की सामाजिक स्थिति," जै० ग० जे० के० वि० इलाहाबाद, जिल्द XXXVI, भाग 1-4 पृ० 24-8-260
8 अभिधान चिन्तामणि, 108, 109, पृ० 256-57
9 देशीनाम, पृ-० 111 54. V. 39.

झरो तथा दिअज्झो शब्द प्राप्त होते है। क्षेमेन्द्र ने **कलाविलास** के आठवे अध्याय मे स्वर्णकार का उल्लेख किया है।[1] **पुरातन प्रबन्ध संग्रह**[2] तथा **प्रबन्धकोश**[3] मे भी स्वर्णकार एव स्वर्ण से सबधित उल्लेख प्राप्त होते है। धातुओं की मूर्ति बनाने वाले रुपकार[4] तथा पीतल के सामान बनाने वाले पीतलहार[5] कहे जाते थे। **पुरातन प्रबन्ध संग्रह**[6] में भी पीतल का उल्लेख हुआ है।

चर्म उद्योग

ग्यारहवी-बारहवी सदी मे प्रचलित उद्योगो मे चर्म उद्योग भी एक था। यद्यपि प्रबन्धचिन्तामणि में इनका स्पष्ट उल्लेख नही प्राप्त होता है तथापि अन्य प्रबन्ध एव अन्य ग्रन्थो मे चर्म उद्योग से सम्बन्धित प्रसग आए हैं।

राजशेखर के प्रबन्धकोश मे चर्मकार तथा चर्म से बने सामानो का उल्लेख मिलता है।[7] इसी प्रकार के विवरण **पुरातन-प्रबन्ध संग्रह**[8] मे भी प्राप्त होते है। हेमचन्द्र ने भी अपने शब्दकोशो मे चर्मकार से सम्बन्धित शब्द दिए हैं।[9] उन्होने जूते बनाने वालो का उल्लेख किया है। चमडे के जूते सर्वाधिक लोकप्रिय तथा जनसाधारण रुप से प्रयोग किए जाते थे[10] चर्म के ही अन्य सामान भी बनते थे। पानी ले जाने के लिए थैला (बैग) होता था। चिरिक्का" चर्म का ही एक बडा थैला को 'चिरिक्का' कहते थे बनता था, जिसको हेमचन्द्र ने 'चर्म्-मय-जलभाण्डं' कहा है। तेल रखने वाली चमडे की बोतल को हेमचन्द्र ने 'कुटुप' कहा हैं।[11]

गुजरात क्षेत्र मे चर्म-उद्योग प्रचुर मात्रा मे होता था जिसका उल्लेख मार्को पोलो[12] ने किया है। उसके अनुसार गुजरात में बहुत से चर्म का प्रयोग होता था। ये चमडा अधिकतर भेड, भैंस, जंगली बैल, गैंडा तथा अन्य जंगली जानवरों का होता था। तैयार चमडे (Tanned leather) से जूते तथा थैले बनाए जाते थे। **कैम्बे** (खम्भात) प्राचीनकाल से ही सैंडल बनाने के लिए प्रसिद्ध था। नवीं शताब्दी का मसूदी यह वर्णन करता है कि

---

1 कला वि०, नं०1
2 पु० प्र० स०, पृ० 2,8,25,83,113
3 प्रबन्धकोश, प-067,79,81,82,92,101,111,120,121
4 खजुराहो जैन इमेज, इसक्रिसन, एपि० इंडि० 1. पृ० 151
5 सेमर ग्रांट आफ परमार्दि, एपि इंडि० I,IX 153-170
6 पु० प्र० सं० पृ० 52.
7 प्रबन्धकोश, पृ० 28,82.
8 पु० प्र० सं० पृ० 38,39
9 अभिधानचिन्तामणि, पादुकाकृत, चर्मकृत, देशीनाम, 1.33. अध्धसंघा II 37 कुट्टाओं, VII, 578, पृ० 228
10 संदेशरासकV. 141.
11 देशीनाम, 11.21,V,22
12 युले, मार्कोपोलो, भाग II, पृ०383.

कैम्बे की सैडल बहुत प्रसिद्ध थी।[1]

विदेशी व्यापार के लिए चमडे की चटाईयो का प्रयोग महत्वपूर्ण था। मार्को पोलो ने इनके सम्बन्ध में विस्तार से वर्णन किया है। इन चटाईयो को लाल और नीले चमडे पर पक्षियो तथा जानवरो के चित्र अकित करके बनाया जाता था तथा सोने और चाँदी के जरी के तार से कढाई की जाती थी, जिनको मुसलमान लोग सोने के लिए प्रयोग करते थे। मार्को पोलो के अनुसार गुजरात् ही विश्व भर मे सबसे अच्छा और महगा चमडे का सामान बनाता था[2]

प्रबन्धचिन्तामणि मे चर्म-उद्योग की जानकारी न मिलने से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इस ग्रन्थ के लेखक जैन आचार्य थे तथा इसमे जैन धर्म का ही अधिक महत्व रहा है। जिससे इसके लेखन मे चर्म-उद्योग को महत्व नही दिया था।

पाषाण तथा काष्ठ उद्योग

प्रबन्धचिन्तामणि मे बहुत से मदिरो तथा भवनो के निर्माण करवाने का उल्लेख प्राप्त होता है। ये भवन तथा मंदिर प्राय लकडियो तथा पत्थरो से बनते थे। कुछ पुराने लकडी के मदिरो को प्रस्तर मदिरो में पुनर्निर्मित किए जाने का उल्लेख भी मिलता है। इस प्रकार लकडी तथा पत्थर के कार्य करने वालो का भी एक वर्ग बन गया था। भवन निर्माण अपनी उन्नत अवस्था मे था। समकालीन बहुत से लेखो मे अनेक नगर जैसे-अणहिलपाटन, धवलक्का, कैबे तथा भडौच और अन्य नगर आवासीय भवनो से युक्त थे। इसके अतिरिक्त बहुत से बडे और सुन्दर मन्दिरो का निर्माण इस काल मे हुआ था।[3]इस व्यवस्था मे बहुत से बुद्धिमान शिल्पि तथा सामान्य श्रमिक भी थे। इसमे अन्य सहायक उद्योगो को भी बढावा मिला यथा लकडी तथा पत्थर काटने के उपकरण निर्मित करना, ईटो का निर्माण कार्य करना, गारा-चूना का कार्य, पत्थरो पर सुन्दर डिजाईन से प्रतीत होता है कि लोहे के अच्छे उपकरणो का भी प्रयोग होता था। प्रबन्धकोश[4]मे पाषाण तथा काष्ठ का उल्लेख कई स्थानो पर आया है। **पुरातन प्रबन्ध संग्रह**[5]मे भी काष्ठ का कार्य करने वालो के प्रसग आए है। हेमचन्द्र ने **अभिधानचिन्तामणि** में पत्थर के लिए पाषाण, प्रस्तरा, दृषत्, ग्रावा, शिला, उपला शब्द बताए है।[6]**देशीनाममाला**[7]मे भी काष्ठ उपकरण

1 फेरन्ड। Cpcit 95,
2 मार्कोपोलो-332-33
3 ए० के० मजुमदार, चौलुक्य ऑफ गुजरात पृ० 261
4 प्रबन्धकोश, पृ० 628, 52, 81, 91, 130
5 पु० प्र० स०, पृ० 5,8,84,117
6 अभिधानचिन्तामणि 101 श्लोक, पृ० 255
7 देशीनाम VI-15, V-7, 11-39, 11-47.

के नाम मुसलम्, उडुप, **कुविल्लम्**, कोट्टिम्बो प्राप्त होते है।

ग्यारहवी शताब्दी मे मदिरो के निर्माण के लिए पत्थरो का प्रयोग अधिकता से होता था। माउट आबू पर बने सगमरमर के मदिर उत्कृष्ट प्रकार से बनाए गए थे। काले पत्थरो से निर्मित मूर्तियॉ भी प्राप्त होती थी[1] **अपराजितपृच्छा** मे तथा अन्य साक्ष्यो से यह विदित होता है कि मूर्तिकारो का एक अलग शिल्प वर्ग ही था। कल्हण की **राजतरंगिणी** मे यह उल्लेख है कि एक राजा ने हजारो मठो का निर्माण करवाया।[2] राजा हर्ष ने बहुत भव्य भवन निरमित करवाया था।[3] अल इदरीसी का कहना है कि मसूर मे मकान, ईट खपरैल तथा पलस्तर से बनते थे।[4] ब्रोच में भी ईंट तथा पलस्तर की सहायता से मकान बनाये जाते थे। लकडी के कार्य में नक्काशी मकानो के मुख्य भाग[5] को सजाने के लिए गुजरात मे किया जाता था। ढाका-संग्रहालय[6] मे एक लकडी की मूर्ति मे शिल्पकार की कला देखने योग्य है। इसके अतिरिक्त रोजाना प्रयोग की जाने वाली बहुतसी लकडी से निर्मित होती थी। नाव तथा पलग, कुर्सी, कोच, स्टूल तथा हर प्रकार के खिलौने लकडी के बने होते थे।[7] लकडी के पुल भी बहुत से प्रमुख मार्गों पर बनाए गये थे।[8] वर्धकी (तक्षक) अपनी कला में बहुत निपुण होते थे। **कथासरित्सागर**[9] मे एक वर्धकी ने लकडी का एक हस का जोडा मशीन से बनाया तथा उसे एक लडी (String) से जोडा।

इस प्रकार इन साक्ष्यो के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि गुजरात के क्षेत्र मे ग्यारहवी शताब्दी में भवन-निर्माण मे लकडी की अपेक्षा पत्थर का अधिक प्रयोग होने लगा था। **प्रबन्धचिन्तामणि** मे भी भवन निर्माण में प्रस्तर का ही अधिक प्रयोग होने लगा था, तथा पुराने लकडी के भवनो एव मदिरो का जीर्णोद्वार करवाने के उल्लेख भी प्राप्त होते हैं। इसके अतिरिक्त समस्त उत्तर-भारत मे लकडी तथा पत्थर का प्रयोग प्रचलित था।

---

1 एन० के भट्टसाली, इकोनोग्राफी ऑफ बुद्धिस्ट एण्ड ब्राह्मनिकल स्कल्वर्स इन द ढाका म्यूजियम, पृ०XVII XVIII
2 राज०,VII. 608
3 वही, VII, 611
4 इलि० एण्ड० डासन०1. पृ० 78, 87.
5 वर्गेस एण्ड कूजन, आर्केलाजिकल सर्वे ऑफ बेस्टर्न इडिया पृ० 52
6 एन० के भट्टसाली, पृ०xxi
7 नर्ममाला, 1,134
8 महापुराण, II, 29, 32
9 कथासरि,III, पृ०282

मृण्भाण्ड उद्योग

मृणभाण्ड शिल्प अत्यन्त प्राचीन शिल्प है। **प्रबन्धचिन्तामणि**[1] मे कुम्भकार का उल्लेख अनेक स्थानों पर आया है। इसके अतिरिक्त मिट्टी के वर्तनो का उल्लेख अनेक स्थानो पर आया है। मिट्टी के बर्तनो को भी उपयोग मे लाया जाता था। तत्कालीन समाज मे कुम्भकार तथा मृण्भाण्ड शिल्प का महत्वपूर्ण स्थान था। आलिंग नामक कुम्भकार को चौलुक्य नरेश कुमारपाल द्वारा भूमि दान देने का उल्लेख भी **प्रबन्धचिन्तामणि** मे हुआ है। **प्रबन्धकोश** मे कुंभकार के लिए कुलाल शब्द का उल्लेख हुआ है। तथा मिट्टी से निर्मित बर्तनो के प्रसग भी प्राप्त होते है।[2] चौलुक्य नरेशो के अभिलेखो[3] मे भी कुम्भकार का उल्लेख हुआ है।

ग्यारहवी-बारहवी शताब्दी के साक्ष्यो मे भी इनके विषय मे पर्याप्त जानकारी मिलती है। **कथासरित्सागर**[4] तथा **राजतरंगिणी**[5] मे भी मिट्टी का कार्य करने वालो के उल्लेख मिलते है। घरेलू सामानो मे - स्याही की दवात, दीपक, तश्तरिया, पकाने के बर्तन, लोटा घडा इत्यादि मिट्टी के बने होते थे[6] इनके अतिरिक्त लाल या भूरे रग के मिट्टी के बर्तन ढाका के सग्रहालय मे देखे जा सकते हैं।[7] मिट्टी के सामान सस्ते होने के कारण आम लोगों द्वारा अधिक प्रयोग किए जाते थे। उत्तरी गुजरात, सौराष्ट्र तथा कच्छ की मिट्टी उत्तम श्रेणी के बर्तन बनाने के लिए उपयुक्त थी।

चीनी उद्योग

ग्यारहवीं बारहवी शताब्दी मे देश में गन्ने की पैदावार बगाल, मध्य भारत, कश्मीर तथा राजपूताना में होती थी। इनमे बगाल तथा दक्षिणी भारत चीनी बनाने में अग्रणी थे। **प्रबन्धचिन्तामणि**[8] मे भी गन्ने तथा उसके रस से बनने वाले खाद्य प्रदार्थों का उल्लेख हुआ है। इसके समकालीन साहित्यिक ग्रन्थ **द्वयाश्रयकाव्य**[9] मे भी गन्ने का उल्लेख मिलता है **देशीनाममाला** मे गन्ने के रस को बनाने वालो के लिए हेमचन्द्र ने तूओ (इक्षु-कर्मकर) शब्द प्रयुक्त किया है।[10] चीनी बनाने के लिए प्रयुक्त होने वाले उपकरणो का उल्लेख **देशीनाममाला** में प्राप्त होता है।

1 प्रबन्धचिन्तामणि मेरु। 1.77. 111.टॉनी 3, 117,180
2 प्रबन्धकोश 5,64,43,51,66,67,68
3 एपि० इंडि० भाग I, पृ० 166
4 कथासरित, V पृ० 23. II.पृ० 226
5 राज. VII
6 आर० सी० मजुमदार एच० वी० भाग 1 पृ० 656.
7 एन० के० भट्टसाली, पृ०xxii (प्लेट,Ixa)
8 प्रबन्धचिन्तामणि टॉनी पृ० 70.
9 द्वयाश्रय III 9.
10 देशीनामV.16

'णन्दम्' एक छडी थी जिससे गन्ने को निचोडा जाता था। इक्षु निपीडन काण्डम्[1] और 'पीडम्' तथा 'कोल्हू' गन्ने को दबाने वाली मशीन थी जिसे इक्षु पीडन काण्डम्[2] के रूप मे उल्लिखित किया है, जो एक पुराना गन्ने का रस निकालने का यन्त्र था और बास का बना होता था।

सुगंधित-पदार्थों का उद्योग

गुजरात क्षेत्र मे सुगधित पदार्थों का प्रयोग अधिक मात्रा मे होता था। **प्रबन्धचिन्तामणि** में भी चन्दन, कस्तूरी, केसर तथा इनसे बनने वाले उपयोगी पदार्थों का भी उल्लेख मिलता है। **देशीनाममाला** मे प्राप्त बहुत से मल्हमो के पर्यायवाची से यह पुष्ट होता है कि ये सुगधित पदार्थ सफाई-सजावट के लिए प्रयुक्त होते थे। सलखमपुरी के व्यापारी केवल अनाज, चीनी तथा सूती धागो इत्यादि का व्यापार नही करते थे, बल्कि वे मूगा, चंदन, कपूर, कस्तूरी, कुकुम, अगरु, मालपत्र, जायफल, हीग इत्यादि भी बेचते थे तथा उन पर कर भी भुगतान करते थे।[3] अबुल फजल कहता है कि नोसरी में एक सुगंधित तेल बनता था जो भारत में कही नहीं मिलता था।[4]

इन उद्योगो के अतिरिक्त कुछ छोटे उद्योग भी अस्तित्व मे थे।

शिल्प एवं शिल्पी

शोध आधृत ग्रन्थ **प्रबन्धचिन्तामणि** युगीन (ग्यारहवी-तेरहवी शताब्दी) मे उतर-पश्चिमी भारत मे विभिन्न उद्योगो के प्रचलित होने का परिचय विभिन्न स्रोतो से भी प्राप्त होता है। इन उद्योगो मे कार्य करने वाले शिल्पियों तथा कर्मकरों का समाज में एक वर्ग बन गया था। जिनमें विभिन्न जाति के लोग आते थे। इनमें कुछ शिल्पकार चतुर्थ वर्ण (शूद्र) में आते थे, परन्तु कुछ निम्न स्तर का कार्य करने वाले (चर्मकार, डलिया बनाने वाले इत्यादि) शिल्पी अन्त्यज के अन्तर्गत आते थे।

प्रबन्धचिन्तामणि[5] में बिभिन्न शिल्पकारों कुम्भकार, पुरकुम्भकार लौहकार, छिम्पिकया, तैलिक, चणक-विक्रेता, चिकित्सक, रत्न-परीक्षक, कास्यकार, सूचिका-वेशकार इत्यादि का उल्लेख आया है।

प्राचीन काल से ही आर्थिक-व्यवस्था की दृष्टि से चार प्रकार के शिल्पी तथा कारीगर होते थे। पहले वर्ग

1 वही iv-45.
2 देशीनाम II 33.
3 इंडि० एंटी० VI न० 6 पृ० 202, प्लेट 2. II. 8-24. वी० के० जैन प० 65).
4 आइने अकबरी, II,262.
5 प्रबन्धचिन्तामणि, मेरु पृ० सं० 56, 69, 53, 77, 111, 123, 32,73

मे वे शिल्पकार थे, जिन्हे वस्तु के रुप मे निश्चित वेतन प्राप्त होता था, दूसरे वर्ग मे वे शिल्पी का अपना अलग गॉव होते थे।, तीसरे वर्ग के लोगो को राजा, मुखिया या धर्मिक सस्थाओं द्वारा विस्थापित किया जाता था तथा चतुर्थ वर्ग के लोग वे शिल्पी थे, जिनका शहरो मे अपना निश्चित क्षेत्र होता था।[1]

प्रबन्धचिन्तामणि मे प्राप्त विभिन्न उल्लेखो द्वारा उस काल के शिल्प तथा उद्योग धन्धो की सम्पन्नता के विषय मे ज्ञान होता है। इनमे से बहुत से उद्योग इन्ही शिल्पियो द्वारा चलाए जाते थे। इन शिल्पकारो मे कुम्हार, वर्धकी, लौहकार, स्वर्णकार, चर्मकार तथा वेशकार महत्वपूर्ण स्थान रखते थे। जो त्कालीन व्यापार उद्योग की समृद्धि मे सहायक थे।

प्रबन्धचिन्तामणि मे यत्र-यत्र आभूषणो का उल्लेख प्राप्त होता है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि तत्कालीन समाज मे स्वर्णकार भी थे। इनके द्वारा निर्मित आभूषणो को राजा-रानी तथा सामान्य लोग धारण करते थे। अन्य समसामयिक ग्रन्थो मे भी स्वर्णाभूषणो के लोकप्रिय होने की जानकारी प्राप्त होती है। हेमचन्द्र कृत '**अभिधानचिन्तामणि** (12 हवी शता०) मे विभिन्न धातुओं मे स्वर्ण-रजत का उल्लेख प्राप्त होता है।[2]इस कथन की पुष्टि इस बात से होती है कि स्वर्णकार के लिए तत्कालीन कोशो मे विभिन्न शब्दावलियॉ मिलती है। अभिधानचिन्तामणि[3]मे इसके चार पर्याय नाडिन्धम,, स्वर्णकार, कलाद तथा मुष्टिक बताए है। देशीनाम माला[4] मे झरो तथा दिअज्झो शब्द मिलते है। तथा पुरातनप्रबन्ध[5] सग्रह तथा प्रबन्धकोश[6] मे भी स्वर्णकार एव स्वर्ण से सबधित प्रसग प्राप्त होता है। **कथाकोशप्रकरण** (1051) ईस्वी)[7]में जिनेश्वरसूरि ने स्वर्णकार को निम्न कोटि के शिल्पियो मे गिनाया है। क्षेमेन्द्र ने अपने **कलाविलास** के आठवे सर्ग मे स्वर्णकार की उत्पत्ति एव कार्य का विवेचन किया है[8]**वृहन्नारदीय पुराण** (9वी श० ई०)[9]मे स्वर्णकार की अनुष्ठानिक स्थिति बुनकरो से निम्न परन्तु चर्मकार, चाण्डाल, शिकारी, तथा धोबी, कुम्भकार और लौहकार से उच्च बतायी गयी है।

---

1 मैक्स वेवर, द रिलीजन ऑफ इण्डिया पृ० 95 उद्घृत द्वारा वी० एन० एस० यादव, पूर्वोद्धत पृ०45
2 अभिधान चिन्तामणि १०३-१०५ श्लोक पृ० 256-57
3 वही० पृ० 226.
4 देशीनाम, पृ० III 54 v 39
5 पु० प्र० सं०, ११३
6 प्रबन्धकोश पृ० 67, 79, 81, 82, 92, 101, 11, 120, 121
7 कथाकोश प्र०, इन्डोक्शन 116-117
8 कलाविलास न०1
9 सोसाइटी एण्ड कलचर; यादव, पृ० 46.

प्रबन्धचिन्तामणि[1] मे लौहकार का उल्लेख मिलता है तथा इसके अतिरिक्त अन्य समसामयिक ग्रन्थो मे भी लौहकार एव विभिन्न लौह-उपकरणो यथा-क्षुरिका तलवार, भाले, हल, फाल, कुद्दाल, खनिज इत्यादि के प्रसग प्राप्त होते है। पूर्व मध्यकाल मे लौहकार को भी निम्न स्तर का माना जाता था। **पुरातन-प्रबन्ध संग्रह** मे भी लौह निर्मित खनित्र, कुद्दाल, खड्ग, क्षुरिका, कृपाण इत्यादि के अतिरिक्त लौहकार का भी उल्लेख हुआ है ।[2]राजशेखर के **प्रबन्धकोश** मे खड्ग, कृपाण, कुद्दाल का उल्लेख आया है।[3]**अभिधानचिन्तामणि**[4]मे कुद्दाल के लिए गोदारणम् तथा खनित्र के लिए अवदारणम् शब्द का प्रयोग किया है, जो खोदने के काम आते थे। इसी ग्रन्थ मे लौहकार के लिए तीन नाम ब्योकरा, कर्मार, लोहकार प्राप्त होते है।[5]हेमचन्द्र के ही **देशीनाममाला**[6]मे लोहार के लिए इक्कारो, लौहकार, फूओं शब्द आए है, जिनसे इस बात की पुष्टि होती है कि तत्कालीन समाज मे इस शिल्प वर्ग का महत्वपूर्ण स्थान था।

प्रबन्धचिन्तामणि[7] मे मृण्भाण्ड शिल्प की उन्नति की भी सूचना मिलती है। इन शिल्पियो के लिए कुम्भकार एव कुलाल दो शब्दो का प्रसग आया है। एक अन्य स्थल पर नगर क्षेत्रवासी कुम्भकारो के लिए पुरकुम्भकार का प्रयोग हुआ है।[8]इससे यह प्रतीत होता है कि उनके कुम्भकारो की सामाजिक स्थिति ग्राम के कुंभकार से भिन्न होती थी। इसी कृति मे एक स्थल पर आलिंग नामक कुम्भकार को राजा कुमारपाल द्वारा ग्राम दान देने का उल्लेख है। जिससे कि अन्य शिल्पियो की अपेक्षा कुम्भकार की उक्त सामाजिक स्थिति की पुष्टि होती है। **प्रबन्धकोश** मे भी कुलाल शब्द का उल्लेख आया है तथा मृण्भाण्ड के बहुश प्रसग भी प्राप्त होते है[9]चौलुक्य नरेशों के अभिलेखो मे भी कुम्भकार का उल्लेख हुआ है।[10]इनके अतिरिक्त तत्कालीन विभिन्न साहित्यिक ग्रन्थो में कुम्भकार का उल्लेख हुआ है।[11]

उपर्युक्त शिल्पियो के अतिरिक्त **प्रबन्धचिन्तामणि** में छिम्पिकया, रत्न-परीक्षक, कास्यकार, सूचिका या वेशकार

1 प्रबन्धचिन्तामणि, मेरु पृ० 123
2 पु० प्र० स० 1,3,10,39,40,52,59.
3 प्रबन्धकोश पृ० 63,62,24
4 अभिधानचिन्तामणि, ५५६, पृ० 222.
5 वही II. 584, पृ० 229.
6 देशीनाम, VII-44, 1-144,VI-85
7 प्रबन्धचिन्तामणि मेर पृ० 77
8 वही पृ० III
9 प्रबन्धकोश, 5, 43, 51,66, 67,68
10 एपि० इडि० भाग I. पृ० 166.
11 कथासरितसागर, V. पृ० 23. II. पृ० 226,

इत्यादि का उल्लेख मिलता है। इनके साथ ही चिकित्सक स्थापक, ताम्बूल विक्रेता, तैलिक, चरवाहा इत्यादि का उल्लेख मिलता है। तत्कालीन अभिलेखो मे भी इनके विषय मे जानकारी प्राप्त होती है।

छिम्पिकया[1] नामक शिल्पी कपडो पर रगाई का कार्य करती थी। तत्कालीन अन्य ग्रन्थो से इस रगरेजा शिल्प पर प्रकाश पडता है। **देशीनाममाला**[2] एव **अभिधानचिन्तामणि**[3] मे भी इसका उल्लेख प्राप्त होता है। इससे तत्कालीन समाज मे व्यवहरित वेश-भूषा के प्रति होने वाले शौक एव तौर तरीको का भी सकेत प्राप्त होता है। **पुरातन-प्रबन्ध सग्रह**[4] मे भी छिम्पिकया आया है।

प्रबन्धचिन्तामणि मे एक स्थान पर कास्यकार **इट्ट** का उल्लेख हुआ है जहाँ आभड नामक एक वणिक का पुत्र घटी बजाकर पाँच विशोपक कमा लेता था। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उस काल में कास्य भाण्ड निर्माण उद्योग एव व्यापार भी विकसित अवस्था मे था।

आलोच्य ग्रन्थ मे सूचिकार[5] तथा वेशकार[6] शब्दो का प्रयोग दर्जियो के लिए हुआ है। ये लोग विभिन्न प्रकार के वस्त्रो की सिलाई करते इस कार्य के लिए कभी-कभी राजाओं द्वारा पुरस्कृत भी किए जाते थे। **पुरातन प्रबन्ध-संग्रह** मे भी सूचिका का उल्लेख हुआ है।[7] इनके अतिरिक्त चिकित्सक, ताम्बूल-विक्रेता, तैलिक चरवाहों, इत्यादि भी आलोच्य ग्रन्थ मे प्रसगित है। **अभिधानचिन्तामणि** मे चिकित्सक के लिए दोषज्ञ , भिषक, वैद्य, आयुर्वेदी, चिकित्सक, रोगहारी, अगदङ्कार पर्याय मिलते है।

---

1 प्रबन्धचिन्तामणि, टॉनी पृ० 82.
2 देशीनाम vii 44
3 अभिधानचिन्तामणि II 584 229
4 प्रबन्धचिन्तामणि, मेरु 69. टॉनी 104
5 वही० मेरु- पृ० 32
6 वही० पृ० 73
7 पु० प्र० सं० पृ० 119

सप्तम् अध्याय

कराधान के सिद्धान्त तथा व्यवहार

कराधान के सिद्धान्त तथा व्यवहार

किसी भी राज्य के सुव्यवस्थित सचालन के लिए सुदृढ अर्थ-व्यवस्था का होना अत्यन्त आवश्यक है और राजस्व राजकीय आय का एक महत्वपूर्ण स्रोत है। अधीतकाल मे विभिन्न प्रकार के करो के साहित्यक तथा आभिलेखिक प्रमाण प्राप्त होते है।

प्रबन्धचिन्तामणि मे भी विभिन्न प्रकार के करो-धन-धान्य पर वसूल किया जाने वाला कर, तीर्थयात्रियों से लिया जाने वाला कर इत्यादि, का वर्णन प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ मे वर्णित चौलुक्य राजाओं के अनेक अभिलेख भी प्राप्त होते है जिनमे अनेक करारोपण के विवरण प्राप्त होते है। भूमिकर, कृषिकर, सिंचाईकर, तीर्थयात्रा-कर, व्यापारिक वस्तुओं पर लगने वाले कर इत्यादि तत्कालीनराजस्व-व्यवस्था के प्रमुख स्रोत थे। इनके अतिरिक्त कर वसूल करने वाले अधिकारी एव विभिन्न सस्थाओं के प्रसग से भी तत्कालीन सुदृढ राजस्व-व्यवस्था होने के सकेत प्राप्त होते है।

यद्यपि **प्रबन्धचिन्तामणि** मे प्रमुख रुप से तीर्थयात्रा पर लगने वाले कर[1] तथा 'राजदेय-विभाग से सम्बन्धित सस्यनिदानी भूतादानि सम्बन्धे[2] एव सपत्ति जब्त करने इत्यादि का ही उल्लेख प्राप्त होता है। तत्कालीन अभिलेखों मे प्रमुख रुप से सहिरण्य भाग-भोग कर का उल्लेख प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त चौलुक्य नरेशो के अभिलेखो मे दानीभाग[3] नवनिधान,[4] भूतबात-प्रत्याय,[5] मार्गणक[6] का प्रसग प्रप्त होता है। 600 ई० से 1200 ई० केकाल के अभिलेखो मे करो और उपकरो की सबसे लम्बी सूची चौलुक्य राजा भीम द्वितीय के 1230 ई० वी० के (किराड) अभिलेख मे है।[7] जिससे ज्ञात होता है कि फलो और वस्तुओं जैसे मेथी, ऑवला, बहेडा, मजीष्ठ, हींग, त्रपुक, हिगुल, श्रीखड, कर्पूर, मालपत्र, जायफल, जावित्री, नारियल, हरड, ईख, गूगुल, मिर्च, मरुमांस, बथलेह, चीमूहल, खजूर इत्यादि पर भी कर लगाया जाता था।

चौलुक्य लेखो के ही नही वरन् विभिन्न राजवशों जैसे परमार, प्रतीहार, गहडवाल, कल्चुरि, चाहमान इत्यादि

---

1 प्रबन्धचिन्तामणि, मेरु पृ० 57; टॉनी पृ०84
2 वही० पृ० 53
3 इकोनोमिक लाईफ ऑफ नार्दन इंडिया पृ० 64
4 वही ८५
5 वही ६५
6 ए० के० मजूमदार, चौलुक्य ऑफ गुजरात पृ० 250; इडि० एंटी०xvii. पृ० 80
7 इंडि-एंटी,vii.प्र० 202

के भी अनेक अनुदान सम्बन्धी अभिलेख का उल्लेख आता है। "हिरण्य भाग-भोग, उपरिकर-सर्वादाय-समेत आदि का भी अनिवार्य रुप से उल्लेख मिलता है। इससे प्रमाणित होता है कि उस समय भू-राजस्व कराधान का प्रमुख अग था तथा भाग, भोग, कर, हिरण्य एव उपरिकर उस समय के महत्वपूर्ण कर थे।

कराधान का प्रयोजन एवं सिद्धान्त

राज्य की अर्थव्यवत्था को सतुलित रखने के लिए करारोपण आवश्यक होता है। इसके लिए राज्य मेंबहुत से नियमकानूनो का सृजन भी प्राचीन विधि-वेत्ताओं ने किया है। प्राचीनकाल से सम्पूर्ण भूमि का स्वामी राजा को माना जाता था। अत प्रजा की रक्षा करने का दायित्व भी राजा का ही होता था इसलिए उपज में षष्ठाश भाग के रुप मे राजा को प्राप्त होता था। भूमि के अतिरिक्त राज्य की सुरक्षा हेतु भी राजा के कर्त्तव्य थे, जिसके लिए उसे सैनिक तथा सैन्य सम्बन्धी अन्य व्यवस्थाओं को करने के लिए भी व्यय करना पडता था, जिसकी पूर्ति के लिए भी करारोपण आवश्यक था।

व्यापार तथा वाणिज्य के माध्यम से भी राज्य को आर्थिक लाभ प्राप्त होता था। सुदूर देश तथा विदेशो से पण्य (सौदा) तथा सार्थवाह इत्यादि के आवागमन हेतु भी सुचारु व्यवस्था करना राजा का कर्त्तव्य था। राजा उनकी सुरक्षा की पूर्ण व्यवस्था करता था, जिसके बदले मे उसे शुल्क आदि प्राप्त होता है। मेधातिथि (9वीं शता०)इस बात पर जोर देते है[1] कि शुल्क जगलो से होकर गुजरने वाले काफिलों पर उनकी डाकुओं, जगली-जातियों, तथा कतिपय आततायी शसकों द्वारा लूटने से सुरक्षा करने पर हुए खर्च को ध्यान में रखकर कर वसूल करना चाहिए। तत्कालीन अन्य साहित्यिक साक्ष्यो मे भी व्यापारियों को लूटने की प्रक्रिया के उद्धरण प्रसंगित हैं, जिससे यह प्रकट होता है कि उस काल में लूट-पाट की प्रक्रिया बढ गयी थी। **वस्तुपालचरित** मे घुघ्घुल द्वारा लूट का कार्य करना प्रसगित है[2] इसके अतिरिक्त व्यापार के क्षेत्र में अन्य कर जलपथ कर, वेलाकुल करण इत्यादि भी थे।

इनके अतिरिक्त **प्रबन्धचिन्तामणि**[3] तीर्थयात्रा कर का उल्लेख आया है, जो सभवत देवालयो के रख-रखाव मे होने वाले व्यय की पूर्ति के लिए था।

इस प्रकार कृषि, भूमि तथा व्यापार वाणिज्य की सुचारु व्यवस्था का भार राजा पर होता था, वह उनके

---

1 मेधतिथि की टीका परिव्ययमस्तुदुपकरणं सर्पि. सूपशाकादि घनादि च। योगक्षेममरण्ये कान्तारे वा गच्छतो राजभयं, चौरभयं निश्चौरता केत्यादि। एतदपेक्ष्य वणिग्भयः करा अदातव्या॥ VII, 127

2 वस्तु० पृ० 23

3 मेरु, प्रबन्ध पृ० 54, टॉनी 79

लिए विभिन्न प्रकार से व्यवस्था करता था, जिसमे राज्य से व्यय भी करना पडता था, जिसकी पूर्ति के लिए विभिन्न प्रकार के करारोपण का प्रयोजन किया जाता था। प्राचीन विधि-वेत्ताओं एव धर्मशास्त्र के रचयिताओं ने इसी प्रकार का विधान किया था। कि राजा प्रजा के सुविधा को ध्यान मे रखकर ही करारोपण करे, व्यर्थ मे प्रजा का उत्पीडन करके उनपर आवश्यकता से अधिक कर लगा कर केवल राजकोष की पूर्ति न करे। इसके लिए विभिन्न धर्मग्रन्थो मे अनेक सिद्धान्तो का प्रतिपादन हुआ है। धन लेने की युक्ति का वर्णन करते हुए सोमदेव ने लिखा है कि राजा इस प्रकार प्रजा से धन ले कि उसे कष्ट न हो। और ऐसी क्षति न पहुचाए कि भविष्य के स्रोत भी बन्द हो जाय[1] कुल्लूक भट्ट का कथन है कि प्रजा का रक्षण करके धन ग्रहण करने से शास्त्र सम्मत है लेकिन ऐसा न करके धन ग्रहण करने से राजा अपयश का भागी होता है।[2] व्यापारियो से कर ग्रहण के सम्बन्ध मे कुल्लूक भट्ट का विचार है कि क्रय-विक्रय मार्ग बाधा, लाभ आदि का ध्यान रखकर लेना चाहिए। जिस तरह जोक, बछडा, भौरा, मूल का नाश न करके थोडा-थोडा खून, दूध तथा पराग ही क्रमश ग्रहण करते हैं उसी प्रकार राजा भी प्रजा से थोडा-थोडा ही कर ग्रहण करे।[3] विज्ञानेश्वर की मान्यता है कि कराधान का उद्देश्य प्रजा की रक्षा है। अत जो राजा अपने राष्ट्र से अन्यायपूर्वक धन लेकर कोश की वृद्धि करता है वह सपरिवार नष्ट हो जाता है। राजा को चाहिए कि रिश्वत लेने वाले अधिकारियो का धन छीन कर उन्हे देश से निष्काषित कर दे।[4]

सामान्यत कुछ लोगो को कर से मुक्त भी रखा जाता था। आपस्तम्ब के व्याख्याकार हरदत्त (1150-1300ई०) ने विद्वान ब्राह्मण, गरीब, अल्पवयस्क, अपाहिज, सन्यासी इत्यादि को कर मुक्त करने का विधान किया है।[5] कुल्लूक भट्ट ने श्रोत्रिय ब्राह्मण को करमुक्ति प्रदान करने का उल्लेख किया है।[6] अधीतकाल में उत्तर भारत में भूमिदान की परम्परा थी। ये सभी दान ब्राह्मणो को उनकी विद्वता से प्रभावित होकर या धार्मिक भावना से प्रेरित होकर धार्मिक पर्वो के अवसर पर या पितरो की स्मृति मे पुण्यार्थ दिए गए। उपर्युक्त उल्लेखो से विदित होता है कि कराधान के सामान्य सिद्धान्त इतने उच्च आदर्शों पर अवलम्बित थे कि उनकी तुलना किसी भी युग के कराधान के सिद्धान्तो से की जा सकती है। मनु के टीकाकार कुल्लूक भट्ट ने कर लगाते समय शासको को यह सलाह

---

1 नीतिवाक्यामृतम् 7/24-25. 16. 23-26 29/100

2 कुल्लूक भट्ट 7/111-112 मोहाद्राजा स्वराष्ट्रं य कर्षयत्यनबेक्षया। सोऽचिराद् भ्रश्यते राज्याज्जीविताञ्च सबान्धव ॥

3 वही०7/127-129-क्रय विक्रयमध्वान. . ... कर।129

4 विज्ञानेश्वर,1/137-140

5 हरदत्त 2/10.26

6 कुल्लूक, श्रोत्रिय ब्राह्मणात्कर न गृहणीयात्।VII, 133

दी है कि वे कर उपयुक्त समय पर और वर्ष में एक ही बार लगावे[1] शास्त्रीय सिद्धान्तो के अनुसार कर धर्म सम्मत होना चाहिए और राजा जो भी कर लगावे उसे अदा करने की प्रजा की क्षमता को देखकर ही लगावे। यदि मनमाने ढग से या अत्यधिक कर लिया जायेगा तो प्रजा सहित राजा का विनाश हो जायेगा।[2]

स्मृतिकार हमेशा ही इस बात के लिए सजग रहे है कि कर उतना ही लिया जाय जितना उचित हो। इसीलिए भिन्न-भिन्न तरीको से भूमि की उर्वरा शक्ति, सिंचाई की सुविधा तथा ऋृतु की अनुकूलता तथा प्रतिकूलता का सही ढंग से निरीक्षण करके ही कर लगाये जाने का विधान किया है। इसी तरह व्यापारियो पर कर लगाते समय माल की तैयारी का खर्च, उसका यात्रा-व्यय तथा हानि आदि को देखने के बाद लाभाश पर कर लगाने का विधान किया गया है। यदि कोई मालहानि पर बेचा जाय तो उस पर कर नही लगाना चाहिए।[3] राजा का कर्तव्य है कि उपयुक्त समय पर जनता से कर ग्रहण करे। जनता का हित ही सैद्धान्ति रुप से सर्वोपरि माना जाता था।

सामान्य अवस्था मे राजा द्वारा धर्मसम्मत कर ही लिए जाने का प्रावधान शास्त्रकारो तथा निबन्धकारो ने किया है लेकिन आत्ययिक परिस्थिति जैसे- अकाल, युद्ध तथा अन्य दैवी सकटो के आ जाने पर राजा को अधिक कर लेने की छूट भी प्रदान की गयी है। **नीतिवाक्यामृतम्** का कथन है कि कोष खाली होने पर राजा धनी, विधवाओं, न्यायिक अधिकारियों, गाँव के प्रधानो तथा दरबारियो से धन ले सकता है। कुल्लूक भट्ट[4] ने आपत्ति के समय राजा को जनता से उपज का 1/8 से 1/4 भाग तक लेने की छूट प्रदान की है। लक्ष्मीधर[5] का कथन है कि जब शासक अपने शत्रु को समाप्त करने की तैयारी कर रहा हो तो उस समय जनता से विशेष अनुदान अथवा जुर्माना ले सकता है।[6] आर्थिक परिस्थिति आ जाने पर केवल सामान्य कर दाताओं पर ही कर का दबाव नहीं बढ़ता था बल्कि ऐसे लोगों से भी राजा को कर लेने का अधिकार मिल जाता था जो कर मुक्त थे। ब्राह्मणों तथा मन्दिरों को जो भूमि दान के रुप में दी जाती थी। उन पर भी कर लगाया जा सकता था।

युद्ध जैसी भीषण परिस्थिति मे सम्पूर्ण प्रजा के लुटने का भय था तथा जन-धन दोनो की अपार क्षति

---

1 मनु. 1/129, कुल्लूक 7/124, पूर्वोक्ति VII, 129
2 याज्ञवल्क्य; 1/340; महाभारत, 12/133-3 अथायेन नृपो राष्टात्स्वकोशं योऽभिवर्धयंता सोऽचिराद्विगत श्रीको नाशयेति सबान्धवः।
3 मनु०, धान्यानाभष्टयो भाग षष्ठो द्वादश एव वा। VII,130
4 नीतिवाक्यामृतम्,21/14
5 कुल्लूकभट्ट, धान्येऽष्टयं विशांशुल्कं; धान्यादेश्चतुर्थमपि भागं करार्थ,x,118-20
6 लक्ष्मीधर-कृत्यकल्पतरु-पृ०55.

होने की आशका थी, अत ऐसी स्थिति का मुकाबला करने के लिए जनता को अपना सर्वस्व देकर भी राज्य की शक्ति बढाने का प्रयास करना चाहिए। अधीतकाल मे युद्धो की बहुलता के स्पष्ट प्रमाण मिलते है। विदेशी आक्रमणों तथा आन्तरिक समस्याओं के दबाव मे आत्यायिक परिस्थिति हर समय उपस्थि सी रहने लगी। आत्ययिक परिस्थिति मे कराधान की जो छूट शास्त्रकारो ने दी है वह राजा या राज्य की निरकुशता को बढावा देने के लिए नही, अपितु सामूहिक विनाश की सभावना से जनता के उद्धार के लिए थी। स्मृतिकारो[1] ने भूमिकर के रुप मे केवल उपज के 1/6 भाग को ही मान्यता दी है। आपात स्थिति मे उसे बढाकर 1/4 या 1/2 भी किया जा सकता था।

प्रबन्धचिन्तामणि[2] मे एक स्थान पर यह प्रसग प्राप्त होता है कि एक बार गुजरात देश मे वर्षा के अभाव मे प्रजा उत्पादन मे से निश्चित भाग राजा को नही दे सकती थी (राजदेय विभाग निर्वाह्क्षमेषु)। अत कर उगाहने हेतु नियुक्त अधिकारी प्रजा को राजा के पास पत्तन ले आए। एक दिन प्रात काल राजकुमार मूलराज वहा घूम रहा था तो उसने देखा कि राजा के अधिकारियो के द्वारा प्रजा को सताया जा रहा था। प्रत्येक उत्पीडन की जानकारी होने पर राजा ने सभी को राजा का भाग देने से मुक्त करने को कहा तथा अगले वर्ष अधिक अनाज पैदा होने पर राजा को दोनो वर्षों का भाग देने को कहा लेकिन राजा ने उसे लेने से इकार कर दिया। इस उल्लेख से यह स्पष्ट होता है कि शासक प्रजा के प्रति उदारवादी दृष्टिकोण भी अपनाते थे। इस प्रकार की उदारवादिता निश्चय ही अपेक्षाकृत बेहतर आर्थिक व्यवस्था, श्रम मे वृद्धि, हेतु तथा कारो की चोरी को हतोत्साहित करने आदि की स्थितियो मे की गयी होगी।

राज्य द्वारा प्रजा से लिए जाने वाले कर विभिन्न प्रयोजनो के आधार पर लगाए जाते थे। प्राचीन काल से ही राजा को प्रजा की रक्षा करने के बदले मे 1/6 भाग प्राप्त करने का अधिकार प्रदान किया गया है। जिसकी पुष्टि अधीतकाल मे भी शास्त्रकारो द्वारा की गयी है। धार्मिक प्रयोजन से भी कर ग्रहण करने के उल्लेख प्राप्त होते है। **प्रबन्धचिन्तामणि** मे एक प्रसग मे मयणल्लदेवी गुजरात के राजा को बाहुलोड नगर तीर्थ मे प्रवेश हेतु कर न दे पाने के कारण सोमेश्वर नही जा सकी।[3] एक अन्य प्रसग मे सिद्धराज के गवर्नर सज्जन सौराष्ट्र में उज्ञयन्त का मदिर बनवाने के लिए तीन साल तक राजा को बताए बिना कर लेता रहा।[4] इसी प्रकार अन्य

1 मनु०, 10/118-20. पूर्व उद्घृत
2 प्रबन्धचिन्तामणि मेरु पृ० 53; टॉनी पृ० 77.
3 वही० पृ० 54,टॉनी 79
4. वही, पृ० 65, अनु० टॉनी, p. 69

अभिलेखो मे भी धार्मिक-प्रयोजन के लिए प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रुप से कर लेने के उल्लेख प्राप्त होते है।

आलोच्यकाल के अभिलेखीय साक्ष्यो का अध्ययन करने से भू-राजस्व की एक लम्बी श्रृखला देखने को मिलती है। डी० सी० सरकार ने इनकी सख्या 59 तक बाताई है।[1] अब केवल भाग, भोग, कर, हिरण्य, उपरिकर तथा दशापराध ही कर के मुख्य स्रोत नही थे बल्कि इस समय अनेक नवीन करो के उगाहने का भी कार्य होने लगा था।

करों के प्रकार

अधीतकाल के बहुत से साहित्यिक ग्रन्थो एव अभिलेखो मे अनेक प्रकार के करो के विवरण प्राप्त होते है। ये कर विभिन्न आधारो पर लगाए जाते थे। प्राय कर भूमि, व्यापार-वाणिज्य, सिंचाई, जगल इत्यादि पर लगते थे। भूमि पर लगने वाले करो से भाग, भोग, कर, हिरण्य, उद्रग, उपरिकर, दानीभाग, दानीभोग, भाग इत्यादि थे। इसी प्रकार सिंचाई से सम्बन्धि जलकर उदक भाग इत्यादि थे। व्यापार एव वाणिज्य पर लगने वाले करो मे घट्टादिदेय, भागीदाय, मण्डपिकादाय, शुल्क इत्यादि बताए गए है। इसके अतिरिक्त कुछ नवीन कर मार्गणक,[2] नवनिधान,[3] भूतवात प्रत्याय,[4] का उल्लेख भी चौलुक्य नरेशो के अभिलेखों मे आया है। तत्कालीन अन्य राजवशो के अभिलेखों मे भी विभिन्न प्रकार के करो का उल्लेख मिलता है। कर वसूल करने के लिए विभिन्न सस्थाओं एव अधिकारियों की नियुक्ति होती थी। (जिनका विवरण आगे है) कुछ कर धार्मिक प्रयोजन के लिए होते थे। चौलुक्य नरेशों के विभिन्न अभिलेखो में पूजा हेतु दान एव कर देने के उल्लेख प्राप्त होते हैं।

भाग

उपज का षष्ठाश परम्परागत राज्य का भाग होता था। यह सामान्यतः उपज का छठा भाग था। परन्तु आवश्यकता पड़ने पर इसमे परिवर्तन भी हो सकता था।[5] यह राजा का उपज का भाग था,। इस प्रकार के कर की दर भूमि की उपजाऊ शक्ति[6] के आधार पर 1/6 1/8, 1/10 तथा 1/12 भाग लिया जाता था। यह राजा की प्रभुता आधृत थी[7] पश्चिमी भारत तथा राजस्थान में भू-राजस्व के रूप में उद्रग और दानी शब्द का प्रयोग होता

~~8 वही, मेह०, पृ० 65; डॉबी 69.~~

1 डी० सी० सरकार, लैण्ड सिस्टम एण्ड फ्यूडलिज्म इन ऐंश्यैट इण्डिया, कलकत्ता 1966.

2 ए० के० मजुमादार, चौलुक्य ऑफ गुजरात, पृ० २५०

3 ल० गोपाल, इ० ला०ना०इ०, पृ०69

4 वही०,

5 डी० सी० गांगुली, द परमार इंसक्रिप्शन्स पृ० 26.

6 हरदत्त, गौतममिताक्षरा, क्षेत्रे तस्य दशमभागोऽष्टः षष्ठो वांडशो राज्ञो बलिदानं कररुपेण देयः। उद्धृत धर्मकोश, भाग 1, पार्ट 3, पृ० 1661

था।[1] यू० एन० घोषाल[2] इसे राजा का उपज मे भाग बतलाते हुए कहते है कि इसके लिए अर्थशास्त्र मे भाग तथा स्मृतियो मे बलि शब्द का प्रयोग मिलता था। फ्लीट[3] भी भाग और भोग को एक दूसरे से भिन्न मानते है। क्षीरस्वामी[4] तथा भट्टस्वामी[5] ने भी उसे उपज मे राजा का षष्टाश माना है। इसमे विभिन्न प्रकार की उपज वाले क्षेत्रो के आधार पर एक तिहाई या एक चौथाई भाग भी लिया जाता था। अल्तेकर ने भागकर और भोगकर को अलग-अलग माना है। उनके अनुसार भागकर भूमिकर है तथा भोगकर आकस्मिक कर।[6]

भोग

भाग के साथ ही भोग का उल्लेख भी साहित्य एव अभिलेखो मे प्राप्त होता है। कही भाग-भोग का उल्लेख है तो कही भोग-भाग का।[7] चौहान तथा सेन अभिलेखो मे राजकीय भोग तथा राजभोग कर मिलता है। [8] आर० एस० त्रिपाठी ने इसका अर्थ उपभोग लगाया है।[9] डी० सी० सरकार ने इसका प्राथमिक अर्थ उपभोग माना है। उनके अनुसार बाद मे इस शब्द के अर्थ का लाक्षणिक विस्तार जागीर तथा उसके बाद मे जिले के एक भाग के रूप मे हुआ है।[10] आर० के दीक्षित तथा ए० के० मजुमदार ने इसका सम्बन्द अष्ठभोगो से माना है।[11] दक्षिण भारतीय अभिलेखो मे ये अष्टभोग इस प्रकार है—(1) जखीरे (2) पृथ्वी के नीचे गडा हुआ धन (वेक्षेप) तालाब (जल) (4) पत्थर (खाने), (5) इस समय का लाभ (अक्षिणी), (6) भविष्य का लाभ (आगामी), (7) ऐसी भूमि जिसमे खेती हो रही है (सिद्ध) (8) ऐसी भूमि जिसे खेती योग्य बनाया जा सकता है (साध्य), परन्तु कुछ अभिलेखो मे ग्यारह[12] उपभोग की जाने वाली वस्तुओं का उल्लेख है किन्तु उन्हे भी अष्टभोग कहा गया है। इसका अर्थ है कि अष्टभोग उपभोग की जाने वाली परम्परागत शब्दावली थी। उसमे आठ ही वस्तुएँ होना आनिवार्य नही थी।[13]

भोगवसूल करने वाले अधिकारियो के लिए भोगपति, भोगिन, भोगिक पदावलिया मिलती है। भोग वास्तव

---

8 यादव, वही पृ० 289
1 वही, पादपाठ, 424, पृ० 317
2 घोपाल, रैवेन्यू सिस्टम पृ० 349
3 सी० आई० III पृ० 349
4 अमरकोश पर टीका,II 8 28
5 अर्थशास्त्र II 15, जे० वी० ओ० आर० एस० xı III pt पृ० 83
6 अल्तेकर, राष्ट्रकूट एण्ड देअर टाइम्स, पृ० 214-215
7 इडि० एटी०, भाग vı पृ० 56, 16, 203, 255, 18/17, 131, 25/207; एपि० इडि० भाग 2/363, 3/58, 4/97,-113, 5/49 10/99, 11/182, 18/1224, 299-323.
8 एपि० इडि० भाग xı, पृ० 47
9 हिस्ट्री ऑफ कन्नौज पृ० 348.
10 डी०सी० सरकार, एपि० इडि०xi,पृ० 48.
11 आर० के दिक्षित, जरनल ऑफ उ० प्रदेश हिस्टा० सोसाइटी पृ० 543.
12 एपि इंडि० I. 32. 42.
13 ओम प्रकाश, पूर्वोक्त 67, ए० के० मजुमदार, चौलुक्य .. पृ० 248, 456

मे राजा को सामयिक रुप से दिए जाने वाले पदार्थ जैसे- लकडी, फल-फूल, दूध आदि का बोध कराता है। लल्लन जी गोपाल के अनुसार भोग ऐसी सामग्री थी जो विशिष्ट अवसरो पर राजा को भेट की जाती थी[1] ब्यूलर ने[2] भी उसे सामयिक रुप से ग्रामीणो द्वारा राजा को दिए जाने वाले फल-फूल, लकडी इत्यादि को ही भोग शब्द का स्पष्ट अर्थ माना है।[3] इस तथ्य की पुष्टि मेधातिथि एव कुल्लूक[4] की टीकाओं से भी होती है।

कर

'कर' शब्द का प्रयोग विभिन्न अभिलेखो तथा साहित्यिक साक्ष्यो मे हुआ है। 'कर' शब्द को विद्वानो ने भिन्न-भिन्न व्यवस्था दी है। भोज की **समरांगणसूत्रधार**[5] सोमेश्वर की **मानसोल्लास**[6] तथा धर्मशास्त्रस्थो मे कर शब्द का प्रयोग सामान्य रुप से विभिन्न करो के लिए किया गया है। चौलुक्यो के तथा अन्य राजवशो के अभिलेखों में इसका प्रयोग प्राय 'भागभोगकर' के रुप मे हुआ है। परन्तु लक्ष्मीधर के गृहस्थ काण्ड मे कर एक स्थिर कर के रुप मे शिल्पियों तथा कृषको से लिया जाता था[7] यह एक अलग प्रकार का कर हो सकता है। हेमचन्द्र के **द्वयाश्रयकाव्य** मे आए 'कर' शब्द को अभयतिलक गणि ने भूमिकर बताया है।[8] गुप्तकाल के बाद से कर का अभिप्राय सामन्तो द्वारा दी जाने वाली भेट से लिया जाने लगा है।

अर्थशास्त्र में 'कर' को शासक द्वारा लिया जाने वाला सामयिक अन्नभाग तथा सम्पति पर लिया जाने वाला राजदेय माना गया है। यह नियमित राजस्व के अलावा आपत्तिकाल मे वसूला जाने वाला राजदेय भी था। मनु ने इसे व्यापारियो से लिया जाने वाला लाभाश माना है। लल्लन जी गोपाल की धारणा है कि कृषकों से नियमित रुप से लिये जाने वाले उपज के भाग के अतिरिक्त जो कुछ नकद लिया जाता था उसे कर कहा गया है।[9] मेघातिथि मे कर का समीकरण द्रव्यदान तथा कुल्लूकभट्ट मे ग्रामीणो या पुरवासियो द्वारा मासिक या भाद्रपद या पौषमास मे दिए जाने वाले अशदान से स्थापित किया है।[10] क्षीरस्वामी इसे अचल या चल सम्पत्ति पर लगाया गया एक अधिभार मानते हैं[11] **राजतंरगिणी** मे 'कर' का अर्थ बहुत से स्थानो पर भेट से लिया गया है।[12] इस काल

1 इ० ला० ई०, पृ०, 36
2 एपि० इंडि० I 75 पा० टि०
3 मनु०, धान्यानामष्ट मो भाग , इत्यादिकं तानि ग्रामाधिपति र्पत्यर्थ गृहणीयात्। vii, 118
4 आन मनु viii, 307, पूर्वोद्धृत
5 समरागण, वितरन्त्यधिकं यस्यां भागमोगादिकान करान पृ० 29
6 मानसो, I, फलक क्षेत्रानुरुपेण गृहणीयात् तत्करं नृयः स्पीकुर्यादयषड़ भागम् पण्योर्मधुः सर्पिष। 1 पृ० 44
7 गृहस्थकाण्ड, बलिः उपायनम् करः कारुकृषीवलेम्यो नियतधानादनम् पृ० 225
8 आन द्वयाश्रय, कृषिपशुचारनदिकृत राजकीय अन्यदि पभोगकेतुक राजग्राह्यो भागः III, 18
9 लल्लन जी गोपाल, (इकोलानाइ पृ० 32-33.
10 मेघातिथि तथा कुल्लूक, बलि धान्ययाद षडभागं, ग्रामवासिम्य· प्रतिमासं वा भाद्रपौषनियमेन ग्राह्यं शुल्कं VIII,307

के शब्दकोशो मे कर, भाग तथा बलि शब्द का प्रयोग भूमि-करके लिए हुआ है।[1]अधीतयुग के भाष्यो मे यह उल्लेख है कि वार्षिक भूमिकर या सामयिक कर जो कृषि-भूमि पर लगता था तथा राजा का भाग पर जो उपज तथा सम्पति-भूमि तथा गायो पर लिया जाता था।[2]

हिरण्य:- पश्चिम तथा उत्तर भारत के साक्ष्यो मे प्राप्त होने वाले प्रमुख करो मे से हिरण्य भी एक कर था विद्वानो ने उसका भिन्न-भिन्न अर्थ माना है। व्यूलर, शामशास्त्री, मेमेर, फ्लीट, आर० डी० बनर्जी, डी० आर० भण्डारकर तथा एन जी० मजुमदार ने इसका अर्थ 'सुवर्ण माना है।[3]जबकि सेनार्ट[4]ने इसे 'धन पर लिया जाने वाला कर माना है कीलहार्न[5]ने 'नगद-भुगतान' तथा बोगेल[6]ने 'नकद-कर' माना है। घोषाल[7]ने इसे कुछ फसलों पर लिया जाने बाला नकद कर माना है। एन० सी० बन्घोपाध्याय ने इसे आयकर माना है।[8]बेनी प्रसाद इसे सोने तथा अन्य कर पर आधारित कर मान लिया है।[9] घोषाल ने हिरण्य को भाग से अलग करते हुए लिखा है कि यह भू-राजस्व का वह भाग था जो नकद रुप मे लिया जाता था। डी० सी० सरकार तथा अन्य अधिकाधिक विद्वान इस बात से सहमत है कि यह वार्षिक राजस्व का वह भाग था जो नकद लिया जाता था। वास्तव में हिरण्य शब्द का अर्थ इससे लिया जा सकता था कि यह ऐसी वस्तुओं की उपज से सम्बन्धित था जो अधिक समय तक रखी नही जा सकती थी। ऐसी वस्तुओं पर लगा कर नकद रुप मे देय होता था। **अल्बेरुनी**[10]कहता है कि यह आयकर का एक रुप था जो लोगों पर लगाया जाता था। **मानसोल्लास**[11]मे इसे सुवर्ण पर तथा पशुधन पर 1/50 वा राजदेय माना है।

धान्य और हिरण्य दोनो शब्दो का उल्लेख होने पर हिरण्य का अर्थ नकद मे किया जाने वाला कर समझना चाहिए।

उद्धरण

---

14 क्षीरस्वामी (टीका। 2. 8 28.
15 राज० VII. 265-67, 991; VIII 1970
1 बैजयन्ती, पृ० 107. 1. 89 अभिधानरत्नमाला 433
2 ल० गोपाल।, वही पृ० 38
3 घोषाल, हिन्दू रेवेन्यू सिस्टम, पृ० 60 पादपाठ 5
4 एपि० इडि० VII पृ० 61-62.
5 वही० पृ० 160
6 एंटीक्यूटीज ऑफ चम्बा स्टेट, 167-69
7 घोषाल, वही०, पृ० 61-62.
8 बन्दोपाध्याय' , कौटिल्य पृ० 139-40.
9 बेनी प्रसाद, द स्टेट इन एंश्येंट इंडिया पृ० 302
10 साचउ, भाग II,149.
11 मानसो॰पचाशतम आदेयो भाग॰ पशुति वम्यायो। 1 44.

उद्रंग-

घोषाल ने उद्रग को स्थायी काश्तकारो से लिया जाने वाला नियमित भूमिकर माना है।[1] अल्तेकर एव रोमा नियोगी ने इसे भाग के बदले मे लिया जाने वाला कर माना है।[2] दशरथ शर्मा, अशोक मजुमदार, बी० पी० मजुमदार ने इस धारणा से अपनी असहमति व्यक्त की है। तथा अभिलेखो के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि चूकि भाग, भोग के साथ ही उद्रग का भी नाम आया है अत इन दोनो को एक नही माना जा सकता है यह भाग-भोग के अलावा लिया जाता था।[3] पुष्पा नियोगी ने इसे सैनिक स्थान (चौकी) पर लिया जाने वाला कर माना है।[4] डी० सी० सरकार एव लल्लन जी गोपाल ने भी इसे स्थायी काश्तकारो से लिया जाने वाला नियमित भूमिकर माना है।[5] अत विद्वानो की आम धारणा से यही पता चलता है कि यह किसानो से लिया जाने वाला नियमित भूमिकर ही था।

उपरिकर

घोषाल ने उपरिकर को अस्थायी काश्तकारो से लिया जाने वाला कर माना है।[6] बार्नेट ने इसे राजकीय भाग माना है।[7] अल्तेकर ने इसको भोग की तरह माना है। और समय-समय पर लिए जाने वाले कर की संज्ञा से अभिहित किया है।[8] सरकार ने इसे अतिरिक्त कर ही माना है। मैतीने भी इसे अतिरिक्त कर माना है।[9]

इन प्रचलित करो के अतिरिक्त चौलुक्यो के अभिलेखो मे निधान,[10] दानीभाग[11] तथा नवमार्गणक[12] प्राप्त होता है।[13] अजयपाल द्वारा एक अनुदान 'नव मार्गणक' के साथ दिया गया । गुर्जर-प्रतिहार महेन्द्रपाल II के अभिलेख मे भी मार्गणक के साथ भूमिदान का उल्लेख प्राप्त होता है। जिसका अर्थ उदारता से लिया गया है जो कि ग्रामीणो पर एक कर लगाया जाता था।[14] अभिनव-मार्गणक शब्द का अर्थ इस प्रकार लिया गया है कि इस प्रकार के अस्थायी कर को स्थायी कर दिया गया तथा इसके साथ एक अतिरिक्त कर लगाया गया ।[15] इन अभिलेखों

---

1 घोषाल, वही० पृ० 276-77.
2 अल्तेकर, राष्ट्रकूट एण्ड देअर टाइम्स पृ० 214; रोमानियोगी, ऑफ गहड़वाल डाइनेस्टी पृ० 168.
3 आर० एस० शर्मा, लैण्ड रेवेन्यू सिस्टम पृ० 21; इंडि० एंटी VII पृ० 53. एपि० इंडि० III. 49.
4 पुष्पा नियोगी, द कन्ट्रीब्यूशन द इकोनेमिक लाईफ .. .पृ०286.
5 डी० सी० सरकार, पृ० 349. ल० गोपाल पृ० 40-43.
6 घोषाल, वही० पृ० 276-77.
7 बार्नेट, जे० आर० ए० एस० 1931 पृ० 165
8 अल्तेकर, पृ० 216
9 डी० सी० सरकार, सेलेक्ट इसक्रिप्शन, पृ० II 266.
10 मैटी०, इ० ला० गुप्त, पीरियड० पृ० 24
11 इंडि० एंटी० VI. पृ० 204.
12 वही,
13 इंडि एंटी० xviii. पृ० 80.
14 एपि० इंडि० III 263

मे मार्गणक को एक विशिष्ट कर के रुप मे बताया गया है। घोषाल ने इसे एक प्रकार का आपात कालीन कर बताया है।[1]लल्लन जी गोपाल भी घोषाल का समर्थन करते हुए कहते है किसान इसे स्वेच्छा से देता था।[2]

निधान तथा दानी भाग

चौलुक्य अभिलेखो मे निधान तथा दानी-भाग का उल्लेख प्राप्त होता है[3]घोषाल ने निधान का अर्थ भूमिकर के रुप मे लिया है।[4]लेकिन अधिकतर विद्वान उनके इस विचार से असहमत है तथा वे इसे **लेखपद्धति** मे वर्णित नवनिधान (खनि, आकर, निधिनिक्षेप) जैसे पृथ्वी के अन्तर्गत छिपी हुई निधि मानते है।[5]डी० सी० सरकार तथा लल्लन जी गोपाल ने नव का अर्थ नौ से लिया है तथा उसकी समता अष्टभोगो से की है।[6]निधि अष्टभोगों में से एक है। अभिलेखों मे निधि-निधान, सानिधि, निधिनिक्षेप आदि का उल्लेख हुआ है।[7]अधीतकाल के अभिलेखों मे जो दान दिए गए हैं उसमे निधि का भी उल्लेख प्राप्त होता है।

यू० एन० घोषाल[8]यह कहते है कि दानी भाग के अन्तर्गत ग्रामीणो द्वारा फल-फूल तथा लकडी की सामयिक आपूर्ति की जाती थी। लेकिन **लेखपद्धति**[9]में इसे एक भूमिकर बताया गया है तथा चौलुक्य अभिलेखों में इनका प्रयोग इसी अर्थ मे हुआ है।

भूतवातप्रत्याय

गुजरात के राष्ट्रकूटो के अभिलेखो मे इस कर का उल्लेख आय के एक स्रोत के रुप मे किया गया है। एस० के० मैती[10] के अनुसार यह बात प्रेत को प्रसन्न करने के लिए किए जाने वाले धार्मिक कृत्यो के लिए कर था, परन्तु ए० एस० अल्तेकर[11]ने इसे गॉव मे उत्पन्न और बाहर से आने वाली वस्तुओं पर कर बताया है। लल्लन जी गोपाल, देवराज सिरोद (गोआ)[12]दानपत्र के आधार पर अल्तेकर के विचार से सहमत है।[13] यू०

15 घोषल, वही 256.
1 घोषाल, वही० पृ० 256
2 ल० गोपाल० वही० पृ० 69.
3 वेरावल, अर्जुन देवका अभिलेख, सेलेक्ट, इ० स०, भाग 2, पृ० 406
4 घोषाल, वही० 115.
5 दशरथ शर्मा, हिस्ट्री ऑफ चौहान डाइनेस्टी, पृ० 273.
6 डी० सी० सरकार, एपि० ग्लोसरी, 216; गोपाल, वही पृ० 69.
7 एपि इंडि०, भाग 3, 4, 15, 27, 32, इंडी० एंटी० xvii, xix.
8 घोषाल 256.
9 ले० प०, 7,16,18,
10 मैटी०, इ० ला० गुप्त पीरियड० पृ०63.
11 राष्ट्रकूट एण्ड देअर टाइम्स, पृ० 228. के आगे
12 एपि इंडि० 24 145.

एन० घोषाल इसे आकाश से उत्पन्न होने वाली वस्तुओं पर लगाया जाने वाला कर मानते है।[1]आकाश का अर्थ असभावित धन के मिलने से है।

भूमि के अतिरिक्त व्यापार तथा वाणिज्य पर भी करवसूल करने की व्यवस्था अधीतकाल मे देखने को मिलती है।

शुल्क

शुल्क एक सामान्य राजस्व पदावली है जो सभी प्रकार के व्यापारिक करो के लिए आता है।[2]इसका स्वरुप निर्धारण अभिलेख एवं साहित्यिक स्रोतो के प्रसिद्ध स्थलो से ही सभव है। आयात-निर्यात से प्राप्त होने वाले कर, नदियो के घाटो पर व्यापारिक यातायात से होने वाली आय, शराब के व्यापारियो पर लगाए गए राजस्व के लिए शुल्क का ही प्रयोग किया गया है।[3]**अमरकोश** (II. 8. 27) तथा **अनेकार्थ संग्रह** (II. 19) **अभिधनचिन्तामणि** (III, श्लोक) मे शुल्क को 'घट्टादिदेय' कहा गया है। शुल्क के विषय में बहुत से विद्वानो मे मतभेद है तथा उन्होने अपने-अपने विचार इस सम्बन्ध मे व्यक्त किए हैं। कुछ विद्वान[4] यह कहते है कि शुल्क नगर के द्वार पर आने-जाने वाले व्यापारिक सामानो पर लिया जाने वाला चुगी कर था। कुछ अन्य विद्वान[5]शुल्क का सम्बन्ध विदेश से आयात-निर्यात होने वाले सामानो पर लगने वाले आबकारी एवं सीमा शुल्क से जोडते है, तथा देश के आन्तरिक भागो से विक्रय हेतु जाने वाले सामानो पर लगने वाले कर से लगाते हैं। विभिन्न विद्वानों का मत उद्घृत करते हुए ओ० पी० श्रीवास्तव ने यह विचार व्यक्त किया है कि शुल्क व्यापारियो से सडकों के उपकर, मार्गकर एवं घाटो पर लिया जाने वाला कर भी था।[6]बारहवी शताब्दी के कुल्लूक भट्ट[7]मनु पर भाष्य लिखते हुए कहते है कि शुल्क एक राजकीय भाग था जो, व्यापारिक सामानो पर, जो कि जल तथा स्थल मार्ग से आते थे उन पर लिया जाता था। सोमदेव (11 हवी श०) के **कथासरित्सागर** [8]मे यह उल्लेख मिलता है कि व्यापारियों ने पजाब से वलभी जाते समय अत्यधिक शुल्क भय के कारण आम प्रचलि मार्ग छोड दिया था इससे यह इगित होता कि शुल्क अधिकतर राजमार्गों पर स्थिति शुल्क स्थान मे लिया जाता था। यादव प्रकाश के **वैजयन्ती**[9]तथा

---

15 गोपाल, वही पृ० 70

1 यू० एन० घोषाल का हि० रे० सि० पृ० 337.

2 ओ० पी० श्रीवास्तव, शुल्क इन एंशयेट एण्ड मेडीवल इंडिया जे० जी० जे० के० वि, भाग37, पृ० 130.

3 याज्ञ पर, मिताक्षरा, 2/263.

4 के० आर० सरकार, पाब्लिक फाइनेन्स इन एंश्येट इंडिया, पृ० 93.

5 यू० एन० घोषाल, हि० रे० सि० पृ० 92; के एन शास्त्री, द चोल पृ० 599.

6 वही०, पृ० 136.

7 कुल्लूक viii, 398, स्थलपथ-जलपथ व्यवहार तो राजग्राह्यों भागः शुल्कं।

8 कथासरित, vi. 3. 10.5

हेमचन्द्र के **द्वयाश्रयकाव्य**[1] मे मार्ग मे लिए जाए वाले धनराशि या कर को शुल्क कहा है। **अभिधान चिन्तामिणि**[2] मे शुल्क को घाटो पर लिया जाने वाला या इसी के समान कर बताया है। कुछ बाद के समय का गन्थ सुक्रनीति[3] मे जो पूर्वमध्यकाल की कुछ सूचना देता है, उसमे सडको के रख-रखाव के लिए मिलने वाले कर को शुल्क कहा है। भास्कराचार्य के **बीजगणित** (1150 ई०)[4] से यह स्पष्ट होता है कि शुल्क नगर प्रवेश समय लिया जाने वाला चुगी कर था। **पुरातन-प्रबन्धसग्रह**[5] मे एक स्थान पर यह विवरण मिलता है कि एक मत्री का पुत्र अपने पिता से उन लोगो को मुक्त करने की अनुमति लेता है जो अपने सिर पर कुछ सामान लिए हुए थे और शुल्क ग्राहक अधिकारियो ने रोक लिया था। इससे अपरोक्ष रुप से यह प्रकट होता है कि फेरीवाले-व्यापारियो से भी शुल्क लिया जाता था। सोमेश्वर के **मानसोल्लास** (12हवी श०)[6] मे चौलुक्य वश के एक राजा द्वारा पत्तन पर आए हुए जहाजो से शुल्क वसूलने का प्रसग आया है। अबू-जैद (916 ईस्वी)[7] भी अपने विवरण मे इसी बात का समर्थन करता है।

तीर्थयात्रा कर

प्रबन्धचिन्तामिणि[8] मे तीर्थयात्रा पर जाने वालो पर कर लगाने का उल्लेख मिलता है। इसमे सोमेश्वर जाते समय बाहुलोड नामक स्थान पर तीर्थयात्रा कर लिया जाता था जिसको सिद्धराज ने अपनी माता के कहने पर समाप्त कर दिया । यह कर इतना कठोर था कि यदि गरीब व्यक्ति इसको नही दे पाता था तो उसे निराश होकर लौटना पडता था। **रासमाला**[9] मे भी इस कथा का उल्लेख प्राप्त होता है। **वस्तुपाल प्रबन्ध**[10] तथा राजशेखर के **प्रबन्धकोश** मे है कि तेरहवी शताब्दी मे बहुत से प्रधान लोग शत्रुञ्जय की तीर्थयात्रा पर कर लेते थे। रैवतक पहाडी पर स्थित एक पूजा स्थल से भी पहले के कुछ राजा कर लेते थे। कुछ प्रमाण यह प्रदर्शित करते है कि कभी-कभी कर इतने कष्टदायक होते थे कि वे स्थानीय करो को जो दान-दाता से सम्बन्धि होते थे कठोर बनाते थे। मन्त्रियो को इन करो को हटा लेने के लिए कहा जाता था तथा उसके बदले मे उन्हे दूसरे ग्राम

---

15 वैजयन्ती, vi 5 89 (पथिदेऑं शुल्क)
1 एस० पी० नारग, द्वयाश्रय, 9 176 xviii, 55
2 नेमिचन्द्र शास्त्री वाराणसी 1964 II, अभिधानचि० III, 388 पृ० 178 शुल्कस्तु घट्टादिदेय
3 अनु० बी० के० सरकार, झांसी 1975,257-58 पृ० 149
4 बी०,जी आ टे विध जयकुर कमेटी ऑफ कृष्णदेव पूजा 1930 vii.10पृ० 122
5 पु० प्र० स०, पृ० 103
6 जी० के० श्री गोंदेगर, जी० ओ० एस० न० 28 बडौदा भाग I 374-376, पृ० 62.
7 पुष्पा नियोगी,1962 पृ० 146
8 प्रबन्धचिन्तामणि टॉनी पृ० 84.
9 रासमाला, बाम्बे गजेटियर I .पृ० 172
10 प्रबन्धकोश 120-21

दिए जाते थे।[1] राजतरगिणी[2] मे उद्‌घृत है कि गया मे श्राद्ध करने पर स्थानीय प्रमुखो द्वारा कर लगाया जाता था। तीर्थयात्रा कर लेना मुस्लिम प्रभाव प्रतीत होता है।

संपत्ति जब्तीकरण या अपुत्रिका धन

प्रबन्धचिन्तामणि[3] मे विवृत्त है कि उत्तराधिकारी रहित मृतक की सपति (अपुत्रिका धन) कुमारपाल के काल के पूर्ण जब्त कर ली जाती थी। इस कुप्रथा का समापन कुमारपाल ने किया था। गुजरात मे प्रचलित इस प्रकार के कानून का वर्णन समकालीन अन्य साहित्यिक स्रोतो मे भी प्राप्त होता है।[4] सम्भवत कुमारपाल ने यह राजाज्ञा जैन धर्म से प्रभावित होकर प्रवर्तित की।

गुर्जर- प्रतिहार शासक के सामत मथनदेव के एक अभिलेख मे एक शैव मदिर को जिन करो को लेने का अधिकार दिया गया है, उसमे अपुत्रिकाधन का भी उल्लेख है।[5] घोषाल ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है कि जो व्यक्ति पुत्रविहीन होता है और उसकी पुत्री से भी यदि कोई पुत्र नही होता वह जब मर जाता है तो उसकी सपत्ति जब्त करने का अधिकार शासक को मिल जाता है।[6] **अर्थशास्त्र**[7] एव स्मृतियो का कथन है, कि यदि कोई व्यक्ति बिना उत्तराधिकारी के मरता है तो उसकी विधवा के भरण-पोषण की उचित व्यवस्था तथा उसके श्राद्ध के खर्च की व्यवस्था करने के बाद शेष धन राजा ले सकता है।[8] डी० सी० सरकार की मान्यता है कि अभिलेखो मे उल्लिखित अपुत्रिका धन नामक राजस्व का स्रोत सन्तानविहीन मृतक की ही सम्पत्ति का बोध कराता है जिस पर शास्त्रो के अनुसार राजा का अधिकार होता था।[9] इस नियम के अपवाद ब्राह्मण थे क्योकि पुत्रविहीन होकर मरने पर भी उनकी संपत्ति शासक नही बल्कि कोई ब्राह्मण ही ले सकता था[10] **राजतरंगिणी** में इस बात का उल्लेख मिलता है कि शासक 'कलश" उस व्यक्ति की सपत्ति हडप लेता था जो पुत्र विहीन होकर मरता था।[11]

---

1 वही. १२०-२१

2 एपि० इंडि० xx पृ० 64.राज० से

3 प्रबन्धचिन्तामणि, टॉनी पृ० 133

4 मोहराजपराजय, 4. 66. 67; क० पृ० 114.

5 मोह० पराजय पृ० 66-67; केपी० पृ० 114

6 एपि० इंडि० भाग III सं० 36.

7 घोषाल का हि० रे० सि० पृ० 237.

8 अर्थशास्त्र 3/5; गौतम, 9,28/41-42; विष्णु 17/13-14 मनु 9/188; नारद, 3/16-17; मिताक्षरा, 2/264 देशान्तरगते

9 डी० सी० सरकार एपि० इलो० पृ० 56 . ...नृपा ।26.

10 गौतम, 28/41-42, वृहस्पति, 26/29.

11 राजतरगिणी, धनानि निरपत्यानामाहर्तु व्यवसायिना। न्यवार्यताहड़्यमर्यादा क्रेर्या क्रीन्तेन भूभुजा॥II, 697

दण्ड-दशापराध—

दण्ड दशापराध शब्द भी चौलुक्यो के अभिलेखो मे प्राप्त होता है[1] यह कही पर दण्ड, दण्ड-दाय, दण्ड-दशापराध मिलता है। यद्यपि जुर्माना राजस्व का अग नही था तथापि यह राज्य की आय का महत्वपूर्ण स्रोत अवश्य था। नारद द्वारा प्रतिपादित दश-अपराध सूची का शुक्रनीतिसार मे भी वर्णन हुआ है।[2]वे इस प्रकार है 1. राजा के आदेश का पालन न करना 2. स्त्री हत्या 3. वर्ण-सकरता 4. व्यभिचार, 5 चोरी 6 पति से भिन्न व्यक्ति के साथ सहवास से गर्भ रहना 7 गाली और निंदा 8 अश्लील प्रदर्शन 9. आक्रमण करना और 10. गर्भपात ।

अधीतकालीन साहित्यिक साक्ष्य भी दीवानी और फौजदारी अपराधों के लिए विभिन्न प्रकार के दण्डों का विधान करते है। जुर्माने की व्यवस्था सभवत इन अपराधो को समाप्त करने हेतु ही की गयी होगी।[3] इस प्रकार जुर्माने भी अधीतकाल मे आय का एक प्रमुख स्रोत था।[4] इसे वसूल करने के लिए दशापराधिक नामक सरकारी अधिकारी का उल्लेख मिलता है इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जुर्माना यह अधिकारी वसूल कर होगा और उन जुर्मानो की आय अनुदान ग्राहियो को मिलती होती।

राजस्व अधिकारी एवं राजस्व ग्रहण प्रक्रिया—

इन विभिन्न करो को वसूलने के लिए राजा द्वारा विभिन्न व्यवस्था की गयी थी। इसके लिए विभिन्न विभागों की स्थापना तथा अधिकारियो की नियुक्ति की जाति थी। **प्रबन्धचिन्तामणि**[5]में पञ्चकुल का उल्लेख विभिन्न स्थानों पर आया है, जो अन्य कार्यों को करने के अतिरिक्त कर उगाहने का भी कार्य करते थे। सिद्धराज के समय में बाहुलोड का तीर्थयात्रा कर पञ्चकुल द्वारा लिया जाना प्रसगित है।[6] **मोहराजपराजय** मे भी यह प्रसंग प्राप्त होता है कि सतान हीन मृतक की सम्पत्ति जब्त करने का काम पञ्चकुल ही करता था[7] वीसलदेव के पोरबन्दर अभिलेख से यह स्पष्ट होता है कि ये पञ्चकुल पाच व्यक्तियो का समूह होता था, जो विभिन्न कार्यों को देखता था।

अधीतकालीन साहित्य एव अभिलेखो मे उनके विभागो तथा उनके सहायको आदि का व्यवस्थित विवरण

---

1 इंडि० एंटी० xviii, 80 दण्ड- दोष प्रदत्तदाय
2 शुक्रनीति, 4.5. 161=64.
3 मिताक्षरा प्रतिलोभ्यापवादेशु द्विगुणत्रिगुणा दशा। वर्णानायानुलोभ्येन तस्माद्‌र्धार्धधीनतः॥ मिताक्षर, 2/206, 207; मिताक्षरा चन्द्रिका 2/243,स्मृति चांद्रका 3/27.28
4 एपि० इंडि० भाग 27.29.
5 प्रबन्धचिन्तामणि पृ०मेरु पृ० 133
6 वही 84.वही० 133 मेरु पृ० 86
7 वही० 133. मेरु पृ० 86.

न होने से राजस्व प्रशासन-तन्त्र की कोई निश्चित रुपरेखा नही उभर पाती।

बहुत से अभिलेखो मे यह उल्लेख मिलता है कि शुल्क जो व्यापारिक वस्तुओं पर लगता था वह शुल्क मण्डपिका मे एकत्रित किया जाता था।[1] कश्मीर मेयह पुलिस-स्टेशन (उद्रग) मे लिया जाता था।[2] अधीतकालीन अभिलेखों मे एक अधिकारी का उल्लेख हुआ है जिसे विद्वानो ने लेखाविभाग का अध्यक्ष या अभिलेखागार का अधिकारी माना है।[3]गुर्जर प्रतिहार अभिलेख मे इनकी सेवा के बदले मिलने वाले देय के लिए अक्षपाटलप्रस्थ आया है।[4]

कोषाध्यक्ष के गुणो का वर्णन अधीतकाल के साहित्यिक साक्ष्यो में हुआ है। ग्रन्थों में राजा को यह सलाह दी गयी है कि वह उसी व्यक्ति को कोषाध्यक्ष नियुक्त करे जो आय-व्यय की समस्याओं से परिचित हो। "**नीतिवाक्यामृतम्**;[5]**मानसोल्लास**[6]आदि ग्रन्थों मे कोष के साथ कोषाध्यक्ष के गुणो का भी विधान किया गया है तथा लिखा है कि कोष ही प्रजा का जीवन होता है अत उसके रक्षक को सर्वगुण सम्पन्न होना चाहिए।

इसके अतिरिक्त भू- राजस्व वसूल करने का कार्य ग्रामपति भी करते थे। **वस्तुपाल चरित**[7]तथा **वस्तुपाल प्रबन्ध**[8]मे यह उल्लेख है कि ग्रामपति एक सप्ताह तक कर लेते रहे और प्रमुख बन गए। इसी प्रकार **द्वयाश्रय काव्य**[9]मे भी वर्णन है कि राजस्व का एक भाग ग्रामपति लेता था तथा अन्य राजा लेता था। **लेखपद्धति**[10]में भी इसके कार्यो तथा अधिकारो का उल्लेख किया गया है।

घाटो पर कर वसूल करने वाले को घट्टपति कहा जाता था। मिराशी ने इसे घाटों का अधिकारी माना है तथा जो नावो द्वारा आए हुए सामान की देख-भाल तथा उन पर कर वसूलने का कार्य करता था।[11]

दशापराधिक नामक अधिकारी का उल्लेख आर० सी० मजूमदार ने दस अपराधो को करने वाले अपराधियों से दण्ड वसूल करने वाले के रूप मे किया है।[12]

---

1 सी पी एस आई० पृ० 156
2 राजतंरगिणी II 399; vii 140, viii 2407.
3 सी० आई० आई०, भाग iv; एपि० इंडि० भाग30
4 एपि० इंडि०, भाग II III : इंडि एंटी० भागxiv.
5 नीतिवाक्यामृतम्, पृ० 151. श्लोक 51.
6 मानसोल्लास, 2/55.
7 वस्तुपालचरित जामनगर प्रेस, पृ० 96.
8 वस्तुपाल प्रबन्ध, वसंत विलास मे I. पृ० 83.
9 द्वयाश्रयकाव्य, III 2
10 ले० प०, पृ० 8-9.
11 सी० आई० आर०, पृ० 161.

दशापराधिक नामक अधिकारी का उल्लेख आर० सी० मजूमदार ने दस अपराधो को करने वाले अपराधियों से दण्ड वसूल करने वाले के रूप मे किया है।[1]

पट्टकिल नामक अधिकारी को विद्वानो ने ग्राम का अधिकारी या ग्राम का प्रधान माना है। यह राजा की ओर से राजस्व की वसूली किया करता था।[2]इसकी सेवा के बदले ग्रामीण लोग पट्टकिलदाय दिया करते थे। कलचुरि शासक जयसिह के अभिलेख मे पट्टकिल का उल्लेख हुआ है।[3]

पथकीयक का उल्लेख '**लेखपद्धति**' मे बाजार के अन्य अधिकारियो के साथ आया है। इसका कार्य मार्गकर वसूल करना था।[4]

भोगपति, भोगपतिक या भोगिन अधिकारी का उल्लेख साहित्यिक तथा अभिलेखीय दोनों प्रकार के साक्ष्यों मे उपलब्ध होता है।[5]घोषाल ने इसे दान मे दी गयी भूमि से सम्बन्धित अधिकारी माना है।[6]आर० सी० मजूमदार ने राजस्व वसूल करने वाले अधिकारियों में भोगपति को भी रखा है।[7]

शौल्किक नामक अधिकारी को शुल्क ग्रहण कार्य से सम्बन्धित माना गया है। घोषाल, डी० एन० झा तथा फ्लीट आदि विद्वानों ने इसे शुल्क वसूल करने वाला अधिकारी माना हा।[8]परमार अभिलेख में भी इस अधिकारी का उल्लेख करते है।[9]शुल्क व्यापार एव वाणिज्य से सबधित कर था।

प्राचीनकाल में प्रजा की सुविधा को ध्यान मे रखकर ही धर्म शास्त्रकारो ने कराधान की व्यवस्था दी थी। परन्तु अधीतकाल मे बढती हुई सामन्तवादी प्रथा, विदेशी आक्रमण एव दैवी आपदाओं (अकाल), इत्यादि, आपत्तियों के कारण, राजाओं एव सामन्तो मे वृद्धिगत विलासिता तथा अधिकारियो एवं ग्रामपतियो द्वारा मनमानी ढंग एवं दर से कर वसूल करने के कारण प्रजा पर कर भार अत्यधिक हो गया था।

---

1 आर० सी० मजुमदार, हिस्ट्री ऑफ बंगाल, पृ० 278-295.
2 आर० एस० शर्मा, लैण्डग्राण्ट्स टू वासल्स एण्ड आफिसिल्स इन नार्दन इंडिया, (ए० डी० 1000-1200), पृ०6
3 लेखपद्धति, पृ० 8.
4 वही० पृ० 54.
5 मिताक्षरा 1/318- भोगपतेरिति दर्शितम्, एपि० इंडि० भाग 12, 28, 29, 30.
6 घोषाल, का०, हि० रे० सि० पृ० 394.
7 आर० सी० मजूमदार, हिस्ट्री ऑव बंगाल, पृ० 227-78.
8 घोषाल, वही, पृ० 320-27; डी० एन० झा, रे० सि० पो० मौ० गु० ड्रा० पृ० 170; फ्लीट, इण्डियन इन्सक्रिप्सन्स, पृ० 171.
9 एपि इंडि, भाग 19 पृ० 73. 2. 27, 28.

अष्टम अध्याय

धार्मिक-जीवन

धार्मिक-जीवन

प्राचीन काल मे भारत वर्ष मे हिन्दू धर्म ही प्रचलन मे था, जिसके अन्तर्गत वैदिक, ब्राह्मण-(वैष्णव शैव) शाक्त इत्यादि देवी- देवताओं की उपासना की जाती थी। कालान्तर मे हिन्दू धर्म मे विभिन्न जटिलताए उत्पन्न हो गई जिसके परिणामस्वरुप बौद्ध-धर्म तथा जैन-धर्म का भी उदय हुआ। पाचवी-छठी शताब्दी ई०-पू०- मे इन धर्मों का बहुत प्रभाव रहा है। बाद के युगो मे भी अनेक राजवशो मे इन धर्मों को राजाश्रय भी प्राप्त हुआ।

छठी शताब्दी तक जैन धर्म का धार्मिक और दार्शिनिक रुप प्रचलन मे था। धीरे-धीरे इस धर्म में भी बहुत से विभाजन तथा उप-विभाजन हुए जिसमे दिगम्बर तथा श्वेताम्बर प्रमुख थे। कालान्तर मे इनका भी उपविभाजन विभिन्न उप-विभाजन गणो, कुलो, शाखा तथा गच्छो मे हुआ[1] अधीतकाल तक आते-आते जैन धर्म का पश्चिमी भारत मे विकसित स्वरुप मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि दसवी शताब्दी तक पश्चिम-भारत को छोडकर समस्त उत्तर भारत मे इसका प्रभाव क्षीण हो गया था।[2] बगाल, बिहार तथा कश्मीर मे हमे इसके कुछ ही प्रमाण प्राप्त होते है।[3]मजूमदार के अनुसार "बौद्धधर्म के प्रभाव के कारण जैन-धर्म का प्रभुत्व पूर्व भारत से समाप्त हो गया।"[4]

साहित्यिक तथा अभिलेखिक प्रभावो से यह प्रतीत होता है कि ग्यारहवी-बारहवी शताब्दी में राजस्थान गुजरात तथा मालवा मे जैन धर्म लोक प्रिय था। **प्रबन्धचिन्तामणि** मे विभिन्न राजाओं द्वारा जैन धर्म को राजाश्रय प्रदान करने का उल्लेख प्राप्त होता है। चौलुक्य वंश के राजाओं द्वारा जैन धर्म को संरक्षण प्रदान करने का उल्लेख तत्कालीन अन्य साहित्य एव अभिलेखो मे भी प्राप्त होते है।

गुजरात में पत्तन क्षेत्र मे चावडा वश के सस्थापक वनराज के शासन मे आचार्य शीलगुण सूरि को बहुत सम्मान प्राप्त था।[5] उसके बाद के अन्य शासकों ने भी जैन धर्म को सम्मान दिया। विमल सूरि ने विक्रम सवत् 1030 मे विमलवसही मदिर का निर्माण आबू पर्वत पर करवाया था।[6] राजा मुञ्ज के दरबार के आभूषण घनेश्वर सूरि आचार्य थे[7] **प्रबन्धचिन्तामणि** मे विभिन्न धर्मों से सम्बन्धित अनेक देवी-देवताओ का उल्लेख हुआ है। चौलुक्यवश

1 डॉ० एस० बी० देव, हिस्ट्री ऑफ जैन मोनैकिज्म, पृ० 371-74
2 कमल चौहान, कल्चरल हिस्ट्री ऑफ नादर्न इडिया पृ०181
3 वही, आई० सी० भाग VI पृ० 134
4 वही,, द कल्चरल हेरिटेज ऑफ इंडिया, iv, पृ० 44
5 बी० एन० शर्मा, सोशल लाईफ इन नादर्न इंडिया पृ० 208
6 वही, २०८
7 वही, २०८

के शासक भी प्रारम्भ मे ब्राह्मण धर्मनुयायी ही थे, परन्तु तत्कालीन समाज मे बढते हुए जैन प्रभाव के कारण तथा प्रभावशाली आचार्यों के प्रभुत्व के फलस्वरुप कुमारपाल, वस्तुपाल, तेजपाल इत्यादि ने जैन धर्म अपना लिया । परन्तु वे पूर्णतया जैन धर्म के ही अनुयायी नही रहे अपितु वे शैव तथा अन्य धर्म के देवताओं समान रुप से आदर करते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ के रचयिता मेरुतुड, जैन आचार्य होने के कारण भी धर्म को **प्रबन्धचिन्तामणि** मे महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। उक्त ग्रन्थ मे एक स्थल पर मानतुङ्ग आचार्य द्वारा जैन धर्म की महिमा का वर्णन करना प्रसगित है।[1] एक अन्य स्थल पर राजा भोज से सबधित विवरण है कि पहले वह शिव का उपासक था, बाद मे जैन धर्म का अनुयायी हो गया। उसके शासनकाल मे एक ब्राह्मण का पुत्र शोभन ने जैन धर्म अङ्गीकार कर लिया। उसके प्रभाव मे आकर उसका भ्राता धनपाल भी जैन धर्म को मानने लगा[2] प्रस्तुत ग्रन्थ मे ही श्वेताम्बर तथा दिगम्बर का उल्लेख भी आया है।[3], जिसमें उनके विचारों तथा कर्त्तव्यों का भी उल्लेख हुआ है। राजा कुमारपाल जैन धर्म स्वीकार करने के बाद हेमचन्द्र के साथ जैन तीर्थों के अतिरिक्त सोमनाथ की यात्रा पर भी नही गया। वरन इसका मन्दिर का जीर्णोद्वार भी करवाया।[4]चौलुक्य शासक सिद्धराज ने जो पहले जैन मदिरो पर पताका फहराने पर रोक लगाई थी, उसे रोक को हटा लिया था[5] प्रस्तुत प्रमाणों के अतिरिक्त शासको एव सामन्तो द्वारा विभिन्न जैन मदिरो के निर्माण कराए जाने का उल्लेख भी इस ग्रन्थ में प्राप्त होता है। सिद्धराज ने सिद्धपुर मे रुद्रमहाकाल का मदिर बनवाया।

विक्रम सवत् 1033, के मूलराज प्रथम के शासनकाल के एक अभिलेख मे युवराज चामुण्डराज द्वारा वरणसरमक द्वारा एक खेत जैन मदिर हेतु दान देने का उल्लेख प्राप्त होता है, जो मेहसन जिले में स्थित था[6] दुर्लभराज के शासन-काल में धर्म स्मबन्धी वाद-विवाद हुआ था।[7]द्वयाश्रयकाव्य[8] में भी इस वाद-विवाद का उल्लेख आया है जयसिह सिद्धराज के राज्यकाल मे श्वेताम्बर तथा दिगम्बर के वाद-विवाद का उल्लेख प्रबन्धचिन्तामणि के अतिरिक्त मुद्रित कुमुदचन्द्र तथा प्रभावक चरित मे भी प्राप्त होत है।[9] शिजाओ के अतिरिक्त वर्ग भी जैन धर्म के अनुयायी हुए तथा उन्होने भी मदिर निर्माण इत्यादि धार्मिक कार्यों मे सहयोग दिया।

---

1 प्रबन्धचिन्तामणि पृ० 65-66 (टॉनी)
2 प्रबन्धचिन्तामणि, टॉनी, पृ० 19
3 वही पृ० 100 मेरु पृ० 67
4 वही, पृ० 130
5 वही, मेरु पृ० 65; टॉनी पृ० 96
6 भारतीय विद्या (हिन्दी-गुजराती) I 73.
7 भण्डारकर 1882-83, पृ० 45; I a XI, 249, I HQ xı,77
8 द्वयाश्रय, [illegible] ६४
9 प्रबन्धचि० मेरु ६६-६८; टॉनी पृ० 97-100; प्र० चरि XXI, 81251

जैनधर्म एवं स्थापत्य

अधीतकाल मे गुजरात काठियावाड तथा राजस्थान क्षेत्र मे चौलुक्य (सोलकी) वंश के अतिरिक्त चाहमान, परमार, प्रतिहार इत्यादि राजवशो के नरेशो ने जैन धर्म को अपनाया था तथा विभिन्न स्थानो पर जैन मदिरो का निर्माण करवाया था। चौलुक्य नरेश कुमारपाल जैन धर्मानुयायियो में अग्रणी था। तथा उसने सोमनाथ पत्तन में कुमार-विहार नामक मदिर का निर्माण करवाया था।[1] जो उसने हेमचन्द्र सूरि के आग्रह पर बनवाया था[2] मेरुतुङ्ग आचार्य के अनुसार देशभर मे कुल 1440 मंदिरो का निर्माण कुमारपाल ने करवाया था।[3] इनके अनुसार कुमारपाल ने एक मूषक बिहार का भी निर्माण करवाया जो उसने सिद्धराज से छिपकर भागते समय एक चूहे को नुकसान के पश्चाताप के फलस्वरुप इसका निर्माण करवाया।[4]मेरुतुङ्ग ने **प्रबन्धचिन्तामणि** में कुमारपाल द्वारा निर्मित अनेकों मदिरों का उल्लेख किया है। एक व्यापारी की पुत्र-बधू द्वारा कुमारपाल को तीन दिन तक व्रत के उपरान्त चावल तथा दही खिलाने पर उसके प्रति दया के फलस्वरुप उसने पत्तन मे करम्ब-विहार बनवाया।[5]इसी प्रकार एक अधिकारी द्वारा जीव-हत्या निषेध होने पर एक जूँ के मारने पर उसके जुर्माने के फलस्वरुप हेमचन्द्र के कहने पर यूका-विहार बनवाया।[6]स्तम्भतीर्थ में उसने दीक्षाविहार तथा सालिगवसहिका, झोलिका विहार मदिर बनवाए।[7]कुमारपाल के अतिरिक्त उसके मन्त्री उदायन ने कर्णावती मे मदिर बनावाय[8]कुमार पाल के एक अधिकारी ने शत्रुञ्जय पर्वत पर 1164-65 ई० में तथा उसके भाई आमरभट्ट ने भृमुकच्छ मे आकच्छिक मे मदिर बनवाये। बहुत से अन्य मदिर गिरनार, शत्रुञ्जय, आबू, खम्भात, स्तभतीर्थ, अणहिलवाड तथा धन्धुक मे बनवाए गए।[9] जैन धर्म के प्रभाव के बाद कुमारपाल ने जीव-हत्या की निषेधाज्ञा लागू किया।[10]

कुमारपाल के पश्चात् उसके उत्तराधिकारी अजयपाल जैन धर्म का विरोधी हुआ। **प्रबन्धचिन्तामणि**[11] में

---

1 बर्गीज, आर्कीटिक्चरल एन्टीक्यूटीज ऑफ नार्दर्न गुजरात पृ० 15.
2 जालैर स्टोन इंसक्रिप्शन, उद्घृत, डॉ० हि० ना० ई० II, पृ० 982-83.
3 ए० के० मजुमदार, वही पृ० 318.
4 वही
5 प्रबन्धचिन्तामणि मेरु० पृ० 91; टॉनी पृ० 143.
6 वही
7 वही मेरु पृ० 86; टॉनी 133; मेरु पृ० 93; टॉनी पृ० 146.
8 वर्गीज पृ० 13.
9 वही पृ० 15.
10 किराडू स्टोन-पिलर इंसक्रिप्शान्स (डॉ० हि० ना० इ० II. पृ० 979-80)
11 प्रबन्धचिन्तामणि मेरु। पृ० 96; टॉनी पृ० 151.

एक स्थान पर यह उल्लेख प्राप्त होता है कि एक विदूषक के उपहास करने पर उसने सभी जैन मदिरों को तुडवा दिया और ब्राह्मण धर्म को स्वीकार कर लिया। लेकिन उसके ऐसा करने से जैन धर्म का अस्तित्व समाप्त नही हुआ। उसके पश्चात् वस्तुपाल तथा तेजपाल के सरक्षण मे यह धर्म पुनरुस्थापित हुआ। इनके सरक्षण में बहुत से जैन- मदिरो का निर्माण हुआ तथा फलस्वरुप, सम्भवत समकालीन साहित्य मे इन्हे महान जैन-भिक्षु की सज्ञा से अभिहित किया गया। वस्तुपाल-तेजपाल द्वारा अनेक जैन-मदिरो तथा साहित्यिक ग्रन्थो मे जैन वास्तु के निर्माण प्रसगति है। आबू मे निर्मित जैन मदिरो का प्रमाण अभिलेखो मे प्राप्त होता है।[1] वर्तमान गिरनार मदिर में केन्द्र मे उन्नीसवे तीर्थकर मल्लिनाथ तथा दोनो पार्श्व मे सुमेर तथा समेत शिखर की मूर्तियाँ स्थापित हैं।[2] इस मदिर मे ही छ अभिलेख उल्लिखति है, जिनसे यह ज्ञात होता है कि सवत् 1276 मे वस्तुपाल तथा उसके छोटे भाई तेजपाल ने एक करोड मदिरो का निर्माण (अतिरजना प्रतीत होती है।) करवाया तथा बहुत से पुराने मदिरों का जीर्णोद्वार भी करवाया।[3] ये मदिर विभिन्न तीर्थस्थानो पर निर्मित करवाए गए- जैसे- शत्रुञ्जय, अर्बुदाचल, (राजपूताना के सिरोही राज्य मे अरावली श्रखला मे) तथा बहुत से समृद्ध नगरो मे अणहिलपुर (वेरावल-पतन) भृगुपुर (भृगुकच्छ - बीसवें जैन तीर्थङ्कर) स्तम्भनकरपुर (सुवृत का मदिर) स्तम्भतीर्थ, (खभाते) दर्भवती, (दभोई गुजरात मे) धवलक्क (धोलक (गौड) प्रदेश) तथा बहुत से अन्य स्थान पर। इन मदिरो मे तेजपाल द्वारा आबू में निर्मित नेमिनाथ बाईसवे तीर्थङ्कर का मन्दिर निश्चित रुप से पहचाना जा सकता है, जिसे उसने अपनी पत्नी अनुपमादेवी तथा पुत्र लवणसिह की धार्मिक धर्म अर्भिवृद्धि के लिए निर्मित करया था।[4] इस मदिर से बतीस अभिलेख प्राप्त होते है।

विभिन्न साहित्यिक ग्रन्थो मे भी वस्तुपाल तथा तेजपाल द्वारा निर्मित बहुत से मदिरो एवं अन्य इमारतों का उल्लेख प्राप्त होता है। तीर्थकल्प मे दोनो भ्राताओं द्वारा शत्रुञ्जय पर 18 करोड तथा 90 लाख, 12 करोड, 80 लाख गिरनार पर तथा आबू पर 12 करोड, 53 लाख और अन्य जनकल्याण पर 300 करोड तथा 14 लाख खर्च करना प्रसगित है।[5] यह आकडा भी अतिरजित प्रतीत होता है। इससे केवल इतना ही निष्कर्ष निकलता है कि जैन मदिरो के निर्माण हेतु उक्त दोनो जैन मन्त्रियो-वस्तुपाल एवं तेजपाल ने प्रभूत धन व्यय किया।

1 ए० के० मजुमादार, चौ०गु० ....पृ० 320
2 वही,
3 वही (कोटिरभि नव- धर्मस्थानानि प्रभूत- जीर्णोद्वाराश्च कारितः)
4 गिरनार अभिलेख, ए० आर० बी० पी० 283-302.
5 सी० डी० दलाल, वसन्तविलास इन्ट्रोडक्शन पृ० xvi.

वस्तुपाल-तेजपाल प्रशस्ति मे उल्लिखित है कि वस्तुपाल ने एक इन्द्रमण्डप का निर्माण ऋषभ भगवान के मंदिर के सामने शत्रुञ्जय मे करवाया जिसके दोनों और पार्श्वनाथ तथा नेमिनाथ का मन्दिर भी बनवाया, उसने एक तोरण भी शत्रुञ्जय मन्दिर मे बनवाया। पादलिप्तनगरी मे एक झील बनवाई, तथा अर्कपालित ग्राम बनवाया। वस्तुपाल ने नाभेय, नेमिनाथ तथा स्तम्भनेश का मदिर बनवाया। उसने अन्य भी बहुत से मन्दिर निर्मित कुएं, तालाब, बगीचे, यात्रियों के लिए आराम ग्रह समागार पौसला, निर्मित करवाया तथा मदिरो को स्वर्ण-दण्ड दान किया वस्तुपाल ने शकुनिका-विहार भडौच मे पार्श्वनाथ की तथा महावीर की मूर्ति प्रतिमा स्थापित कर 25 स्वर्ण दण्ड देवकुलिका (Small Shries) को भी दान दिया।[1] प्रमसूरि द्वारा विरचित **सुकृतकीर्तिकल्लोलिनी**[2] भी वस्तु पाल तथा तेजपाल द्वारा निर्मित उपरोक्त मन्दिरो एवं पौषध शाला तथा स्वजन कल्याणार्थ विभिन्न भवनों के निर्माण की पुष्टि होती है। वि० स० 1285 मे अरि सिंह द्वारा रचित **सुकृत संकीर्तन** में भी वल्तुपाल द्वारा निर्मित मन्दिरो की एक लम्बी सूची प्राप्त होती है।[3]

अधीतकाल मे न केवल चौलुक्य वश अपितु अन्य राजवंशो के नरेश भी जैन धर्म में आस्था रखते थे। इसके प्रमाण बहुत से अभिलेखो तथा साहित्यिक ग्रन्थो से प्राप्त होते है। विजोलिया शिलालेख[4] (ई० 1170) में यह विवृत्त है कि जावालिपुर (मेवाड) के चाहमान लोग पार्श्वनाथ तथा दूसरे जैन देवताओं में आस्था रखते थे तथा उन्होंने पार्श्वनाथ को एक ग्राम का अनुदान भी दिया था। बारहवीं शताब्दी के बहुत से अभिलेख जो नड्डलु के चाहमानो से सम्बन्धित थे, यह उल्लिखित है कि इन राजाओं द्वारा महावीर[5] नेमिनाथ,[6] आदिनाथ,[7] तथा शान्तिनाथ के[8] मन्दिरो की पूजा तथा रखरखाव के लिए अनुदान दिया गया। नेमिनाथ तथा पार्श्वनाथ के प्रसिद्ध मन्दिर दक्षिण राजस्थान के कुम्भरिया मे स्थित है जो ग्यारहवी शताब्दी के है, तथा ग्यारहवीं-बारहवी शताब्दी का आदिनाथ (विमल वसही) का मदिर दिलवाडा मे माउट आबू पर स्थिति है।[9]

चाहमानो के अतिरिक्त कतिपय चन्देल तथा परमार भी जैन धर्मानुयायी थे 1085 ई० में 15 फिट ऊँची

---

1 वस्तुपाल-तेजपाल प्रशस्ति, 45-69.
2 सुकृत कीर्तिक, पृ० 157-176.
3 चौलुक्य गुजरात, ए० के० मजुमादार वही पृ० 322
4 डॉ० हि० ना० इ० II, पृ० 1081-1082.
5 वही० पृ० 1109, 1113.
6 वही 1112.
7 वही.
8 वही. 1109-10.
9 स्टेला क्रमरिस्क, द आर्ट आफ इंडिया प्लेट 132, 133,134

शातिनाथ की मूर्ति कायोत्सर्ग मुद्रा मे खजुराहो के अवशेषो मे प्राप्त होते है[1] वही पर आदिनाथ तथा पार्श्वनाथ[2] के मन्दिर भी प्राप्त होते है। बुन्देलखण्ड से भी जैनधर्म से सम्बन्धित जानकारी प्राप्त होती है। इसी प्रकार के जैनधर्म से सबधित उदाहरण मालवा से प्राप्त होते है। एक अभिलेख[3] से यह प्रकट होता है कि ग्यारहवी शता० मे परमार राज्य के दक्षिणी क्षेत्र खानदेश मे एक श्वेताम्बर आचार्य अम्भदेव ने बहुत से लोगो को धर्म परिवर्तित कराकर जैन धर्म स्वीकार करवाया। इसी प्रकार ग्यारहवी शताब्दी मे मध्य भारत[4] से भी जैन धर्म के अवशेष प्राप्त होते है।

जैन-धर्म की उन्नति—

जैन धर्म 7 वी 8वी शताब्दी से ही उन्नत अवस्था मे था। ग्यारहवी बाहरहवी शताब्दी मे राजस्थान थता गुजरात क्षेत्र मे यह धर्म बहुत फूला फला यद्यपि तेरहवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे जैन धर्म ने उत्तर भारत मे अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था[5] वसन्त विलास महाकाव्य[6] मे यह उल्लेख प्राप्त होता है कि चौलुक्य मन्त्री वस्तुपाल (1219-1233 ई०) जब तीर्थयात्रा पर जा रहा था तब उसके साथ लाट, गौड, वंग, मरु, कच्छ डाहल तथा अवन्ति देश के सधपति भी थे) प्रबन्धकोश[7] मे वस्तुपाल द्वारा बहुत से मन्दिर तथा मरु बनवाने का उल्लेख है। राजस्थान, गुजरात तथा अन्य क्षेत्रो मे जैनधर्म की उन्नति का सम्बन्ध मध्यम वर्गीय वैश्य वणिकों तथा व्यापारियों से था। जिसके दो कारण थे प्रथम, यह अहिंसावादी था, जिससे व्यापारिक कार्य शातिपूर्ण ढग से तथा सुचारु रुप से चलता था। द्वितीयत इससे उन्हें तत्कालीन समाज मे सम्मान प्राप्त हुआ । इस प्रकार अधीतकाल में तत्कालीन समाज मे व्यापारिक उन्नति के साथ-साथ जैनधर्म की भी उत्तर भारत मे प्रगति हुई।[8] यही नहीं कुमार पाल तथा वस्तुपाल के समय मे वैश्य सघ ने गुजरात के प्रशासनिक कार्यों मे भी हस्तेक्षप प्रारभ कर दिया था।[9] जैन साहित्य तथा स्थापत्य के निर्माण के प्रमाण भी इस युग मे प्रचुर मात्रा मे प्राप्त होते हैं, जो कि विकसित

1 जैन एन्टीक्यूरी, भाग xix, न० I जून 1953. पृ० 53.
2 एम० ए० एस० आई० 1922, न० 11.
3 एपि० इडि० भाग xix, पृ० 71
4 आर० डी० बनर्जी, द हयहय ऑफ त्रिपुरी एण्ड देअर मोनूमैंट्स एम० ए० एस० आई न० 24,1932, पृ० 100.
5 गांगुली, हिस्ट्री ऑफ द परमार डाइनेस्टी पृ० 253
6 वसन्तविलास, सर्ग X
7 वस्तुपाल-प्रबन्ध,
8 वैद्य, हिस्ट्री ऑफ मेडीवल हिन्दू इंडिया, पृ० ४१२
9 डॉ० हि० ना० इं० ११, पृ 997

जैन धर्म की स्थिति को प्रमाणित करते है।

जैन-स्थापत्य—

शिल्प, शास्त्रो मे प्रमुख रुप से स्थापत्य की तीन शैली नागर, द्रविड, और वेसर बताई गयी है। गुजरात के स्थापत्य 'नागर' शैली पर ही आधारित थी, इसमे लाटी शैली का प्रयोग किया गया है। चौलुक्य मदिरो के निर्माण मे सबसे प्रमुख बात उसका शिखर है। गुजरात के शिल्पशास्त्रो मे शिखर के 24 प्रकार बताए हैं[1] पूर्व के मंदिरों में वक्र रेखा ऊर्ध्वधर (Vertically) होती थी और ऊपरी शिखर की ओर झुकी होती थी परन्तु बाद के मदिरो मे शिखर का वक्राकार मुख्य शिखर की ओर झुकता है जिसे उरुश्रृग या अंग शिखर कहते हैं, जो नीलकण्ठ महादेव के सूनक मदिर में देखने को मिलता है। लेकिन मध्य शिखर हमेशा मुख्य मदिर के ऊपर ही होता था। शिखर के शीर्ष भाग पर एक गडढेदार परिधि के रूपी में एक पत्थर रखा होता था जिसे आमलसर कहते थे, इसके ऊपर इससे छोटा एक और आमलसर होता था तथा उस आमलसर के ऊपर एक कलश रखा जाता था।

चौलुक्य मदिरों मे मूलत एक मदिर (वेदी) होती थी तथा एक खंम्भों वाला हॉल (बड़ा कमरा) होता था। जिसे गूढ-मंडप कहा जाता था। छोटे मदिरों में तो एक ही हाल होता था परन्तु बडे मदिरों में इसी से लगा हुआ एक अन्य हाल भी होता था जिसे सभा मडप (assembly hall) कहते थे, जैसा कि मोढेरा के मदिर में प्राप्त होता है। इसे रग-मण्डप या नृत्य शाला भी कहते है।

चौलुक्य मदिरो का मुख्य आधार प्राय· तीन भाग मे विभक्त होता था, पहला भाग पी० या आधार, दूसरा मण्डोवर या दीवार और तीसरा ऊपरी भाग या शिखर कहलाता था। इन मदिरो की एक अन्य विशेषता यह थी कि इनमे नक्काशीदार खभे, होते थे जो छत को साधते थे खभे के विभिन्न अवयवो द्वारा मदिर की उच्चता को विभिन्न भागो मे बाटा जा सकता था। खभे के आधार को कुभी कहते थे जिसमें आले बने होते थे। ये एक साचे जैसे होते थे जिन्हे केवल कहते थे जो ग्रासपट्टी या नक्काशीदार चेहरो से घिरे होते थे। खंभो का ऊपरी भाग भरणी कहलाता था जिस पर छत का हिस्सा टिका होता था। कुंभी से लेकर भरणी तक के भाग को स्तम्भ कहा जाता था। इन स्तम्भो पर विभिन्न प्रकार की नक्काशी की गयी होती थी।

---

1 फरगूसन, ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एण्ड ईस्टर्न आर्किटेक्चर, 11, 431,437, 439, 444 बर्गीज एण्ड कूजन आर्किटेक्चरल एन्टीक्यूटीज ऑफ नार्दन गुजरात, पृ० 27

चौलुक्य मदिरो का गुम्बज अन्य मन्दिरो से भिन्न विशेष प्रकार का होता था। यह अष्टभुजी खम्भो से घिरा होता था जो कि एक मध्य भाग बनाता था तथा मूर्ति के ऊपर केन्द्र भाग मे ऊँचाई पर एक् पैण्डुलम की भांति होता था। ये अष्टभुजावाले स्तभ कुछ इस प्रकार ज्यामितीय विधि से बने होते थे कि ये बाहर की ओर एक गलियारा का रूप बनाते थे। इस प्रकार यह स्थापत्य शैली मे परिस्तभ होता था।

आन्तरिक सज्ञा भी चौलुक्य मदिरो का एक अग थी। प्राय मदिरो मे बाहरी सजावट को देखने को मिलती है परन्तु आन्तरिक सज्ञा विल्कुल नगण्य होती है, लेकिन गुजरात मे अन्तर भाग तथा मूर्ति आदि की सजावट का पूरा ध्यान रखा जाता था। इसका एक कारण था कि गुजरात के मदिरो में बहुत बाद तक लकडी का प्रयोग होता रहा है जिस पर नक्काशी वगैरह की जाती थी। बाद मे पत्थरो का प्रयोग होने पर भी स्तभों एवं मेहराबों पर लकडी की भॉति नक्काशी करने के प्रयास किए गए, जिसके लिए आबू मदिर की छत तथा मोढेरा मदिर के स्तभ, मेहराब लकडी की ही भॉति नक्काशी किए जाने के कारण विश्व मे प्रसिद्ध है।

इन मंदिरो मे तोरण तथा मदिर के सामने तालाब खुदवाने या बनवाने की परम्परा भी थी। ये तोरण दो स्तम्भो पर टिके होते थे। संम्पूर्ण ढाचे पर नक्काशी होती थी। इन्ही तोरणो के मध्य कभी-कभी मूर्तियों का निर्माण होता था। मंदिरो के सामने तालाब होते थे जहाँ पर देवता आते थे ऐसी लोगों मे धारणा थी।

प्रमुख जैन- तीर्थ—

प्रमुख जैन तीर्थों मे शत्रुञ्जय, गिरनार आबू पर्वत का दिलवा मदिर इत्यादि है। इनके अतिरिक्त बहुत से अन्य जैन-मदिर भी है जिनका महत्व था।

शत्रुञ्जय इन तीर्थों में प्रमुख था। यहॉ पर जैनो के चौबीसवे तीर्थङ्कर आदिनाथ का मदिर है। यह मैदान से दो हजार फीट की ऊँचाई पर स्थित है। इसे जैनो का प्रथम तीर्थस्थान कहा गया है। यहाँ पर आदिनाथ की मूर्तियॉ विभित्र मुद्राओं मे बनी है।

इन पर चॉदी के छत्रो से हल्की रोशनी पडती है । हवाओं मे भीनी महक होती है, पालिश युक्त फर्श पर नगे पैर, लोहित (scarlet) तथा स्वर्णिम पैरो से युक्त उपासिकाए, गोलाकार घूमती थी तथा एक शुर में गीत गाकर मधुर सगीत प्रस्तुत करती थी। सौराष्ट्र के राजा शीलादित्य के नेतृत्व मे दानेश्वर ने वलभी में शत्रुञ्जय महात्म्य पर 8,700 पक्तियां सस्कृत मे लिखी तथा 108 नाम शत्रुञ्जय पर्वत के बताए।

माउट आबू पर भी दो मदिर पहला विमल शाह तथा दूसरा तेजपाल ने बनवाया जैन मंदिर है, जो कि

दक्षिणी राजपूताने मे पडते है तथा ये तीर्थ से अधिक पर्यटन स्थल के रुप मे जाने जाते है। माउट आबू मंदिर के अभिलेख के अनुसार विमल ने 1031-32 ई० मे ऋषभनाथ को समर्पित करके एक मदिर बनवाया था। अन्य जैन मदिरो की भाति ही यह मदिर भी चारो ओर से एक दीवार द्वारा घिरा हुआ था जिसे देवकुलिका कहते थे। यह चारो ओर से आगन से जुडा होता था।

इन मदिरो मे एक मूलगर्भ है, दो हाल है जिनमे एक गूढ-मण्डप, एक सभा मण्डप तथा एक प्रदक्षिणा मार्ग था। सभा णण्डप मे चार कोने बने थे, इसमे एक केन्द्र बिन्दु भी होता था। इसके गुम्बज में 11 केंद्रीय छल्ले बने थे। जिनमें गुम्बज के पाँच छल्लों एक दूसरे से बराबर दूरी पर सन्निवेष्ठित हैं। तथा इन पर बहुत से पशुओं के अतिरिक्त अन्य प्रकार के चित्र भी अकित है। इसके शीर्ष मे एक केन्द्रीय लटकन होती थी तथा इसमें चारों ओर छोटी-छोटी लटकनें भी थी। इसकी अन्दरुनी छत मे भी नक्काशी की गयी थी।

दिलवाडा के एक अन्य मदिर को तेजपाल ने अपनी पत्नी अनुपमा देवी तथा पुत्र लूण प्रसाद की ख्याति हेतु निर्मित कराया था। यह मदिर विमलवसहिका मदिर से आकार मे बडा था। यह मदिर केवल आन्तरिक सज्जा एव स्तम्भों की बनावट मे विमल व सहिका से थोडा, भिन्न है शेष वास्तु के पहलुओं से सम्बन्धित मंदिर विन्यास तथा अलांकरणो का अन्याङ्कन में दोनो मे साम्यता मिलती है।

ब्राह्मण धर्म एव स्थापत्य— भारत वर्ष मे प्रचलित विभिन्न धर्मों में शैव धर्म का प्रमुख स्थान है। विभिन्न राज्यो मे विभिन्न शासको द्वारा शैव धर्म अपनाने के अनेक आभिलेखिक तथा पुरातात्विक साक्ष्य प्राप्त होते हैं।

गुजरात के चौलुक्य नरेश सिद्धराज जो वैयक्तितक रुप रो जैन धर्म मे विश्वास रखता था, ने एक मंदिर गणनाथ का बनवाया[1] वेरावल-प्रशस्ति[2] से ज्ञात होता है कि चौलुक्य नरेश कुमारपाल जिसे प्राय जैन धर्म से सम्बद्ध ही बताया जाता है, उसने (महेश्वर - नृपाग्रणीह) की प्रशंसा की तथा सोमनाथ शैव मदिर का जीर्णोद्वार करवाया और एक ग्राम भी मदिरो को दान दिया। उसने समिद्धेश्वर देव (शिव) की पूजा करके चित्तौड़गढ मंदिर का भी दान किया। [3]उसके एक सेनापति ने भी महेश्वर की मूर्ति स्थापना किया तथा व्यय हेतु कुछ अनुदान दिया[4] उसके एक सामत ने भी जूनागढ में एक शिव मंदिर बनवाया[5] एक अन्य सामंत ने भीवडेश्वर का एक मंदिर

1 मंगरौल शिलालेख, वही, II-978
2 जूनागढ़ शिलालेख वही, II, पृ० 984
3 नाडलाई शिलालेख, II, पृ० 984.
4 उदयपुर शिलालेख, वहीII, पृ० 999
5 डी० एच.एन आई० II. पृ० 1000

का मण्डप बनवाया।[1] उसके उत्तराधिकारी अजयपाल के काल मे एक लाभन्त ने उदयपुर मे एक शिव मंदिर वैद्यनाथ हेतु एक ग्राम दिया ।[2] भीम द्वितीय ने भी सोमनाथ मे एक मेघनाद का मदिर बनवाया।[3]

चौलुक्य राजवश के अतिरिक्त तत्कालीन अन्य राजवशो यथा नड्डुल के चाहमानो, कनौज के गहडवालों, चन्देलो, एव त्रिपुरी के कल्चुरि, राजवशो के अभिलेखो एव पाल तथा सेन के अभिलेखो मे भी ऐसे साक्ष्य प्राप्त होते है जिनसे अधीतकाल मे शैव धर्म के भी प्रचुर रुप से प्रचलन मे होने का ज्ञान प्राप्त होता है।

शिव के अतिरिक्त गणेश, कार्तिकेय, ब्रह्मा, विष्णु, कृष्ण इत्यादि देवताओं की उपासना भी पश्चिमी भारत मे होती थी, परन्तु गुजरात-कठियावाड़ क्षेत्र से इनके पर्याप्त साक्ष्य नही प्राप्त होते है। गुजरात से जिस प्रकार से शिव मदिर का निर्माण राजाओं ने करवाया, उस प्रकार विष्णु भगवान को कोई मदिर निर्मित नहीं हुआ। हेमचन्द्र कहते है कि जयसिंह ने दस अवतारो वाले विष्णु भगवान का मदिर सहस्त्रलिंग तालाब पर निर्मित करवाया था।[4] इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उस सक्ष्य विष्णु पूजा अस्तित्व मे तो थी लेकिन इसके पर्याप्त साक्ष्य अनुपलब्ध है।

जयसिंह तथा कुमारपाल[5] के समय दोहद अभिलेख मे यह उल्लेख आया है कि जयसिंह ने एक मंत्री को गोगा नारायण का मदिर बनवाने के लिए नियोजित किया। तथा इस मंदिर को अनुदान दिया गया । इसके दो अन्य रुपनारायण तथा बल्लालनारायण के मंदिर भी थे [6] सभवत उक्त दोनो नारायण वाची नाम सूर्य तथा विष्णु के ही स्थानीय नाम बताएँ है। श्रीधर की देव पत्तन-प्रशस्ति मे विष्णु मदिर के निर्मित होने का अप्रत्यक्ष रुप से प्रसग प्राप्त होता है[7] श्रीधर ने एक रोहिणीस्वामी का मदिर निर्मित कराया जिसमे केशव की तथा अन्य दैवताओं की मूर्तियॉ थी।

शारङ्गदेव के अनावाड प्रस्तर अभिलेख (वि० स० 1348) से कृष्ण देव के भी अस्तित्व में होने के प्रमाण प्राप्त होते है।[8] अभिलेख मे यह उल्लेख है कि कृष्ण की उपासना के लिए अनुदान, भेट इत्यादि दिए गए। गुजरात

---

1 द्वयाश्रय, xy 119
2 अपेंडिक्स न०173, 182 आर्के० गु०
3 अपेडिक्स नं० 235. आर्केलाजी ऑफ गुजरात
4 अपेडिक्स न० 215, वही
5 अपेडिक्स नं० 245, वही
6 अपेडिक्स नं०177, वही
7 ई० आई- I, पृ० 268.
8 विएना ओरिएंटल जर्नल, III. पृ०1

मे भी कृष्ण उपासना के एक-दो उदाहरण प्राप्त होते है। समकालीन साहित्य तथा स्थापत्य से भी विष्णु तथा कृष्ण देव के किसी विषिष्ट मदिर का उदाहरण नही प्राप्त होता । विष्णु तथा उनके अवतारो की कतिपय मूर्तिया केवल सूर्य तथा शिवमदिरो मे प्राप्त होती है। इसी प्रकार कृष्णावतार से सम्बन्धित दो प्रमुख व्याखाओं कालियमर्दन तथा गोवर्धनोद्वारण माउंट आबू, मानद, सोमनाथ तथा मगरोल से प्राप्त होते है।

उत्तर-भारत से गणेश-भगवान के उल्लेख अल्प ही प्राप्त होते हैं परन्तु प्रत्येक मंदिर में उनका चित्र अवश्य प्राप्त होता है। चौलुक्य नरेश जयसिंह[1] के एक अभिलेख मे भट्टारिकादेवी के साथ विनायक की मूर्ति वाले एक मंदिर का उल्लेख हुआ है। संभवता यह मंदिर अवशेष मात्र ही रह गया है। एक अन्य अभिलेख में गणेश मंदिर का गणेश्वर के नाम विख्यात होने का उल्लेख है। इस मदिर के मण्डप का निर्माण वस्तुपाल ने करवाया था इससे यह स्पष्ट है कि बारहवीं शताब्दी में गुजरात काठियावाड़ क्षेत्र मे गणेश देव की गणेशो पसिता प्रचलन में थी।

सोमनाथ मदिर— दसवीं शताब्दी में सोमनाथ मंदिर काठियावाड मे सबसे पवित्र तथा प्रसिद्ध तीर्थस्थान था।[2] सोमनाथ मंदिर के विषय में अतिम अभिलेख वेरावल प्रशस्ति मे प्राप्त होता है।[3] नूतन पुरातात्विक उत्खनन के फलस्वरुप एक गर्भगृह से ही तीन निर्गम द्वार एक दूसरे के सिरोभाग ऊपर से निकलते हुए प्रतीत होते हैं। इससे यह संकेत प्राप्त होता है कि एक ही स्थान पर तीन बार मंदिर का निर्माण हुआ जिसमे हर बार गर्भ-गृह एक ही स्थान पर बनाया गया, यह मंदिरों विभिन्न युगो मे विनष्ट हुआ ।

बारहवीं शताब्दी में इस मंदिर के पुन प्रकट होने के कोई ठोस प्रमाण नही उपलब्ध होते है। अभिलेख से यह स्पष्ट होता है कि चौलुक्य नरेश भीम द्वारा निर्मित यह मदिर पत्थर का बना हुआ था। लेकिन मेरुतुङ्ग के अनुसार कुमारपाल ने जिस मदिर का जीर्णोद्धार करवाया वह लकड़ी का बना था[4] जो बाद में समुद्र के जल के कारण बिनष्ट हो गया था। मदिर को देखरेख करने वाले वृहस्पति का कथन है कि भीग ने प्रस्तर का ही मंदिर बनवाया था जिसका पतन अधिकारियों के भ्रष्टाचार के फलस्वरुप हुआ था। अधीतकालीन विदेशी यात्री इब्न आसिर कहता है कि सोमनाथ मंदिर छप्पन चीड़ के स्तम्भो पर बना था जो पट्टे से ढका था।[5]

1 प्रबन्धचिन्तामणि मेरु 82, टॉनी 126. (सोमेश्वरस्य काष्ठमयं प्रासादं)
2 इलि० डासन० II, 476 (2ई०) 472, (1ई०)
3 प्रबन्धचिन्तामणि, मेरु० पृ० 61; टॉनी पृ० 90
4 साचऊ,II, 146
5 तीर्थ विवेचन काण्ड, पृ० 28.

इससे यह प्रतीत होता है कि दसवी शता० के पूर्वाद्ध मे सोमनाथ मदिर का निर्माण हुआ था इस मंदिर के मण्डप के ऊपर की छत काष्ठ के स्तभो पर आधारित थी, जिसके लिए छप्पन स्तम्भो की आवश्यकता थी। इससे सम्पूर्ण मदिर काष्ठ का निर्मित रहा होगा ऐसा नही कहा जा सकता । पीठ और मण्डप (मडोवर) तथा निर्गम द्वार प्रस्तर के बने होगे।

इस प्रकार दसवी शताब्दी मे इस स्थान पर प्रथम मदिर का निर्माण हुआ। एक शताब्दी के बाद भीम प्रथम ने द्वितीय मंदिर का निर्माण करवाया, इसके भी नष्ट हो जाने पर सौ वर्षों बाद कुमारपाल ने एक अन्य नए मंदिर का निर्माण इसी स्थल पर करवाया। चौलुक्य नरेशो मे ही भीम द्वितीय ने भी इस मदिर मे एक मण्डप जिसे मेघनाद कहते हैं निर्मित करवाया।

एच० कूजन इसी की निर्माण शैली के विषय मे लिखते है कि पूर्वी द्वार वाले इस मदिर मे एक गूढ मण्डप था, जिसमें तीन प्रवेश मार्ग थे और जो उच्च द्वार मण्डप द्वारा सुरक्षित थे। विशाल कक्ष के पश्चिमी भाग की ओर एक मुख्य कमरा था, जिसमे चारों ओर एक प्रदक्षिणा पथ था। इसके तीनो ओर दरवाजे युक्त खिडकियाँ थीं। इसमें एक सभा-मण्डप भी था। उसे बाद मे मुस्लिम शासको द्वारा मस्जिद के रूप मे बदल दिया गया।

मोढेरा का सूर्य मंदिर—अणहिलपाटन से लगभग 29 कि०मी दक्षिण की और पुष्पावती नदी के तट पर एक ग्राम मोढेर था। इस ग्राम के पश्चिम मे प्रसिद्ध सूर्य मदिर स्थित था, जिसके सामने के भाग में एक स्वस्तिकाकार तालाब था। यह पूर्वाभिमुखी था तथा इस प्रकार निर्मित किया गया था कि सूर्य उगने पर उसकी किरणें सीधी सभा-मण्डप पर पडें।

सम्पूर्ण मदिर जों खरशिला पर बना था, जिसमे एक गर्भगृह, गूढ मण्डप, सभा मण्डप थे। इसके सामने एक कुण्ड था। इसी के समीप छोटे-छोटे अन्य मदिर भी थे जो कालातर मे नष्ट हो गए ।

रुद्रमहालय— यह मंदिर अणहिलपाटन से लगभग 27 किलो मिटर उत्तर-पूर्व में सरस्वती नदी के तट पर सिद्धपुर में स्थित था। जिस प्रकार गया तथा प्रयाग मे पितृयज्ञ होता है, उसी प्रकार सिद्धपुर मे मातृयज्ञ हेतु इस मंदिर को निर्मित किया गया। कपिल आश्रय मे यहां मातृयज्ञ सम्पन्न होता था, जहाँ पर एक कुआँ तथा दो तालाब थे जिन्हें ज्ञान-वापिका, अल्प सरोवर तथा बिन्दुसरोवर कहते थे। इस स्थान का मूल नाम श्रीस्थल है। मेरुतुङ्ग कहते हैं कि सिद्धराज ने सिद्धपुर में रुद्रमहाकाल का मंदिर बनवाया। (प्रबन्धचिन्तामणि मेरु 61, टॉनी 90)। इस मंदिर का निर्माण कार्य मूलराज ने प्रारभ किया था तथा तेरहवी शताब्दी में इसे सिद्धराज ने समाप्त करवाया था।

अन्य मदिर— अन्य मदिरो को एक दो तीन तथा चार देवाताओं तथा पुजा स्थलो के आधार पर चार भागो में विभक्त किया गया सूनक मन्दिर प्रथम प्रकार का विशिष्ट मदिर था । इससे ही मिलते जुलते कतिपय अन्य मदिरो का निर्माण किया गया था।

मानसार झील पर स्थित वीरमणाम मदिर दो पूजा स्थलो वाला मदिर था। इसके पूर्व भाग मे शिव की तथा पश्चिम भाग मे विष्णु की पूजा होती थी।

तीन देवताओं वाला मंदिर कसर में था। पश्चिमी भाग मे शिव की, उत्तरी भाग मे विष्णु की तथा दक्षिणी भाग में ब्रह्मा की पूजा होती थी।

सौराष्ट्र के सण्डेरा तथा वधवन के मदिर भी अपने शिखर के कारण प्रसिद्ध थे।

रथयात्रा इस काल में बहुत प्रचलित थी। अशोक के समय मे रथयात्रा प्रचलित थी। यहाँ तक रथयात्रा का महत्व बढ़ गया था कि अनेक मंदिरों का निर्माण भी इसी आधार पर होने लगा, यथा- महाबलीपुरम्, रथमंदिर, पुरी का कोणार्क मंदिर। जैनियो के अतिरिक्त बौद्ध तथा ब्राहम्ण धर्म मे भी रथयात्रा थी।

तीर्थों का सामाजर्थिक महत्व—

प्राचीनकाल में ही विभिन्न तीर्थ स्थान एवं उनकी यात्रा करने का प्रचलन समाज में रहा है। पवित्र नदियों, पर्वतों, देव स्थानों, तडागों, मंदिरों इत्यादि, स्थानों पर तीर्थयात्रा हेतु जाने का प्रचलन सामान्य जन में ही नहीं अपितु शासक वर्ग में भी प्रचलन में था। शोध आघृत ग्रन्थ **प्रबन्धचिन्तामणि** में अनेक चौलुक्य शासकों एवं व्यापारियों, सभ्रान्त व्यक्तियों द्वारा तीर्थ स्थानों को निर्मित करवाने एव उनकी यात्रा हेतु जाने के अनेक प्रसङ्ग प्राप्त होते है। विभिन्न शासकों द्वारा प्रतिवर्ष शत्रुञ्जय, सोमनाथ इत्यादि तीर्थस्थानो पर जाने के भी उल्लेख प्रस्तुत ग्रन्थ मे प्राप्त होते हैं।

ऐसा विश्वास किया जाता है कि तीर्थ यात्राए प्राय. धार्मिक भावनाओं से परिपूर्ण, नैतिक उत्थान, मानसिक संतुलन बनाए रखने तथा खुशहाली एव मोक्ष हेतु की जाती थी। अल्बेरुनी के अनुसार सामान्य व्यक्ति तीर्थयात्रा के गौरव को जाने बगैर ही केवल धार्मिक विश्वास के कारण यात्राएं करते थे।[1] देश के कोने-कोने से इन विभिन्न तीर्थस्थलों पर लोग आते जाते थे, यह एक सांस्कृतिक भावना की ओर संकेत करते हैं। बारवहीं शताब्दी में उत्तर-भारत में तीर्थों का महत्व अधिक बढ़ गया था। चौलक्यों के अतिरिक्त चाहमान तथा गहडवाल वंश भी

1 साचऊ, 11, 146

तीर्थस्थानों की सुरक्षा हेतु जागरुक रहते थे। अधीतकाल मे तीर्थों का महत्व अत्यधिक होने का प्रमाण लक्ष्मीधर के तीर्थविवेचन-काण्ड से होता है। अल्बेरुनी भी इस सम्बन्ध मे बहुत कुछ लिखता है।

लक्ष्मीधर[1] के अनुसार तीर्थयात्रा केवल द्विजों के लिए ही नही अपितु शूद्रो, चाण्डाल एव अन्य निम्न जातीय लोगों हेतु भी थी, उन्हें सभी को काशी जाने का अधिकार था जहाँ सभी के पाप नष्ट होते थे। इस प्रकार छुआछुत की निवारण एव विभिन्न क्षेत्रों, स्थानों में आने वाले लोगों के बीच सामायिक तथा सास्कृति भावनाओं द्वारा जुड़ने का अवसर प्राप्त होता था।

तीर्थ स्थानों पर उपहार देने की प्रथा सामान्य व्यक्तियों के अतिरिक्त शासक वर्ग मे भी थी। सातवीं शताब्दी के हर्ष द्वारा प्रयाग में संगम तट पर कुछ द्वा देने की महत्वपूर्ण घटना प्राप्त होती है। बाद में समय में बहुत से भूमि अनुदान धार्मिक स्थलों एवं शिक्षित ब्रहमणों पुरोहितो को शासको, सामन्तो एव सम्पन्न व्यक्तियों द्वारा दान देने के उल्लेख भी प्राप्त होते हैं।

व्रत—जैन धर्म में व्रतों का महत्वपूर्ण स्थान था, जो कि अन्य धर्मों में प्रचलित प्रथाओं से भिन्न था।[2] व्रत से तात्पर्य होता है कि कुछ निश्चित अवधि अथवा पूर्ण दिवस, व्यक्ति अन्न एव जल का त्याग करे। आत्म-शुद्धि एवं आध्यात्मिक साधना के लिए व्रत किया जाता था। व्रत से व्यक्ति कर्म के बन्धन से मुक्त होता था यद्यपि प्रबन्धचिन्तामणि में व्रतों का विस्तृत उल्लेख नहीं आता तथापि उसकाल मे गुजरात काठियावाड क्षेत्र में विभिन्न पर्वों यथा अष्टाहीनका, पञ्चकल्याणिका एवं अन्य जैन पर्व एव ब्राह्मण धर्म से सबधित दुर्गापूजा,। इन्द्र पूजा, बलि पूजा ग्रीष्म एवं वसन्तोत्सव, आयलक एकादशी इत्यादि पर्व मानने का उल्लेख ए० के० मजूमदार करते है।[3]प्रायः इनमें पर्वों पर व्रत भी किया जाता था। कुवलय मालाकहा[4]में उल्लेख है कि तप और ज्ञान से जीव मुक्ति प्राप्त करता है, जिस प्रकार कीचड़ रहित तूंबा जल के ऊपर तैरता रहता है उसी प्रकार जीव ससार मे कर्म से मुक्त होकर उच्च स्थिति को प्राप्त करता है।

जैन कथाओं में भारतीय कार्तिक, फाल्गुन तथा आषाढ़ मासो के अतिम आठ दिन व्रत के लिए बताए हैं

---

1 तीर्थविवेचन काण्ड-पृ० 26
2 बृहत्कथाकोश, पृ० 53 उद्धृत वनमाला, सोशियो-इकोनोमिक स्टडी ऑफ द जैन कथा लिट्रेचर पृ० 219 पा० टि० 68.
3 चौ गुर पृ० 301-331
4 कुवलयमाला, पृ०0 98. 22-23

जिन्हे त्रि-अष्टाहिनक कहा है। **वृहत्कथाकोश** मे अष्टाहिनक पूजा का उल्लेख हुआ है। इसको नन्दीश्वर पर्वत भी कहा जाता था। इस दिन नन्दीश्वर द्वीप मे भगवान आते थे और 52 मदिरो मे भगवानो की पूजा होती थी ऐसी कथा का उल्लेख भी मिलता है। जैन लोग वर्ष मे ती नबार इस पूजन का आयोजन करते थे। इस पूजन के दिन लोग किसी को न मारने की शपथ लेते थे तथा रथयात्रा भी निकालते थे।[1]

वृहत्कथाकोश मे रोहिणी तथा पचमी-व्रत करने की विधि का भी उल्लेख हुआ है। पचमी-व्रत कृष्ण-पचमी एव शुक्ल पचमी को व्रत करते थे। व्रत के समापन पर जिन महोत्सव होता था। इस समय मदिरो को फूलों, धान, तम्बू एवं अन्य प्रकार से सजाते थे, फिर जैन- भिक्षु एव भिक्षुणियों को 'पचमी-पुस्तक' तथा अन्य पुस्तकें, भोजन तथा वस्त्र इत्यादि देते थे।[2] रोहिणी व्रत चन्द्रमा के रोहिणी-नक्षत्र मे होने पर किया जाता था। यह तीन वर्ष में चालीस व्रत या सरसात व्रत पांच वर्ष, नौ दिनो मे होते थे।[3] अडतालिस घटो का एक व्रत प्रोषधोपवास करने का उल्लेख **वृहत्कथाकोश** में प्राप्त होता है। इस व्रत को प्रारभ करने के पूर्व 48 घटो तक कुछ अन्न जल न खाने का संकल्प किया जाता था। तीसरे दिन मध्याहन भोजन से इस व्रत का पारण किया जाता था यह व्रत 36 या 24 घंटों का भी हो सकता था।

---

1 वृहत्कथाकोश, पृ० 118, नं० 57 अनुवाद 525-26, 532-36.
2 वही० पृ० 111 स्ट, नं० vv. 324-326
3 वही, स्ट ने 10.पृ० 14. पं०-3.

उपसंहार

शोध आधार ग्रन्थ **प्रबन्धचिन्तामणि** तथा अन्य समकालीन ग्रन्थो मे आए विभिन्न तथ्यो के अनुशीलन से तत्कालीन सामाजिक एव आर्थिक स्थिति का जो स्वरूप सामने आता है वह इस प्रकार है—वर्ण एव जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य एव शूद्रों की स्थिति मे परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। इस काल में एक ओर ब्राह्मणो की अनुष्ठानिक परम्पराओं का निर्वाह हो रहा था, तो दूसरी ओर कुछ ब्राह्मण वर्णेतर कार्य करने लगे थे। जो ब्राह्मण विधि विहित कार्य करके जीविका चलाने मे असमर्थ थे, वे निम्न वर्णों के व्यवसाय को अपनाने लगे थे। इसके अतिरिक्त कतिपय लोभवश वर्णेतर व्यवसायो को अपनाने लगे थे। साक्ष्यो के अनुशीलन से यह ज्ञात होता है कि आर्थिक घटक कही-कहीं कुछ सीमातक अनुष्ठानिक सामाजिक स्थिति को अपेक्षा अधिक प्रभावी थी। ब्राह्मणों की जन्म के आधार पर प्रतिष्ठित सामाजिक स्थिति क्षीयमान होने लगी थी। इस स्थिति के लिए पश्चिमोत्तर भारत में वृद्धिगत जैन प्रभाव एवं उनका ब्राह्मण विरोध भी कुछ सीमा तक उत्तरदायी था।

इसकाल में क्षत्रियों की स्थिति में भी कुछ परिवर्तन परिलक्षित होता है। ग्यारहवीं शताब्दी मे क्षत्रिय राजपूतों के रूप में उभर रहे थे। इसका कारण था कि इस समय बहुत सी विदेशी जातियाँ यहाँ प्रवेश कर गयी थीं और उनके अन्तर्जातीय विवाहों के कारण रक्त मिश्रणता में वृद्धि हुई और अलग-अलग वर्ग के रूप मे राजपूतों का उदय हुआ । उस समय सामन्तवादी व्यवस्था के वृद्धिगत होने के फलस्वरुप समस्त उत्तर-पश्चिम भारत के विभिन्न प्रदेशों में पृथक-पृथक राजपूत वंशजों का शासन हो गया था।

ग्यारहवीं बारहवीं शताब्दी मे पश्चिम भारत मे व्यापार एव वाणिज्य की उन्नति के फलस्वरूप वैश्यो की स्थिति में भी सुधार हुआ और वे समृद्ध होकर सामन्तीय स्थिति को प्राप्त हो रहे थे। ग्यारहवी शताब्दी में शूद्र और वैश्य को एक ही स्तर का स्वीकार किया जाने लगा परन्तु पश्चिम भारत के परिप्रेक्ष्य मे यह कथन समीचीन नहीं प्रतीत होता है। यद्यपि शूद्रो का स्तर भी बढा था, परन्तु वैश्य पूर्वकाल की अपेक्षाकृत अधिक उन्नति कर रहे थे। कभी-कभी कतिपय वैश्य सामन्तीय स्थिति को प्राप्त होते थे। बहुत से वणिको द्वारा विभिन्न देवालयों के निर्माण एवं पुण्यार्थ अनुदान आदि देने के प्रसंग भी उनकी समृद्ध एवं उन्नत सामाजिक स्थिति का द्योतन करते हैं।

इस काल मे शूद्रों की स्थिति मे भी सुधार था। शूद्र भी अन्य वर्णों पर आश्रित होने की अपेक्षा कृषि एव शिल्प व्यवसायों को अपनाकर आत्म-निर्भर हो रहे थे। परन्तु कुछ व्यवसायो- को अभी भी अनुष्ठानिक दृष्टि से हीन

समझा जाता था तथा उनको अपनाने वालो को अन्त्यज की कोटि मे चारोवर्णों से बाहर रखा जाता था। विभिन्न शिल्पो तथा व्यवसायो मे लगे होने के कारण लौकिक दृष्टि से तन्तुवाय, स्वर्णकार इत्यादि कतिपय अन्त्यजो की सामाजिक आर्थिक स्थिति पूर्वकाल की अपेक्षा बेहतर थी। इस प्रकार के उल्लेखो से यह अनुमानित होता है कि इस समय यद्यपि वर्ण-सम्बन्धी कर्तव्यो के लिए उतनी कट्टरता नही रह गयी थी, वर्णेतर कार्य करने की अनुमति भी कभी-कभी प्राप्त थी, परन्तु सामान्य रूप से अन्त्यजो के समाज मे पिछडापन व्याप्त था।

प्रबन्धचिन्तामणि मे भी गृहस्थ धर्म के पालन के लिए जैन आचार्यों ने गृहस्थो के विभिन्न कर्त्तव्य बताये हैं हिन्दू परिवार का ढाचा प्राचीनकाल से संयुक्त परिवार के इर्द-गिर्द घूमता था। समाज मे एक परिवार के तीन सामाजिक कार्य सामाजिक व्यवस्था को ध्यान मे रखते हुए बताया गया है सामाजिक सम्बन्ध बनाना, दूसरा श्रम का पुनरुत्पादन तथा तीसरा परिवार को चलाना तथा इसके सदस्यो का पोषण करना । सयुक्त परिवार में पिता ही परिवार का मुखिया होता था। जीमूतवाहन ने यह कहा है कि पिता के जीवन काल मे पुत्र को हिस्सा मांगने का अधिकार नहीं है। पिता के बाद ज्येष्ठ पुत्र के गृहपति होने का गौरव प्राप्त होता था। **कथासरित्सागर** के अनुसार पुत्री की प्राय. इच्छा नही की जाती थी। परिवार मे पति, पत्नी, माता का भी महत्वपूर्ण स्थान होता था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अपने-अपने कार्यों के अनुसार अपने दैनिक कार्यों को सम्पन्न करते थे।

अधीतकाल मे भी विवाह के आठ प्रकार ही बताए गए है:- ब्रह्म, दैव, आर्ष, प्रजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस तथा पैशाच। गृहस्थ काण्ड मे लक्ष्मीधर ने इन विवाहो को भिन्न वर्णों के लिए बताया है। **प्रबन्धचिन्तामणि** में मयणल्लदेवी का कर्ण से गन्धर्व विवाह करने का उल्लेख मिलता है। अधीतकाल में अनुलोम विवाह करने की अनुमति प्रदान की गयी है परन्तु प्रतिलोम विवाह का निषेध हुआ है। सजातीय विवाह को ही महत्व दिया जाता था। जनसाधारण में एक ही विवाह करने का प्रचलन था, जबकि शासकवर्ग के लोग बहु-विवाह करते थे।

विवेच्यकाल मे स्त्रियो की स्थिति मे निरन्तर उतार-चढाव आता रहा है। विभिन्न युगो मे स्त्रियों की पृथक-पृथक स्थिति रही है। जैन ग्रन्थों मे भी उनके सम्बन्ध मे अनेक उल्लेख आए है। जैन लेखको ने उन्हे सम्माननीय उल्लिखित किया है फिर भी स्त्रियो को सन्यासियो ने पतन का कारण माना है। **प्रबन्धचिन्तामणि** मे भी दिगम्बर जैन स्त्रियो को अच्छे कार्यों के लिए उपयुक्त नहीं मानते थे। इसी काल के कतिपय उल्लेख स्त्रियों की उच्च स्थिति को भी द्योतित करती है। नाई की देवी द्वारा म्लेच्छो से युद्ध करना, मयणल्लदेवी द्वारा सोमनाथ की यात्रा पर जाना तथा प्रभूत दान देना, बाल विधवा-विवाह इत्यादि विवरण उनकी अच्छी स्थिति पर प्रकाश डालते हैं। चौलुक्यराज कुमारपाल द्वारा पुत्रहीन विधवा की सपत्ति जब्त किए जाने वाले कानून को समाप्त करना भी

इनकी स्थिति मे सुधार पर प्रकाश डालता है। आलोच्यग्रन्थ मे वेश्याओं के लिए पणस्त्री शब्द का प्रयोग किया है, तथा इन्हे शिक्षा का, धर्मिक कार्य करने का तथा विवाह का अधिकार था। **प्रबन्धचिन्तामणि** मे सती का कोई प्रमाण नही मिलता है।

अधीतकाल मे पूर्व मध्यकाल के पूर्वार्द्ध (600-1000) की अपेक्षा तत्कालीन साहित्यिक ग्रन्थो तथा अभिलेखों मे दास दासियो के कार्य, व्यवहार, व्यापार इत्यादि पर प्रकाश पडता है। प्राय युद्ध मे बन्दी बनाए जाने, ऋण न चुकाने तथा दुर्भिक्ष पडने के कारण अपने जीवन यापन मे अपने को असमर्थ व्यक्तियो द्वारा स्वय आगतदास या दासी रूप में दासता स्वीकार करनी पडती थी। कतिपय अन्य कारण भी थे, विज्ञानेश्वर ने नारद को उद्घृत करते हुए दासों के 15 प्रकार बताए हैं। इस युग मे दासो को घर तथा बाहर, दोनो जगह कार्य करना पडता था।, जिसके बदले में उन्हे केवल भोजन तथा वस्त्र प्राप्त होता था। यदि उनसे कोई अपराध होता था तो उन्हें प्रताड़ित किया जाता था। बढ़ती हुई सामतवादी प्रथा के कारण दास अधिक बनाए जाते थे और धीरे-धीरे करके उनका व्यापार भी प्रारम्भ हो गया । पश्चिमी प्रांतो मे यह प्रथा और भी बढ रही थी। वहाँ से व्यापार के साक्ष्य अनेक साहित्यिक ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं। **लेखपद्धति** मे दास दासियो के विक्रय एव व्यापार के विवरण प्राप्त होते हैं। अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि 12 वी से 13 वी० शती ई० में, इसके पहले की चार शताब्दियों की अपेक्षा दास प्रथा में विकास हुआ।

समाज में राजा राजपरिवार के सदस्य, अधिकारी, एव समृद्ध वर्गों के अतिरिक्त एव जनसाधारण द्वारा धारण किए जाने वाले वस्त्रो एवं आभूषणो का उल्लेख हुआ है। जहाँ तक वेश-भूषा का प्रश्न है इस काल में स्त्री तथा पुरुष दोनों उत्तरीय तथा अधोवस्त्र धारण करते थे। पुरुष उत्तरीय के साथ धोती तथा पायजामा पहनते थे तथा स्त्रियाँ साड़ी या धोती पहनती थी। सिरोवेष्ठन सम्बन्धी कोई साक्ष्य प्राप्त नही होता किन्तु मूर्तियों में कहीं-कहीं रानियों या स्त्रियो को सिर ढके हुए दिखाया गया है। इससे यह प्रतीत होता है कि इस समय कुछ सीमा तक पर्दा किया जाता था। पुरुषों तथा स्त्रियो द्वारा नरव-शिख आभूषण धारण करने की भी परम्परा थी। आभूषणो में कर्णाभूषण-वाली, ताडपत्र इत्यादि, कण्ठा भूषण मे ग्रैवेयक, हार इत्यादि (हारो के लिए विभिन्न लडियों के अनुसार उनके नाम बताए गए हैं) हाथ के आभूषणो मे ककण, केयूर, मुद्रिका इत्यादि, इसी प्रकार पाँव के आभूषणों में नूपूर इत्यादि का प्रचलन था। स्त्रियाँ विभिन्न प्रकार के सौदर्य प्रसाधानों का भी प्रयोग करती थी। सुन्दर वेश-भूषा एवं आभूषणों का अत्यधिक प्रयोग तथा सौदर्य-प्रसाधन की विविध विधियो का व्हरण तत्कालीन सामाजिक स्थिति में शानोशौकत, विलासितापूर्ण फिजूलखर्ची जहाँ एक ओर विकसित सामन्तीय व्यवस्था का द्योतन

करती प्रतीत होती है तो वही दूसरी ओर अपेक्षाकृत विकसित अर्थ व्यवस्था का भी सकेत करती है। इसी प्रकार खान-पान मे विविधता को देखते हुए उस काल की उन्नत कृषि-व्यवस्था का भी पता चलता है। गेहू के आटे, चावल मे गुड, शक्कर, दुग्ध, दही, मसाले इत्यादि मिलाकर जो व्यञ्जन बनाने के उल्लेख प्राप्त होते है[1] उनसे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि विवेच्यकाल मे सम्पन्न कृषि-व्यवस्था थी तथा लोग अतिथि सत्कार हेतु विशिष्ट एव विभिन्न प्रकार के व्यञ्जन तैयार करते थे। मास-मदिरा का भी प्रयोग होता था/ परन्तु कुमारपाल ने जैन-धर्म अपनाने के बाद इस पर प्रतिबध लगाया, परन्तु इसका कबतक एव किस सीमा तक प्रभाव रहा इस सम्बन्ध में कुछ निश्चिय तौर पर नही कहा जा सकता। फिर भी जैनियो पर तो इसका विशेष प्रभाव पडा ही।

इस शोध-कार्य से तत्कालीन कृषि-व्यवस्था पर भी प्रकाश पडता है। इसके अन्तर्गत भूमि व्यवस्था भूमि के प्रकार, माप एव पैमाना, फसल, सिंचाई के साधन, कृषि उपकरण, खाद, कृषि-श्रम, कर्मकर, विष्टि, स्वतन्त्र कृषि-श्रम इत्यादि मे से कतिपय घटको की सूचनाऐं प्राप्त होती है। इस काल मे यद्यपि राजा का स्वामित्व, व्यक्तिगत-स्वामित्व एव सामुदायिक-स्वामित्व प्रचलन मे था परन्तु व्यक्तिगत स्वामित्व ही अधिक प्रभावी था। सिंचाई के प्रचलित सामान्य साधनो के अतिरिक्त अरघट्ट या घटीयन्त्र के बहु प्रयोग से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इस समय कृषि मे अपेक्षाकृत विकास दिखाई देता है। सिंचाई मे यन्त्रो का प्रयोग होने लगा था। विभिन्न फसलों के उत्पादन से यही अनुमान लगाया जा सकता है कि इस समय कृषि उन्नत अवस्था मे थी। इसकाल में उत्पन्न होने वाले अनाजो की एक सूचि **अभिधानचिन्तामणि** मे प्राप्त होती है। इसमे 17 प्रकार के अनाजों का उल्लेख है—व्रीहि, यव, मसूर, गोधूम, मुद्ग, भाष, तिल, चणक, अणव (Great millet,) (जुआर), प्रियंगु, कोद्रव, मयूष्ठक (मोठ), शालि, आधकी (Pigeon-pea), कलाय (Pea), कुलत्थ, शण (Hemp)। कर्मकर एव कर्षक शब्दों के उल्लेख से तत्कालीन कृषि मे प्रयोग किए जाने वाले श्रमो एवं श्रमिको की कोटियो का ज्ञान होता है।

व्यापार-वाणिज्य के अन्तर्गत वर्णित विभिन्न व्यवस्थाओं से अनुमान लगाया जा सकता है कि विवेच्यकाल में गुजरात क्षेत्र मे व्यापार-वाणिज्य उन्नत अवस्था मे था। **कुमारपालचरित** मे वर्णित बाजार-व्यवस्था, विभिन्न स्तर के व्यापारी, सुदूर देशो से व्यापार, व्यापारियो की सुविधा हेतु राजमार्गों एव विभिन्न साधनो की व्यवस्था इत्यादि व्यापारिक सुदृढ़ता का परिचय देते हैं। स्थल-मार्ग के अतिरिक्त जल-मार्ग से भी व्यापार होता था। कैम्बे, भड़ौच, सोमनाथ इत्यादि विभिन्न पत्तनो से विदेशो से आयात-निर्यात की जाने वाली विभिन्न सामग्रियो यथा मसाले, वस्त्र हाथी दाँत, घोड़े, अन्य खाद्य-सामग्रियों इत्यादि को व्यापारी ले आते तथा ले जाते थे। विभिन्न व्यवसायो को करने वाले व्यापारियों के विभिन्न वर्ग हो गए थे। एक वस्तु के व्यवसाय करने वालो को श्रेणी के अन्तर्गत रखा जाता

था। इन श्रेणियो का एक प्रमुख या अधिप होता था तथा इनके अपने नियम कानून, बैक, मुद्रा, सैन्यबल इत्यादि होते थे, जिससे यह प्रतीत होता है कि यद्यपि छोटे-छोटे व्यवसाय करने वाले विभिन्न वर्ग के होते थे परन्तु श्रेणी के अन्तर्गत आने से उन्हे पूर्ण सामाजिक सुरक्षा प्राप्त होती है। विभिन्न वस्तुओं से न्यूनाधिक क्रय-विक्रय के आधार पर तथा धन समाज के आधार पर भी व्यापारियो के विभिन्न वर्ग थे। स्थानीय-व्यापारी, श्रेष्ठि, सार्थवाह इत्यादि के विभिन्न वर्ग थे। इसी प्रकार पण्य विक्रय के अनुसार उत्तम, मध्यम तथा निम्न वर्ग के व्यापारी होते थे। इनके लिए विभिन्न नाम भी कोश ग्रन्थो मे प्राप्त होते हैं यथा—वाणिज्य, वणिक, क्रयविक्रयिक,पण्यजीव, नैगम, वैदेह, सार्थवाह इत्यादि। व्यापार में विनिमय हेतु मुद्रा एवं पण्य दोनो का प्रयोग होता था। जयसिंह एवं कुमारपाल द्वारा स्वर्ण एव रजत मुद्राओं के साथ ताम्र-मुद्राओं का भी प्रवर्तन किया गया। अनुमानत मुद्रा का प्रयोग राजाओं द्वारा, राजपरिवार के सदस्यो, अधिकारियो, समृद्ध व्यापारियो द्वारा कीमती एव अधिक मूल्य वाली वस्तुओं के क्रय के निमित्त प्रयुक्त किया जाता था।

शोध-आधृत ग्रन्थ मे विभिन्न प्रकार के शिल्पियो का उल्लेख प्राप्त होता है। उनमे तन्तुवाय, सूचिक, वेशकार, छिम्पिकया इत्यादि शिल्पी थे। इन शिल्पियों का उल्लेख **प्रबन्धचिन्तामणि** एव अन्य समसामयिक ग्रन्थो में भी प्राप्त होता है। यद्यपि इनके विषय मे कोई बहुत अधिक अच्छी स्थिति का सज्ञान **प्रबन्धचिन्तामणि** से नहीं होता है तथापि इन शिल्पि-वर्गो के मौजूद होने तथा इनके कार्यों के अनेक विवरणों से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि तत्कालीन समाज मे इन शिल्पियो की स्थिति बेहतर थी। वस्त्र उद्योग, काष्ठ, एव पाषाण उद्योग, धातु-उद्योग, सुगंधित पदार्थों का उद्योग, चर्म उद्योग एवं अन्य छोटे उद्योगो के साक्ष्य प्राप्त होने से तत्कालीन समाज मे इन शिल्पियों की अपेक्षाकृत अच्छी स्थिति द्योतित होती है। विभिन्न उद्योगो की अच्छी स्थिति होने के कारण ही इस युग मे व्यापार वाणिज्य की सुदृढ स्थिति जो सम्बद्ध आर्थिक स्थिति का परिचायक है, की जानकारी होती है । इन उद्योगों के व्यवसायी कतिपय वैश्य एव शूद्र जातियो के अतिरिक्त विभिन्न अन्त्यज जातियाँ छिम्पिकथा, रत्नपरीक्षक, कास्यकार, वैद्य, कुम्भकार, लौहकार वेशकार इत्यादि। थी। इनके अतिरिक्त लुब्धक, निषाद, चरवाहा, तैलिक, धीवर, तन्तुवाय इत्यादि भी थे।

राजस्व-व्यवस्था सम्बन्धी अनेक प्रसग **प्रबन्धचिन्तामणि** मे प्राप्त होते है। इसमे धनधान्य पर वसूल किया जाने वाला कर, तीर्थयात्रियो से लिया जाने वाला कर इत्यादि का वर्णन प्राप्त होता है। भूमिकर, कृषिकर, सिंचाई कर, व्यापारिक वस्तुओं पर लगने वाला कर इत्यादि तत्कालीन राजस्व-व्यवस्था के स्रोत थे। व्यापारिक कर के अन्तर्गत पहले आयात निर्यात, चुंगी, शुल्क, हाट्टादिदेय इत्यादि कर थे, परन्तु इस काल में पुराने करों के अतिरिक्त

आगम-निगम-दान, पथकीयक, वणजारिक, दान, मार्गादिदेय, मार्गणक इत्यादि नवीन कर भी लगाए गए। इन करो की वसूली के लिए अक्षपाटलिक, कोष्ठाध्यक्ष, ग्रमपति, पट्टकिल, पथकीयक, भोगपति या भोगिन, शौल्किक होते थे। कभी-कभी बेईमान शासको द्वारा अधिक कर लेने का उल्लेख है। आततायी शासको द्वारा सपत्ति हडपने के भी उल्लेख है। मार्ग मे निर्दयी शासको द्वारा अधिक कर वसूलने एव लूट के भय से साधारण व्यक्ति आम रास्ते छोड देते थे और जगली रास्तो पर चले जाते थे। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि राज्य मे कडाई से नियमो का पालन होता था तथा इस प्रकार समाज मे तथा अर्थ-व्यवस्था मे सतुलन बना रहता था। **प्रबन्धचिन्तामणि** मे इस प्रकार सामाजिक आर्थिक स्थिति पर प्रकाश डाला गया है।

भारतवर्ष मे प्राचीनकाल से ही बहुत से धर्म प्रचलित रहे है। हिन्दू धर्म के अन्तर्गत विभिन्न देवी-देवताओं की उपासना की जाती थी। हिन्दू-धर्म की जटिलताओं के फलस्वरूप बौद्ध एव जैन धर्मों का उदय हुआ। साहित्यक तथा आभिलेखिक प्रमाणो से यह प्रतीत होता है कि ग्यारहवी-बारहवी शताब्दी मे राजस्थान, गुजरात तथा मालवा में जैनधर्म लोकप्रिय था। इस धर्म के कई विभाजन एव उपविभाजन भी हुए। इनमे दिगम्बर तथा श्वेताम्बर प्रमुख थे। कालान्तर मे इसका उपविभाजन गणो, कुलो, शाखा तथा गच्छो मे हुआ। **प्रबन्धचिन्तामणि** मे विभिन्न राजाओं द्वारा जैन धर्म को राजाश्रय प्रदान करने का उल्लेख प्राप्त होता है। चौलुक्य वश के राजाओं द्वारा जैन धर्म को संरक्षण प्राप्त था, जिसकी पुष्टि अन्य साहित्यिक, अभिलेखिक साक्ष्यो से तथा चौलुक्य राजाओं द्वारा निर्मित अनेक मन्दिरों से होती है। यद्यपि ये नरेश जैन धर्मानुयायी थे तथापि वे शैव तथा अन्य धर्म के देवताओं का समान रूप से आदर करते थे। **प्रबन्धचिन्तामणि** के रचयिता आचार्य मेरुतुङ्ग भी जैन धर्मावलम्बी होने के कारण भी जैन धर्म को प्रस्तुत शोध - आधार ग्रन्थ मे महत्वपूर्ण स्थान दिया है।

आलोच्य ग्रन्थ मे शीलगुणसूरि, विमलसूरि, हेमचन्द्र आचार्य, मानतुङ्ग इत्यादि जैन आचार्यों का उल्लेख आया है। चौलुक्यों के अतिरिक्त समकालीन प्रतीहार, चाहमान, चन्देल परमार इत्यादि के वशो के नरेशो ने भी जैन धर्म से प्रभावित होकर जैन मदिरो का निर्माण करवाया तथा उन्हे दान भी दिया । चौलुक्य नरेश कुमारपाल के राज्य में जैन धर्म सर्वाधिक संवर्द्धित एव प्रतिष्ठित हुआ। इसके अतिरिक्त जयसिह सिद्धराज, मन्त्री वस्तुपाल एवं तेजपाल के द्वारा भी जैन धर्म के संवर्द्धन मे महत्वपूर्ण योगदान मिला। कुमारपाल ने आचार्य हेमचन्द्र से प्रभावित होने के कारण बहुश जैन मन्दिरो, विहारो के निर्माण कराने के अतिरिक्त जीव-हत्या सम्बन्धी निषेध आज्ञा लागू किया।

इसकाल मे तीर्थयात्राए प्राय नैतिक उत्थान एव मानसिक शाति के अतिरिक्त सासारिक सुख एव अन्तत

मोक्ष प्राप्ति के लिए भी राजाओं राजाधिकारियों, समृद्धों एवं जन सामान्यों द्वारा की जाती थी। ग्यरहवीं-बारहवीं शताब्दी में राजस्थान तथा गुजरात क्षेत्र में यह धर्म बहुत फूला-फला । इस क्षेत्र में जैन-धर्म की उन्नति का सम्बन्ध मध्यम वर्गीय वैश्य वणिकों तथा व्यापारियों से था, जिसके दो कारण थे, प्रथम यह अहिंसावादी था जिससे व्यापारिक कार्य शांतिपूर्ण ढंग से तथा सुचारु रुप से चलता था; द्वितीयतः इससे उन्हें तत्कालीन समाज में सम्मान प्राप्त हुआ ।

विवेच्यकाल में जैन धर्म में आत्म-शुद्धि एवं आध्यात्मिक-साधना हेतु व्रत किए जाने के विवरण प्राप्त होते हैं। इनमें अष्टाह्निक पूजा, पंचमीव्रत तथा प्रौषधोपवास प्रमुख थे । व्रतों के समापन पर जैन भिक्षु एवं भिक्षुणियों को प्रभूत दान दिया करते थे।

सन्दर्भिका

अभिधानचिन्तामणि	हेमचन्द्र,अभिधान सग्रह मे भाग II, एन० एस० पी० शक 1818 चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी 1964.
अग्नि पुराण	ए० एस० एस० पूना १९०० अनु० एम० एन० दत्त कलकत्ता
अपराजितपृच्छा	भुवनदेव जी ओ० एस० न० CXIV 1950.
अपरार्क की टीका याज्ञवल्क्य स्मृति पर	ए० एस० एस, 2 भाग,पूना 1903, 1904
आदि पुराण	जिनसेन, २ भाग भारतीय ज्ञानपीठ काशी 1951
आपस्तम्ब धर्मसूत्र	चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी
कलाविलास	क्षेमेन्द्र काव्य माला, भाग 1
कर्पूरमञ्जरी	राजशेखर एडि स्टेन नाओ, हरवर्ड युनिवर्सिटी 1901
कथाकोश प्रकरण	जिनेश्वर सूरि, भारतीय विद्या भवन, बाम्बे 1949
कथासरित्सागर	सोमदेव एन० एस० सी०, शक 1811, अनुवाद टॉनी (द ओशियन ऑफ स्टोरीज) जे सायर लिमिटेड लदन, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना (२ वोल्स भाग)
काव्य-मीमांसा	राजशेखर जी० ओ० एस
कीर्तिकौमुदी	सोमेश्वर. एडि० ए० बी० कथवट, गवर्नमेट सेन्ट्रल बुक डिपोट, बाम्बे, 1883.
कृत्यकल्पतरु	लक्ष्मीधर दानकाण्ड (1941), राजधर्मकाण्ड (1943), गृहस्थकाण्ड (1944), व्यवहारकाण्ड (1953), नियतकलाकाण्ड (1950).
कृषि-पराशर	पराशर, एडि० जी० पी० मजूमदार तथा एस- जी- बनर्जी, बी० आई० कलकत्ता 1960.
कुमारपाल चरित	जयसिह एन० एस० पी०, 1926.
कुमारपाल प्रतिबोध	सोमप्रभा. जी० ओ० एस० न० XIV. 1920

कुल्लूकभट्ट मनुस्मृति पर टीका	एसियाटिक सोसाइटी ऑफ बगाल, 1932, अनुवाद जी० एन० झा, कलकत्ता 1922-29.
गृहस्थ रत्नाकर	चण्डेश्वर कलकत्ता, 1928
जैन पुस्तक प्रशस्ति सग्रह	एस जे० जी० न० 18, बाम्बे 1943
थेरवली	मेरुतुङ्ग. जे० बी० बी० आर० ओ० एस० अनु० XXIV भाऊदाजी पृ० 147-158.
दशावतार चरित	क्षेमेन्द्र काव्यमाला, 26 (एन० एस० पी० 1891)
दायभाग	जीमूतवाहन दूसरा एडिन सिद्धेश्वर प्रेस, कलकत्ता 1893.
देशीनाम-माला	हेमचन्द्र, एडि० पिशेल, आर० दूसरा एडि०, बाम्बे संस्कृत सिरीज न० XVII. 1938.
द्वयाश्रयकाव्य	हेमचन्द्र 2 भाग बाम्बे सस्कृत सिरीज, 1915 तथा 1921.
नारदस्मृति	नारद वाराणसी, एडि० जे० जॉली कलकत्ता 1985, अनु० जे जाली आक्सफोर्ड। 1885.
नीतिकल्पतरु	क्षेमेन्द्र, भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना, 1956.
नैषधीयचरित	श्री हर्षः एन० एस० पी०, 1933 अनुवाद हाडीक्वी के० के० द पजाब ओरियन्टल सिरीज न० XXII 1934.
परिशिष्टपर्वन	हेमचन्द्रः एडि एच० जैकोबी, कलकत्ता 1883.
पराशर स्मृति	माधवाचार्य द एसियाटिक सोसाइटी I पार्कस्ट्रीट कलकत्ता, 16.
पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह	एस० जे० सी०, नं० 2, 1936.
प्रबन्धचिन्तामणि	मेरुतुङ्गः एडि० एच० पी० द्विवेदी, एस० जे० जी० नं० III 1940. अनु, टॉनी कलकत्ता, 1901.

प्रबन्धकोश — राजशेखर एस जे० जी०, न० 6 1935.

प्रभावकचरित — प्रभाचन्द्र सूरि एन० एस० पी०, 1909 सिंघी जैन सिरीज, अहमदाबाद, कलकत्ता, 1940.

वृहत्कथामञ्जरी — क्षेमेन्द्र काव्य माला 69, 1901

भोजप्रबन्ध — वेलवेडर प्रेस सस्कृत सिरीज न० 5

महापुराण — जिनसेन

मानसोल्लास — जी० ओ० एस०, 1926 और 1939.

मेधातिथि-मनुस्मृति पर टीका — एडि० जी० एन० झा, एसियाटिक सोसाइटी ऑफ बगाल 1932

मिताक्षरा — विज्ञानेश्वर एन० एस० पी०, बाम्बे, 1909 एस० बी० एच० सिरीज इलाहाबाद 1918

मोहराजपराजय — यशपाल, जी० ओ० एस० न० IX.

युक्तिकल्पतरु — भोज· एडि० ईश्वर चन्द्र शास्त्री, कलकत्ता, 1917.

राजनीतिरत्नाकर — चण्डेश्वर मिश्र एडि० के० पी० जायसवाल, बिहार एण्ड उडीसा रिसर्च सोसाइटी, पटना, 1924.

राजतंरगिणी — कल्हण. एडि० एम० ए० स्टेन, बाम्बे, 1892; आर० एस पडित (द रीवर ऑफ किग्स) इडियन प्रेस इलाहाबाद, 1935 एडि० दुर्गा प्रसाद, बाम्बे, 1892-6; पण्डित पुस्तकालय, काशी, 1960.

लीलावती — भास्कराचार्य, एडि० प० राधाल्लभ, कलकत्ता 1835.

लेखपद्धति — जी० ओ० एस० 1925,एडि० सी० डी० दलाल तथा जी के० श्रीगोंदेकर, बडौदा, 1925.

वैजयन्ती — यादव प्रकाशः एडि० गुस्तव आपर्ट, गवर्नमेट प्रेस, मद्रा, 1893.

वस्तुपालचरित — जिनहर्षगणि जामनगर भाष्करोदय प्रेस।

विक्रमाकदेव चरित — बिल्हण एडि, जी बूहलर, बाम्बे सस्कृत सिरीज, नं० XIV. 1875.

वीरमित्रोदय	मित्रमिश्र 4 भाग चौखम्बा सस्कृत सिरीज बनारस 1913
विष्णु पुराण	गीता प्रेस गोरखपुर एडि० जे० जॉली, कलकत्ता1881.
हलायुद्धकोश	हलायुध हिन्दी समति, सूचना विभाग लखनऊ, 1957, 1967.
समरइचकहा	हरिभद्र सूरि एडि० एच जैकोबी, कलतआ, 1926.
समरागणसूत्रधार	भोज, जी० ओ० एस०, न० XXV. 1924.
स्मृति-चन्द्रिका	देवण्णभट्ट. व्यवहारकाण्ड, एडि० एल० श्री निवासाचार्य, मैसूर, 1914.
स्थविरावली चरित	हेमचन्द, जैकोबी,
सुभाषित रत्नकोषः	एडि० डी० डी० कोशाम्बी एण्ड वी० वी० गोखले, हरवर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1957.
सुकृतसकीर्तन	अरिसिह, एडि० चतुर्विजयमुनि, भावनगर 1917.
सुकृत कीर्तिकल्लोलिनी	पुण्यविजय सूरि
त्रिषष्ठिशाला का पुरुष चरित	हेमचन्द्र, श्री जैन आत्मानन्द शताब्दी सिरीज न० VII (1936) तथा VIII (1950)

विदेशी विवरण

इलियट, एच० एम० एण्ड डाउसन,	द हिस्ट्री ऑफ इण्डिया ऐज टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियन्स, 11 लदन 1866-77; अलीगढ एडिशन ऑफ वो II विद इट्रोडक्शन वाई एम० हबीब, अलीगढ, 1952.
साचऊ, ई० सी०	अल्बेरुनीज इण्डिया, 2 वो०, लदन, 1910
युले, सर हेनरी	द बुक ऑफ सर मर्कोपोलो अनु एण्ड एडि० बाई सर हेनरी युले, 2 वो० लदन 1903; तीसरा एडि० रिवाइज्ड बाई हेनरी कार्डियर 2 वोल्यूमस, लदन, 1920.

अभिलेख

भण्डारकर, डी० आर० — लिस्ट ऑफ इन्सक्रिप्शन्स ऑफ इण्डिया, अपेडिक्स टू ई० आई० xix-xxiii.

मिराशी, वी० वी० — इसक्रिप्सन्स ऑफ द कल्चुरि-चेदि ईरा, c.i. बो0 iv (2भाग)

पीटर्सन, पी० — ए कलेक्शन ऑफ प्राकृत एण्ड संस्कृत इन्सक्रिप्शन्स भावनगर आर्केलजिकल डिपार्टमेट, भाव नगर 1905.

सरकार डी० सी० — सेक्ट इन्सक्रिप्शन्स वियरिग ऑन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड सिविलाइजेशन, वो०, 1 कलकत्ता 1942; दूसरा इडि, कलकत्ता, 1965

मुद्रा

कनिंघम, ए — कॉइन्स ऑफ मेडीवल इण्डिया फ्राम द सेवेन्थ सेन्चुरी डाउन टू द मुहम्मडन कान्क्वेस्ट, लदन, 1894.

गोपाल, एल० — अर्ली मेडिवल कॉइन-टाइप्स ऑफ नार्दन इण्डिया न्यूमिस्मेटिक्स नोट्स एण्ड मोनोग्राफ्स, न० 12

स्मिथ, वी० ए० — कैटेलॉग ऑफ कॉइन्स इन इण्डियन म्यूजियम, कलकत्ता, इन्कलूडिग द कैबिने ऑफ द एसियाटिक सोसाइटी ऑफ बगाल

सहायक ग्रन्थ

अल्तेकर, ए० एस० — द राष्ट्रकूट, एण्ड देअर टाइम्स, पूना, 1934.

उपेन्द्र ठाकुर — कर्रप्शन इन एशयट इण्डिया नई दिल्ली 1979

ओझा, जी० एच० — राजपूताने का इतिहास, खं 1. अजमेर, 1937.

ओम प्रकाश — फूड एड ड्रिंक्स; सामाजिक तथा आर्थिक इतिहास नयी दिल्ली 1986.

क्रूक, डब्लू	ट्राइब्स एण्ड कास्टस ऑफ द नार्द-वेस्टर्न प्राविन्सेज एण्ड अवध, वो II, कलकत्ता, 1896, ए ग्लोसरी ऑफ नार्दन इडियन पीजन्ट लाईफ न्यूयार्क, 1989.
काणे, पी० वी०	हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, 5 वोल्यूम्स, भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, 1930.
कूजन एच०	द आर्कीटेक्चरल एटीक्यूटीज ऑफ वेस्टर्न इडिया
गोपाल, एल०	द इकोनोमिक लाईफ ऑफ नार्दन इडिया, वाराणसी 1965; द आस्पेक्ट्स ऑफ हिस्ट्री ऑफ एग्रीकल्चर इन एश्यट इडिया, वाराणसी 1980
घुर्ये, जी० एस०	कास्ट एण्ड क्लास इन इडिया, दूसरा एडि० बाम्बे, 1957; इडियन कास्ट्यूम बाम्बे, 1966.
घोषाल, यू० एन०	द अग्रेरियन सिस्टम इन एश्येट इडिया, कलकत्ता 1930, कन्ट्रीब्यूशन्स टू द हिस्ट्री ऑफ द हिन्दू रेवेन्यू सिस्टम, कलकत्ता इडियन हिस्ट्री एण्ड 1929; स्टडीजिन कल्चर, ओरियन्ट लागमेन्स दूसरा एडि, 1965.
चौहान,कमल	कल्चरल हिस्ट्री ऑफ नार्दन इडिया, दिल्ली 1988
चौधरी, जी० सी०	पालिटिकल हिस्ट्री ऑफ नार्दन इडिया फ्राम जैन सोर्सेज अमृतसर 1963.
चौधरी, गुलाब चन्द्र	जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, वाराणसी
जॉली, जै०,	हिन्दू लॉ एण्ड कस्टमस, कलकत्ता, 1928.
जैन० बी० के०	ट्रेड एण्ड ट्रेडर्स इन वेस्टर्न इडिया,
टॉड, जेम्स	राजस्थान, वो 1 कलकत्ता, 1877; ट्रैवेल्स इन वेस्टर्न इण्डिया, एसियाटिक सोसाइटी ऑफ बगाल, 1839.
डे० एन० एल०	ज्यौग्रैफिकल डिक्शनरी ऑफ एश्येट एण्ड मेडीवल इंडिया, दिल्ली, 1971 (से० ए०)

त्रिपाठी, आर० एस० — हिस्ट्री ऑफ कन्नौज, बनारस, 1937.

थपलियाल, के० के० — [illegible] इन एश्येट इण्डियन [illegible], 1972, ए स्टडी ऑफ गिल्ड्स आर्गनाइजेशन इन नार्दन इडिया एण्ड वेस्टर्स डकन, 600 ईस्वी पूर्व से 600 ई०, न्यू एज इन्टरनेशनल लिमिटेड पब्लिशर्स, न्यू देहली०1996.

नियोगी, पुष्पा — कन्ट्रीब्यूशन टू द इकोनेमिक हिस्ट्री ऑफ नार्दन इडिया कलकत्ता, 1962.

फोर्ब्स, ए० के० — रासमाला, लदन, 1856, 1878, 1924.

बनर्जी, पी० — ए हिस्ट्री ऑफ इंडियन टैक्सेशन, लदन, 1930

ब्लण्ट — द कास्ट सिस्टम ऑफ नार्दन इडिया (विद स्पेशल रिफ्रेन्स टू युनाइटेड प्राविन्सेज ऑफ आगरा एण्ड अवध), इण्डियन रिप्रिन्ट, एस० चान्द एण्ड कम्पनी, दिल्ली, 1969.

बोस, ए० एन० — सोशल एण्ड रुरल इकानामी ऑफ नार्दन इण्डिया, वो: 11.1945.

ब्यूलर, जी० — लाईफ ऑफ हेमचन्द्र : एस० जे० जी०, x,1936.

भाटिया प्रतिपाल — द परमार, मुशीराम मनोहर लाल नई दिल्ली

भट्टाचार्य, बी० सी० — द जैन आइकनोग्राफी

भट्टाचार्य, एच० डी० — द कल्चरल हेरिटेज ऑफ इण्डिया, वो 111. कलकत्ता 1953. वो iv. 1956.

मजूमदार, ए० के० — चौलुक्याज ऑफ गुजरात, बाम्बे, 1956.

मजूमदार, आर० सी० — कार्पोरेट लाइफ इन एंश्यंट इडिया, कलकत्ता, 1922.

दिल्ली सल्तनत, एंश्येंट इडिया, मोती लाल बनारसी दास, दिल्ली 1977.

मजूमदार, बी० पी० — द सोशियो इकोनोमीहिस्ट्री ऑफ नार्दन इडिया कलकत्ता,1960.

मजूमदार, एम० आर० — कल्चरल हिस्ट्री ऑफ गुजरात, बाम्बे 1965.

मुन्शी, के० एम० — गुजरात एण्ड इट्स लिटरेचर, बाम्बे, 1954, स्ट्रगल फॉर एम्पायर

मोतीचन्द्र	सार्थवाह, भारतीय वेशभूषा, [illegible], पटना, 1953
मिश्रा, डी० पी०	जैन पुराणो की समीक्षा, हिन्दुस्तानी एकेडमी इलाहाबाद
यादव, बी० एन० एस०	सोसाइटी एण्ड कल्चर इन एश्येट इण्डिया इलाहाबाद
राय, पी०सी०	कॉइनेज ऑफ नार्दन इडिया, अभिनव पब्लिकेशन्स, 1980.
रे, एच० सी०	डाइनेस्टिक हिस्ट्री ऑफ नार्दन इडिया, 2 वोल्यू० कलकत्ता 1931 एण्ड 1936.
सरकार, डी० सी०	लैण्डलोर्डिज्म एण्ड टीनेन्सी इन एश्येट एण्ड मेडीवल इण्डिया एज रिवील्ड बाई एपिग्रैफिकल रिकार्ड्स लखनऊ, 1969.
संकलिया, एच० डी०	आर्केलाजी ऑफ गुजरात, बाम्बे, 1941.
शर्मा, बी० एन०	सोशल लाईफ इन नार्दन इडिया, दिल्ली 1966.
शर्मा, आर० एस०	शूद्राज इन एश्येट इण्डिया मोतीलाल बनारसी दास, भारतीय सामतवाद, पर्सपेक्टिव इन सोशल एण्ड इकोनोमिक हिस्ट्री ऑफ अर्ली इण्डिया नई दिल्ली 1983.
शर्मा, दशरथ	राजस्थान थ्रू द एजेज, राजस्थान, 1966
शुक्ला, डी० एन०	उत्तर भारत की राजस्व व्यवस्था एलनगंज इलाहाबाद, 1984.
हट्टन	कास्ट इन इडिया, कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, लदन 1969.
मोनियर विलियम	सस्कृत इंगलिश शब्दकोश, आसफोर्ड 1899. पुनर्मुद्रित, 1976 (दिल्ली).
कामिल बुल्के	हिन्दी इगलिश शब्दकोश

जर्नल्स, पीरियाडिकल्स एण्ड रिपोर्ट्स

एनल्स ऑफ द भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट

एपिग्रैफिया इंण्डिका

इंडियन एंटीक्वेरी

इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टरली

जैन एटीक्यूरी

जर्नल ऑफ इडियन हिस्ट्री

जर्नल ऑफ द एसियाटिक सोसाइटी ऑफ बगाल,

जर्नल ऑफ द बाम्बे हिस्टारिकल सोसाइटी,

जर्नल बाम्बे ब्रान्च ऑफ द रॉयल एसियाटिक सोसाइटी,

आर्केलाजिकल सर्वे ऑफ इडिया।

एनुअल रिपोर्ट ऑफ द डाइरेक्टर जनरल ऑफ आर्केलाजी,

बड़ौदा प्रोग्रेस रिपोर्ट ऑफ और्केलाजिकल सर्वे ऑफ वेस्टर्न सर्किल,

प्रोसीडिंग्स एण्ड ट्रान्जैक्शन्स ऑफ द आल इंडिया ओरियंट, कान्फ्रेस,

जर्नल ऑफ द इंडियन हिस्टारिकल रिव्यू